ग्रंथ-संख्या—२११

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २०१४ वि०
मूल्य ५)

मुद्रक
वि० प्र० ठाकुर,
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

हमारी योजना

'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद् ग्रन्थमाला का नवा ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान-परिषद् हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रंथ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली-विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथ हैं—'हिन्दी काव्यालकार-सूत्र' तथा 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित'। इस वर्ग का तीसरा प्रकाशन 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' आपके सामने प्रस्तुत है। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर मान्य आचार्यों के निबन्ध संकलित हैं, जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, (२) हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश-साहित्य।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्,
दिल्ली-विश्वविद्यालय,
दिल्ली—८

निवेदन

शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र में प्रस्तुत ग्रन्थ हमारा नवीन प्रयास है। अब तक हम भारतीय आचार्यों के सिद्धान्तों का पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में आख्यान अथवा पुनराख्यान करते रहे थे। इस ग्रन्थ में हमने पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आद्याचार्य अरस्तू के सिद्धान्तों की भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में विवेचना की है। हमारे विवेचन का क्रम यह रहा है १—आरम्भ में अरस्तू के अपने शब्दों में सिद्धान्त की व्याख्या, फिर २—अरस्तू के व्याख्याकारों और पश्चिम के अन्य आलोचको के अनुसार उसका विश्लेषण, और अन्त में ३—भारतीय सिद्धान्तों के प्रकाश में आख्यान और परीक्षण। पूर्व और पश्चिम को बलात् मिलाने का प्रयत्न हमने कहीं नहीं किया और न हमारा उसमें विश्वास है, किन्तु भारत और यूरोप के तत्वचिन्तक आचार्यों ने किस प्रकार काव्य की मौलिक समस्याओ के सम-विषम समाधान प्रस्तुत किये हैं, यह अपने-आप में निश्चय ही अनुसन्धान का एक रोचक विषय है। स्वदेश-विदेश के आलोचना-शास्त्र में अधीत भारत का आधुनिक आलोचक विवेक का सबल लेकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है। इसके दो शुभ परिणाम होंगे—एक तो दोनों काव्य-शास्त्रो का सम्यक् अध्ययन हो सकेगा और दूसरे सच्चे अर्थ में संश्लिष्ट वर्तमान आलोचना-शास्त्र का विकास हो सकेगा।

इस ग्रन्थ के दो भाग हैं : एक भूमिका-भाग जो मेरी अपनी कृति है, दूसरा अरस्तू के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पेरि पोइतिकेस' का अनुवाद, जिसमें हमारे विभाग के मेधावी पूर्व-छात्र श्री महेन्द्र चतुर्वेदी एम०ए० ने स्तुत्य सहयोग दिया है। अनुवाद-भाग की पाद-टिप्पणियाँ सब उन्हीं की लिखी हुई हैं। अनुवाद में हमने अरस्तू के प्रख्यात अंग्रेजी अनुवादों और भाष्यों का ही आधार ग्रहण किया है, क्योंकि यूनानी भाषा में हमारी कोई गति नहीं है। हमारे कुछ सदाशय मित्रो ने यह परामर्श दिया था कि मूल ग्रीक से अनुवाद करना अधिक श्रेयस्कर होगा। सलाह नेक थी, किन्तु हमने हिसाब लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि बुचर, बाईवाटर और गिल्बर्ट मरे आदि के समान यूनानी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए कम-से-कम पचास वर्ष का समय अपेक्षित है। इतने बड़े जोखिम को उठाने के लिए हमारे अन्य शुभैषी मित्र तैयार नहीं हुए और अन्त में हमने उनकी ही सलाह मान ली। हो सकता है कि मूल भाषा के ज्ञान के अभाव में यह अनुवाद आदर्श अनुवाद न हो, किन्तु हिन्दी-

जिज्ञासु की परिसीमाओं को देखते हुए इसकी भी थोडी-बहुत उपादेयता की कल्पना कर लेना धृष्टता न होगी।

अनुवाद के अन्तर्गत यूनानी नामों के उच्चारण की समस्या सामने आई। कुछ समय तक हम यह तर्क-वितर्क करते रहे कि इनके अंग्रेजी उच्चारण देना ठीक होगा अथवा मूल यूनानी उच्चारण। इस समस्या का समाधान अन्ततः इतालवी दूतावास के तत्कालीन सांस्कृतिक सहचारी प्रो० गेलान्ते ने किया। उनका दृढ़ उत्तर था— "आप लोगों को अंग्रेजी भाषा के गुण ही ग्रहण करने चाहिए, दुर्गुण नहीं। अंग्रेजी भाषा में विदेशी नामो के उच्चारणो को विकृत कर देने की भयंकर प्रवृत्ति है। इसके विपरीत यूनानी भाषा और संस्कृत दोनों के ध्वनि-नियम अत्यन्त सरल तथा प्रायः परस्पर समान हैं। ऐसी स्थिति में सीधे-सादे यूनानी उच्चारणो को छोडकर अंग्रेजी के विकृत उच्चारणों को ग्रहण करना व्यर्थ है।"—इन 'सीधे-सादे यूनानी उच्चारणों' के प्रत्यंकन और कतिपय ग्रीक उद्धरणों की व्याख्या में हमने प्रो० गेलान्ते को ही प्रमाण माना है। भारत में यूनानी भाषा का उनसे अधिक अधिकारी विद्वान् दुर्लभ था। हम अत्यन्त विनम्रतापूर्वक उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं। यद्यपि नागरी लिपि और मुद्रण की परिसीमाओं के कारण सभी यूनानी नामो का यथावत् अकन सम्भव नहीं हो सका, फिर भी हमने अत्यन्त सावधानता से शुद्ध आलेखन का प्रयत्न किया है और सुविधा के लिए कुछ प्रचलित अंग्रेजी उच्चारण भी कोष्ठक में दे दिये हैं।

२९-४-५७ —नगेन्द्र

हिन्दी-अनुसधान-परिषद्,
दिल्ली-विश्वविद्यालय,
दिल्ली

अनुक्रमणिका

[भूमिका]

[अनुवाद]

अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त

भूमिका

डॉ० नगेन्द्र

पूर्व-पीठिका

जीवन-वृत्त और ग्रन्थ

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का मूल स्रोत है यूनानी ज्ञान-विज्ञान और यूनानी ज्ञान-विज्ञान की मूल प्रेरणा-केन्द्र थी अरस्तू की प्रतिभा। यूनानी भाषा में अरस्तू का वास्तविक नाम है अरिस्तोतेलेस। उनका जन्म ई० पू० ३८४ मे स्तगिरा नगर में हुआ था। उनके पिता निकोमाखस मकेदोनिया के राजा अम्युन्तस द्वितीय के राजवैद्य थे। आरम्भ में बालक अरस्तू की शिक्षा-दीक्षा पिता के निरीक्षण में ही हुई और कदाचित् वे अरस्तू को भी अपने ही व्यवसाय मे दीक्षित करना चाहते थे, किन्तु शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो जाने के कारण अरस्तू का जीवन-मार्ग बदल गया और वे ई० पू० ३६८ के लगभग अथेन्स में आकर प्लेटो (प्लतोन) के प्रसिद्ध विद्यापीठ (अकादमी) मे प्रविष्ट हो गये। प्लेटो का सत्सग-लाभ उन्होने लगभग बीस वर्ष तक किया—उनके चरणो में बैठकर अनेक विद्याओ का विधिवत् अध्ययन एव मनन और बाद मे चलकर कुछ वर्षों तक अध्यापन भी किया। प्लेटो अरस्तू की प्रतिभा से बडे प्रभावित थे और उन्हे 'विद्यापीठ का मस्तिष्क' कहा करते थे। यद्यपि अरस्तू ने प्लेटो के अनेक सिद्धान्तो का दृढतापूर्वक खण्डन किया, फिर भी गुरु-शिष्य के सम्बन्ध प्राय अन्त तक मधुर ही बने रहे। ई० पू० ३४८ के लगभग प्लेटो की मृत्यु के पश्चात् अरस्तू हरमेइअस के निमन्त्रण पर अथेन्स छोडकर चले आये और अस्सौस नगर में उन्होने अकादेमी की एक शाखा स्थापित की। इसी वर्ष उन्होने हरमेइअस की पोष्या कन्या के साथ विवाह किया, जिसके गर्भ से एक पुत्री का जन्म हुआ। दुर्भाग्य-वश अरस्तू की पत्नी का जीवन-काल अत्यन्त सक्षिप्त रहा और उनकी मृत्यु के पश्चात् वे स्तगिरा की एक महिला हेरपीलिस के साथ रहने लगे, जिससे कदाचित् उनका विधिवत् विवाह नही हुआ था। हेरपीलिस से भी अरस्तू के एक ही सन्तान हुई, जिसका नाम था निकोमाखस।

ई० पू० ३४३ मे अरस्तू के भाग्य का सितारा चमका और मकेदोनिया के राजा फिलिप ने उन्हे अपने राजकुमार विश्वविख्यात सिकन्दर महान् का शिक्षक नियुक्त किया। सिहासन पर आरूढ हो जाने के उपरान्त भी सिकन्दर का अरस्तू के साथ सम्बन्ध रहा। एक अनुश्रुति के अनुसार कदाचित् उन्होने

ईलिअद का सम्पादन अपने शिष्य सिकन्दर के लिए किया था। ई० पू० ३३५ में उन्होंने अथेन्स के निकट अपोलो में अपना एक स्वतत्र विद्यापीठ 'ल्युकेउम' नाम से स्थापित किया, जहाँ विद्या के प्राय सभी अग-उपागो का अध्ययन-अध्यापन होता था। अरस्तू की अध्यापन-शैली बडी विचित्र थी—वे प्राय टहलते हुए प्रवचन किया करते थे और इसी आधार पर उनकी शिक्षा-पद्धति का नामकरण भी हुआ है। ई० पू० ३२३ मे बेविलोन में सिकन्दर की मृत्यु हो गई। तभी से अरस्तू के लिए सकट-काल का आरम्भ हुआ। सिकन्दर तथा मकेदोन-राजवश के साथ उनका सम्बन्ध और उनका निर्भीक स्वतत्र जीवन-दर्शन दोनो ही वाधक सिद्ध हुए और यह आशका होने लगी कि कही उनका भाग्य भी सुकरात का जैसा ही न हो, अत अथेन्स से उन्हे प्राण-रक्षा के लिए पलायन करना पडा। अथेन्स छोडते समय उनका यह वाक्य था—मैं अथेन्स इसलिए छोड रहा हूँ कि कही अथेनी जनता दर्शन के विरुद्ध फिर दूसरी वार अपराघ न कर वैठे। लौटने के एक वर्ष वाद ई० पू० ३२२ मे अपनी जन्मभूमि स्तगिरा के निकट खलकिस नामक नगरी में आन्त्र-रोग के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

अरस्तू के व्यक्तित्व के विषय मे वहुत ही कम तथ्य उपलब्ध है। कुछ अनुश्रुतियो के आधार पर उनके जिस चित्र का निर्माण हुआ है, उसके अनुसार वे एक क्षीणकाय पुरुष थे। आँखे छोटी-छोटी थीं और सिर खल्वाट था। वोलने मे शायद वे तुतलाते थे। कुल मिलाकर उनका व्यक्तित्व आकर्षक था और स्वभाव अत्यन्त सवेदनशील। आर्थिक दृष्टि से उनका जीवन सर्वथा सुखी था। अपने विद्यार्थी-जीवन में उन्हे आकर्षक वस्त्र और अलकार धारण करने मे विशेष अभिरुचि थी। दार्शनिको के विरोधी कुछ प्राचीन इतिहासकारो ने उन्हे स्त्रैण और विलासी अकित किया है। वे उपहास-प्रिय और प्रत्युत्पन्नमति थे। जीवन में अभिभावको, आश्रयदाताओ और समर्थ मित्रो का निरन्तर सर-क्षण प्राप्त होने से उनका स्वभाव भीरु, शिथिल-सकल्प और पलायनशील हो गया था, किन्तु उनका हृदय मानवीय गुणो से ओतप्रोत था। अपने रिक्थ-पत्र मे उन्होने जहाँ सभी परिजनो के लिए उचित व्यवस्था की थी, वहाँ दासो के लिए भी वे यह वसीयत छोड गये थे कि उनमे से कुछ को मुक्त कर दिया जाये और कुछ का भरण-पोषण यथावत् होता रहे।

अरस्तू की प्रतिभा वहुमुखी थी। यद्यपि भौतिक विज्ञान—और उसके अन्तर्गत भी प्राणिविज्ञान—ही उनका मुख्य विषय था, तथापि वे अनेक विद्याओ

के आचार्य थे। ज्ञान-विज्ञान का कोई भी ऐसा क्षेत्र न था, जिसे उनकी प्रतिभा का आलोक प्राप्त न हुआ हो। कहते है कि अपने ६२ वर्ष के जीवन में उन्होंने प्राय ४०० ग्रन्थो की रचना की, जिनके विवेच्य विषय है—तर्क-शास्त्र, आधिभौतिक-शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र आदि। साहित्य-शास्त्र से सम्बद्ध उनके दो ग्रन्थ है—भाषण-शास्त्र (तेखनेस रितोरिकेस) और काव्य-शास्त्र (पेरि पोइतिकेस), भाषण-शास्त्र मे भाषण-कला के निमित्त से अन्य विषयो के अतिरिक्त भाषा और भावो का विवेचन किया गया है और काव्य-शास्त्र में काव्य के मौलिक सिद्धान्तो का।

अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त

काव्य की परिभाषा और स्वरूप

अरस्तू ने काव्य की परिभाषा नही की, विवेचन किया है। वैसे तो स्वभाव से तार्किक होने के कारण वे परिभाषा से बचने का प्रयत्न नही करते—वास्तव में परिभापा उनकी विवेचन-शैली का एक अग ही है, फिर भी काव्य का सूत्रवद्ध लक्षण उन्होने कही नही दिया, परन्तु उनके विवेचन के आवार पर प्राय उन्ही के शव्दो मे काव्य-लक्षण का निर्माण और काव्य-स्वरूप का निर्वारण करना कठिन नही होगा।

काव्य एक कला है—काव्य-शास्त्र के आरम्भ में ही अरस्तू ने यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्य एक कला है—'चित्रकार अथवा किसी भी अन्य **कलाकार** की ही तरह कवि अनुकर्त्ता है।' (अ० काव्य-शास्त्र, ६६)

"महाकाव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्रस्तोत्र तथा वशी-वीणा सगीत के अविकाश भेद अपने सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार है। फिर भी तीन वातो मे वे एक दूसरे से भिन्न है—अनुकरण का माव्यम, विषय और विवि अथवा रीनि प्रत्येक में पृथक् होती है।

जिम प्रकार कुछ लोग सचेप्ट शिल्प-विधान अथवा अभ्यास मात्र द्वारा रग-रूप या स्वर के माध्यम से विभिन्न विपयो का अनुकरण अथवा अभिव्यजन करते है, उसी प्रकार **उपयुक्त कलाओं में**, समग्र रूप में, अनुकरण की प्रक्रिया लय, भापा अथवा सामजस्य में से किमी एक या एकाधिक द्वारा सम्पन्न होती है।" (काव्य-शास्त्र, ६)

"कुछ **कलाएँ** ऐमी है, जो उपर्युक्त मभी सावनो का उपयोग करती है—लय, राग और छद सभी का। रौद्रस्तोत्र, गग-प्रवान काव्य, त्रासदी और कामदी इन्ही के अन्तर्गत है।" "अत यह निष्कर्प निकलता है कि (काव्य में) हमे उनका या तो यथार्थ जीवन मे श्रेप्ठतर रूप प्रस्तुत करना होगा, या हीनतर या फिर यथावत् रूप। चित्रकारी में भी यही वात होती है।" (काव्य-शास्त्र, ९)

काव्य-शास्त्र में अन्यत्र भी इस मन्तव्य की पुष्टि की गई है —

"कौशलपूर्ण असत्य भापण की **कला** दूसरे कवियो को सिखाने का श्रेय बहुत-कुछ होमर को ही है।" (काव्य-शास्त्र, ६५)

"· · ·· तो यह स्पष्ट है कि त्रासदी (महाकाव्य की अपेक्षा) उत्कृष्टतर कला है······।" (काव्य-शास्त्र, ७४)

उपर्युक्त उद्धरणो से यह सर्वथा स्पष्ट है कि—

(१) काव्य एक कला है।

(२) एक ओर सगीत, चित्र आदि (ललित) कलाएं और दूसरी ओर महाकाव्य, त्रासदी आदि काव्य-कला के विभिन्न रूप अनुकरण के ही प्रकार हैं, अर्थात् समस्त कलाओ का मूल तत्त्व एक ही है—अनुकरण।

(३) इस प्रकार कला जाति है और काव्य प्रजाति, जिसके महाकाव्य त्रासदी आदि व्यष्टि-भेद हैं ।

(४) इन भेद-प्रभेदो के आधार तीन है—विषय, माध्यम और रीति।

काव्य की आत्मा

उपर्युक्त स्थापना के अनुसार अन्य कला-रूपो की भांति काव्य की आत्मा है—अनुकरण। अनुकरण यूनानी काव्य-शास्त्र का विशिष्ट शब्द है, जिसकी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

अनुकरण-सिद्धान्त

अनुकरण यूनानी शब्द 'मीमेसिस' के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। हिन्दी में वास्तव मे यह अंगरेज़ी शब्द 'इमीटेशन' का रूपान्तर होकर आया है। यूनानी भाषा में कला के प्रसग में अनुकरण का व्यवहार अरस्तू का मौलिक प्रयोग नही है—अरस्तू से पूर्व प्लेटो इसी के आधार पर काव्य का तिरस्कार कर चुके थे। उनका आरोप था कि एक तो भौतिक पदार्थ स्वय ही सत्य की अनुकृति है—और फिर काव्य तो इन भौतिक पदार्थो की भी अनुकृति होता है। अतएव, अनुकरण का भी अनुकरण होने के कारण वह और भी त्याज्य है। इस प्रकार प्लेटो और प्लेटो के भी पूर्ववर्ती यवन आचार्यो ने अनुकरण शब्द का प्रयोग स्थूल अर्थ में, नकल या यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में किया है। उनके अनुसार विभिन्न कलाकार अपने-अपने माध्यम-उपकरणो के अनुसार भौतिक जीवन और जगत का अनुकरण करते है—चित्रकार रूप और रग के द्वारा, अभिनेता वेशभूषा, आगिक चेष्टा तथा वाणी आदि के द्वारा और कवि भाषा द्वारा। अरस्तू ने इसी प्रचलित शब्द को ग्रहण किया, किन्तु उसमें नया अर्थ भर दिया।

यद्यपि अरस्तू के विभिन्न टीकाकार तथा व्याख्याता भी उनके प्रयोग की अपने-अपने ढग से व्याख्या करते है, फिर भी एक बात में सभी सहमत हैं और वह यह कि अरस्तू ने अनुकरण शब्द का प्रयोग प्लेटो आदि की भाँति स्थूल—यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में नही किया। बुचर के अनुसार अरस्तू के 'अनुकरण' शब्द का अर्थ है 'सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन—साकेतिक उल्लेखन नही।[१] 'कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन, जैसा वह होता है वैसा नही, वरन् जैसा वह इन्द्रियों को प्रतीत होता है वैसा करती है। कला का सवेदन तत्त्वग्राहिणी बुद्धि के प्रति नही, वरन् भावुकता तथा मन की मूर्ति-विधायिनी शक्ति के प्रति होता है।'[२] प्रो० गिल्बर्ट मरे ने यूनानी शब्द 'पोएतेम' (= कर्त्ता/रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण शब्द की व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या प्रस्तुत की है 'यदि यह देखकर आश्चर्य हो कि अरस्तू और उससे पहले प्लेटो को कला के सम्बन्ध में अनुकरण-सिद्धान्त के प्रति इतना आग्रह क्यो था, तो हमें इस तथ्य से सहायता मिल सकती है कि जन-साधारण की भाषा में कला के लिए 'रचना या करण' शब्द का प्रयोग होता था, जब कि स्पष्टत यह प्रकृत अर्थ में रचना नही थी। 'ट्राय-पतन' के 'कर्त्ता या रचयिता' ने वास्तविक 'ट्राय-पतन' की रचना नही की थी। उसने तो अनुकृत 'ट्राय-पतन' की रचना की थी, (अर्थात् कवि ट्राय-पतन का कर्त्ता नही, अनुकर्त्ता ही था)।[३] और स्पष्ट शब्दो मे प्रो० मरे का मत है कि कवि शब्द के यूनानी पर्याय मे ही अनुकरण की धारणा निहित थी, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नही था।[†] अरस्तू के आधुनिक टीकाकार पाट्स ने अनुकरण का अर्थ इस प्रकार किया है—अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय है ऐसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। पाट्स के अनुसार वास्तव मे, अनुकरण का अर्थ है—आत्माभिव्यजन से भिन्न, जीवन (की अनुभूति) का पुन सृजन।[४] इन टीकाकारो के अतिरिक्त अन्य समीक्षको ने भी प्राय ऐसी ही व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। एटकिन्स के मत से अनुकरण 'सृजनात्मक दर्शन की क्रिया'

१—अरिस्टोटिल्स थिअरी आफ पोइट्री एंड फाइन आर्ट, पृ० ११८

२—वही, पृ० १२०

३—एरिस्टोटिल ऑन दी थिअरी आफ पोइट्री—प्रिफेस, पृ० ८

†—वही पृ० ९

यह सदा स्वीकार होता रहा है। बेन जॉनसन, ड्राइडन, मैथ्यू आरनल्ड और टी० एस० इलियट प्रभृति शास्त्रवादी आलोचक अपने-अपने ढंग से इसी का आख्यान करते रहे हैं, किन्तु आभिजात्यवाद कला-दर्शन का एक पक्ष है, उसमें भिन्न कला का रोमानी पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। विश्व-साहित्य का पर्याप्त अंश—प्रायः समस्त गीतिकाव्य—रम्याद्भुत कला के ही अन्तर्गत आता है। अतः प्रश्न यह है कि अनुकरण सिद्धान्त की व्याप्ति वहाँ तक है या नहीं? गीति-काव्य की वैयक्तिक अनुभूतियों का उद्गीथ अनुकरण की परिधि में कैसे आ सकता है? वास्तव में अरस्तू के विवेचन में गीति-काव्य को प्रायः उपेक्षित ही कर दिया गया है, गीत को उन्होंने काव्य का अलंकार-मात्र माना है—व्यक्तिपरक गीतिकाव्य को उन्होंने काव्य-भेदों में गणना तक नहीं की, विवेचना का आधार मानना तो दूर रहा, अतएव उनके सामने यह बाधा ही नहीं आई होगी। उन्होंने जिन विषयों को अपने विवेचन का आधार बनाया है, वे सभी अनुकार्य हैं—चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, किन्तु हैं सभी परस्थ। अर्थात् अनुकर्त्ता से बाहर उनकी स्थिति है, अतः वह ऐन्द्रिय ज्ञान, कल्पना, संवेदन-शक्ति तथा बुद्धिगम्य अनुमान-प्रमाण आदि के आधार पर उनका अनुकरण कर सकता है। अरस्तू की व्यावहारिक बुद्धि के लिए यह तर्क-पद्धति सहज-ग्राह्य थी और आज भी इसे ग्रहण करने में विशेष बाधा नहीं है, परन्तु आत्मस्थ अनुभूतियों के अभिव्यंजन के लिए 'अनुकरण' शब्द कैसे ग्राह्य हो सकता है? यहाँ भी अरस्तू का पक्षपाती यह उत्तर दे सकता है कि जिस प्रकार त्रासदी आदि में दूसरे की अनुभूतियों का अनुकरण सम्भव है, उसी प्रकार प्रगीतकाव्य में अपनी अनुभूतियों का। परन्तु, इस तर्क में निहित हेत्वाभास स्पष्ट है अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति से पूर्व संवेदन के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है—जब वह स्वयं अभिव्यक्ति-रूप है, तब उसके अनुकरण का प्रश्न ही कहाँ रहा! यहाँ फिर यह कहा जा सकता है कि उस मूल अभिव्यक्ति को भी तो उचित शब्द-विधान तथा लय आदि के द्वारा मूर्तरूप में प्रस्तुत करना होता है—यही अनुकरण है, परन्तु वास्तव में यह तो गौण प्रक्रिया है—कला का प्राण तो उसी अभिव्यक्तिरूपिणी मूल अनुभूति या सहजानुभूति में ही निहित है। इस प्रकार अनुकरण शब्द का इतना अर्थ-विस्तार सम्भव नहीं है कि गीतिकाव्य को यथावत् उसकी परिधि में अन्तर्भूत किया जा सके। और यह उसकी परिसीमा है।

अनुकरण-सिद्धान्त का क्रोचे के सहजानुभूति-सिद्धान्त से साक्षात् विरोध है। क्रोचे के मतानुसार कला मूलतः सहजानुभूति है, जो अभिव्यक्ति से अभिन्न

है। कला का मूलरूप कलाकार के मानस में घटित होता है—रंग-रेखा, शब्द-लय आदि में उसका अनुकरण सर्वथा आनुषंगिक घटना है। इस प्रकार अरस्तू का अनुकरण क्रोचे के सिद्धान्त के अनुसार कला-सृजन के प्रसंग में केवल आनुषंगिक प्रक्रिया मात्र रह जाता है। यहाँ भी अरस्तू का समर्थक यह तर्क कर सकता है कि अनुकरण शब्द में क्रोचे की सहजानुभूति की अंतरंग प्रक्रिया भी तो आ सकती है। किन्तु वह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनुकरण में किसी भी प्रकार सहजानुभूति का समावेश नहीं हो सकता—अनुकरण में अनु (पश्चात्) अर्थात् काल-क्रम की धारणा प्रकृत्या अन्तर्भूत है, जब कि सहजानुभूति में अनुभूति और अभिव्यक्ति की अभिन्न स्थिति रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रोचे के अनुसार काव्य-कला का जो मौलिक रूप है, वह अनुकरण का विषय नहीं हो सकता, और उसका, मूर्त रूप, जो अनुकरण का विषय है, क्रोचे के अनुसार सर्वथा आनुषंगिक है। अतः जिस अंश तक क्रोचे का 'सहजानुभूति-सिद्धान्त' मान्य है, उसी अंश तक अरस्तू का 'अनुकरण-सिद्धान्त' अमान्य है।

भारतीय काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए अनुकरण शब्द नया नहीं है। आद्याचार्य भरत ने ही नाटक को 'लोकस्वभाव का अनुकरण' या 'लोकवृत्त का अनुकरण' माना है—'लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्वमीप्सितम्।'[१] 'लोकवृत्तानुकरणं शास्त्रमेतन्मया कृतम्।'[२] स्वभाव तथा वृत्त शब्दों का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया गया है, इसके अन्तर्गत लोक-जीवन के समस्त अन्तर्बाह्य रूपों का—वेश-भूषा, कार्य-व्यापार, वाणी-व्यवहार, भावादि सभी का समावेश है। भरत ने विस्तार से रंगमंच पर इनके अनुकरण का विधान किया है—नाट्य-शास्त्र में केवल वेशभूषा, क्रिया-कलाप आदि बाह्य रूपों का ही नहीं—नाना अनुभावों के द्वारा स्थायी, संचारी आदि मानसिक विकारों के अभिनय का भी सूक्ष्म विधान है। परन्तु वास्तव में यहाँ अनुकरण से अभिप्राय प्रायः अभिनय का ही है, जैसा भरत के अनुयायी धनंजय ने अपने दशरूपक में और भी स्पष्ट कर दिया है—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

'काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।'—अर्थात् अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। जहाँ काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त प्रकृति के

१—नाट्य-शास्त्र (काव्यमाला), पृ० १३०

२—नाट्य-शास्त्र (काव्यमाला)।

रूप मे अनुकार्य रामादि में रस-रूप मे परिणत हो जाता है—साथ ही नट मे भी उसका आभास प्राप्त होता है, क्योंकि वह रामादि के रूप का अपने ऊपर यथावत् आरोप कर लेता है। प्राय यही मत थोडे-से सशोधन के साथ काव्य-प्रकाश की टीका काव्य-प्रदीप में उद्धृत किया गया है।

अभिनवगुप्त ने भी अभिनव-भारती मे 'अनुकार' (अनुकरण) शब्द का प्रयोग नट-कर्म के लिए ही किया है—'नहि नटो रामसादृश्य स्वात्मन शोक करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावेनाननुकारत्वात्।' (अभिनव-भारती पृ० ३७)।

इस प्रकार इन उद्धरणो में रामादि के लिए अनुकार्य, अभिनेता के लिए अनुकर्त्ता और अभिनय के लिए अनुकरण शब्द का प्रयोग है। विश्वनाथ आदि ने इस तथ्य को सर्वथा स्पष्ट करते हुए लिखा है —

(१) अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्। ३।४८।

* * *

अनुकर्तृगतत्वच अस्य निरस्यति। (वृत्ति)

अर्थात् रामादि अनुकार्य की रति आदि का उद्बोध रस नही हो सकता। अनुकर्त्ता नट मे रस की स्थिति का निराकरण करते है। इनका तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ रगमच के प्रयोग-विज्ञान को ही अनुकरण कहा गया है, कवि-व्यापार को नही। हाँ, नाटक मे अनुकरण का प्राधान्य अवश्य माना गया है। मेरा विश्वास है कि आदिम यवनाचार्यों ने भी इस स्वत स्पष्ट तथ्य को मौलिक रूप से यथावत् ग्रहण किया था और इसी के आधार पर वहाँ काव्य के विषय में अनुकरण-सिद्धान्त का जन्म हुआ था।

प्रस्तुत प्रसग में एक शका कई बार मेरे मन में उठी है क्या उपर्युक्त उद्धरणो में—विशेष रूप से भरत के सूत्र तथा लोल्लट की व्याख्या में अनुकरण शब्द की व्याप्ति नाटक के समग्र रूप तक, अर्थात् अभिनेय के अतिरिक्त काव्य-रूप तक, नही है? भरत जब यह कहते हैं कि नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण है, तब लोक-स्वभाव का अर्थ वास्तविक लोक-स्वभाव माना जाये या कवि-निबद्ध लोक-स्वभाव? यदि नाटक में वास्तविक लोक-स्वभाव का अनुकरण अभीष्ट है, तो उसका अनुकर्त्ता तो कवि ही हो सकता है, नट नहीं, किन्तु इस तर्क में शक्ति नही है, भरत का मत स्पष्ट है। नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण तो करता है, परन्तु लोक-स्वभाव का अर्थ कवि-निबद्ध लोक-स्वभाव का ही है। वास्तविक लोक-स्वभाव का सम्बन्ध तो कवि से है, किन्तु

रूप मे अनुकार्य रामादि में रस-रूप मे परिणत हो जाता है—साथ ही नट मे भी उसका आभास प्राप्त होता है, क्योंकि वह रामादि के रूप का अपने ऊपर यथावत् आरोप कर लेता है। प्राय यही मत थोडे-से सशोधन के साथ काव्य-प्रकाश की टीका काव्य-प्रदीप में उद्धृत किया गया है।

अभिनवगुप्त ने भी अभिनव-भारती में 'अनुकार' (अनुकरण) शब्द का प्रयोग नट-कर्म के लिए ही किया है—'नहि नटो रामसादृश्य स्वात्मन शोक करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावेनाननुकारत्वात्।' (अभिनव-भारती पृ० ३७)।

इस प्रकार इन उद्धरणो में रामादि के लिए अनुकार्य, अभिनेता के लिए अनुकर्त्ता और अभिनय के लिए अनुकरण शब्द का प्रयोग है। विश्वनाथ आदि ने इस तथ्य को सर्वथा स्पष्ट करते हुए लिखा है —

(१) अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्। ३।४८।

* * *

अनुकर्तृगतत्वच अस्य निरस्यति। (वृत्ति)

अर्थात् रामादि अनुकार्य की रति आदि का उद्बोध रस नही हो सकता । अनुकर्त्ता नट मे रस की स्थिति का निराकरण करते है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ रगमच के प्रयोग-विज्ञान को ही अनुकरण कहा गया है, कवि-व्यापार को नही। हाँ, नाटक में अनुकरण का प्राधान्य अवश्य माना गया है। मेरा विश्वास है कि आदिम यवनाचार्यों ने भी इस स्वत स्पष्ट तथ्य को मौलिक रूप से यथावत् ग्रहण किया था और इसी के आधार पर वहाँ काव्य के विषय में अनुकरण-सिद्धान्त का जन्म हुआ था।

प्रस्तुत प्रसग में एक शका कई बार मेरे मन मे उठी है क्या उपर्युक्त उद्धरणो में—विशेष रूप से भरत के सूत्र तथा लोल्लट की व्याख्या में अनुकरण शब्द की व्याप्ति नाटक के समग्र रूप तक, अर्थात् अभिनेय के अतिरिक्त काव्य-रूप तक, नही है? भरत जब यह कहते हैं कि नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण है, तब लोक-स्वभाव का अर्थ वास्तविक लोक-स्वभाव माना जाये या कवि-निबद्ध लोक-स्वभाव? यदि नाटक मे वास्तविक लोक-स्वभाव का अनुकरण अभीष्ट है, तो उसका अनुकर्त्ता तो कवि ही हो सकता है, नट नही, किन्तु इस तर्क में शक्ति नही है, भरत का मत स्पष्ट है। नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण तो करता है, परन्तु लोक-स्वभाव का अर्थ कवि-निबद्ध लोक-स्वभाव का ही है। वास्तविक लोक-स्वभाव का सम्बन्ध तो कवि से है, किन्तु

कवि उसका निवन्धन करता है—विधान करता है, अनुकरण नही। भट्ट लोल्लट के उद्धरण से भी यह शका उठती है कि जव अनुकार्य रामादि लौकिक व्यक्ति हैं, तो उनका अनुकर्त्ता तो कवि ही हो सकता है—नट कैसे हो सकता है? परन्तु इसका समाधान भी कठिन नही है। वास्तव मे लोल्लट लौकिक व्यक्ति और कवि-निवद्ध पात्र का अथवा कवि और अभिनेता का भेद स्पष्ट नही कर पाये हैं। मूल व्यक्ति को अनुकार्य मानकर भी वे अनुकर्त्ता नट को ही मानते है। इन दोनो मान्यताओ मे असगति है, परन्तु वह लोल्लट के सिद्धान्त का दोष है—उससे कवि का अनुकर्तृत्व सिद्ध नही होता। जैसा आगे चलकर भट्ट नायक आदि ने स्पष्ट किया है, कवि लोक-स्वभाव अर्थात् लौकिक व्यक्तियो तथा घटनाओ का अनुकरण नही करता, वह तो विशेष का साधारणीकरण करता हुआ उनकी काव्यात्मक प्रस्तुति (निवन्धन) करता है—जिसका कुशल अभिनेता रगमच पर 'अनुकरण' करता है।

अत यह सिद्ध है कि भारतीय काव्य-शास्त्र मे कवि-कर्म के लिए अनुकरण शब्द का प्रयोग नही हुआ है। और, इसका कारण सर्वथा स्पष्ट है—यहाँ काव्य को दिव्य प्रतिभाजन्य अलौकिक सिद्धि माना गया है, कला नही। काव्य विद्या है—वरन् विद्याओ में भी श्रेष्ठ है, किन्तु अभिनय-कला उपविद्या है। भारतीय आचार्य का स्पष्ट मत है —

> **अत अभिनेतृभ्य. कवीन् एव बहु मन्यामहे,**
> **अभिनयेभ्य काव्यमेवेति।**

अर्थात्—अभिनेताओ की अपेक्षा हम कवियो को वडा मानते हैं और अभिनय की अपेक्षा काव्य को। (भोज-शृगारप्रकाश)[1]

काव्य की इसी बहु-मान्यता के कारण उसने 'अनुकरण' जैसे हीन शब्द का प्रयोग काव्य के लिए नही अपितु कला (अभिनय, नृत्त, चित्र आदि) के लिए किया है—यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता। (चित्रसूत्र) काव्य के लिए स्वभावत हमारे काव्य-शास्त्र में सम्भ्रान्त शब्दावली का प्रयोग है।

भामह —

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च

१—डा० राघवन के ग्रन्थ 'भोज का शृगार-प्रकाश' (अँगरेजी), पृ० ८० पर उद्धृत।

प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य-निवन्धनम् ।

(काव्यालकार—१।२)

सुन्दर काव्य-निवन्धन से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि, कलाओ में नैपुण्य, आनन्द और कीर्ति की उपलब्धि होती है।

भट्टतौत—नानृषि कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कवि. ।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुति. ।।[1]

सका साराश यह है कि कविकर्म में दर्शन और वर्णन दोनो का समन्वय रहता है—दर्शन का अर्थ है वस्तु के विचित्र भाव को, अन्तर्निहित धर्म को, तत्त्व-रूप से देखना, और वर्णन का अर्थ है उसे शब्द-रूप में प्रकट करना।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुण. कवि. ।

नवनव उन्मेष करने वाली प्रज्ञा का नाम है प्रतिभा और ऐसी प्रतिभा से अनुप्राणित मजीव वर्णना में निपुण व्यक्ति का नाम है कवि। (भट्ट-तौत के काव्यकौतुक का उद्धरण)।[2]

भट्ट नायक—भट्ट नायक ने काव्य की तीन शक्तियाँ मानी हैं अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। निष्कर्षत ये कवि की ही शक्तियाँ है और कवि-कर्म इन्ही में निहित है, क्योकि निर्जीव काव्य में भावक या भोजक का कर्तृत्व कैसे हो मकता है? कवि-कर्म के तीन अग है—अर्थ-ग्रहण कराना, भावन कराना अर्थात् साधारण भाव-मूर्ति की स्फुरणा, और आस्वाद या आनन्द की प्रतीति कराना। इन अगो का विश्लेपण करने पर इन तीनो में भावन ही वास्तविक कवि-कर्म सिद्ध होता है क्योकि पहला अर्थात् अभिधान तो केवल आधार मात्र है जो वाणी के सभी रूपो मे सामान्य है और तीसरा अथवा भोजकत्व परिणाम है। अतएव भट्ट नायक के मत से काव्य मूलत **भावन-व्यापार** है।

१—हेमचन्द्र काव्यानुशासन, पृ० ३१६ पर उद्धृत (देखिए—भारतीय काव्य-शास्त्र—प० वलदेव उपाध्याय, पृ० २९७)।

२—हेमचन्द्र के काव्यानुशासन, पृ० ३ पर उद्धृत।

अभिनवगुप्त —

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा । तस्या. विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्य-काव्यनिर्माणक्षमत्वम् ।

ध्वन्यालोक (लोचन, पृ० २९)

अर्थात् अपूर्ववस्तु-निर्माण की शक्ति का नाम है प्रज्ञा । उसका विशेष रूप है प्रतिभा, जिसका अर्थ है रसावेश की विशदता तथा सुन्दरता से अनुप्रेरित काव्य-**निर्माण** की शक्ति । अभिनवगुप्त का प्रसिद्ध सिद्धान्त है—अभिव्यक्ति-वाद , जिसके अनुसार काव्य में व्यजना-शक्ति के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। परिणामत अभिनव के मत से काव्य **व्यजना-व्यापार** है। इस प्रकार अभिनव ने कवि-कर्म के लिए **'काव्य-निर्माण'** और **'व्यजना-व्यापार'** शब्दो का प्रयोग किया है।

मम्मट —

नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती कवेर्भारती जयति ॥

का० प्र० १।१

कवि की उस कविता-सरस्वती की जय हो, जिसकी (**निर्मिति**[1]) रूपरेखा नियति के नियत्रण से सर्वथा उन्मुक्त, एकमात्र आनन्दमय अथवा आनन्दप्रचुर, अपने अतिरिक्त अन्य समस्त कारण-कलाप की अधीनता के परे, वस्तुत अलौकिक रस से भरी और नितात मनोहर हुआ करती है।

इसी मगल-श्लोक की वृत्ति में मम्मट ने कविता को '**कविवाङ्निर्मिति**' कहा है।

जगन्नाथ —

रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम् ।—अर्थात् काव्य रमणीय अर्थ का शाब्दिक प्रतिपादन है ।

(१) अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापति ।
यथास्मै रोचते विश्व तथेदं परिवर्तते । (अग्नि पु०)

१—श्लोक का मूल शब्द ।

इस अपार-काव्य ससार में कवि ही प्रजापति है, जैसा उसको रुचता है वैसा ही रूप वह इसको दे देता है ।

(२) न कवेर्वर्णनं मिथ्या कवि. सृष्टिकर पर. ।

कवि दूसरा सृष्टिकर्ता है—उसका वर्णन मिथ्या नही होता ।

(३) क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधि ।

काव्य-करण विधि का नाम क्रिया-कल्प है ।

विवेचन

उपर्युक्त उद्धरणो में काव्य के लिए दो प्रकार के शब्दो का प्रयोग हुआ है—(१) सामान्य, जिनमें काव्य के स्वरूप का कथन मात्र है , और (२) शास्त्रीय, जिनमें काव्य-स्वरूप का विवेचन है । करण, निर्माण या निर्मिति, सृष्टि अथवा सृजन, निबन्धन, वर्णना तथा प्रतिपादन सामान्य विशेषण है और 'दर्शन-वर्णन का समन्वय', 'भावन' तथा 'व्यजना' शास्त्रीय है । इन दोनो प्रकार के विशेषणो में एक बात तो यह समान है कि काव्य में कवि का कर्तृत्व ही स्वीकार किया गया है, अनुकर्तृत्व नही—कवि-प्रतिभा **कारयित्री है ; अनुकारयित्री नहीं—काव्य करण है, अनुकरण नहीं है**—वह नवनिर्माण है, सृजन है, जिसमें कवि यथारुचि विश्व-रूपो में परिवर्तन कर सकता है । निबन्धन, वर्णन तथा प्रतिपादन शब्दो का सम्बन्ध रचना से है । निबन्धन का साधारण अर्थ है सुन्दर रीति से बांधना । भामह की कारिका में इसका अर्थ है—शब्द-अर्थ का सुन्दर रीति से नियोजन । आगे चलकर इसका अर्थ और व्यापक हो गया और शब्द-अर्थ के स्थान पर विभावादि के नियोजन के लिए इसका प्रयोग होने लगा । उदाहरणार्थ—'कवि-निबद्ध पात्र' आदि मे यही रूप मिलता है । 'वस्तु का काव्यगत रूप ही विभाव है'—इस सूत्र के अनुसार विभावादि के नियोजन का अर्थ हुआ—वस्तु की काव्यरूप में प्रस्तुति।[१] अतएव निबन्धन का व्यापक अर्थ यही है । वर्णन अथवा वर्णना का अर्थ है शब्दो के द्वारा चित्रित करना । प्रतिपादन से पण्डितराज का अभिप्राय है रमणीय अर्थ को शब्दो द्वारा प्रस्थापना अथवा प्रस्तुति । 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' मे शास्त्रकार का वास्त-

---

१—काव्य-दर्पण—(रामदहिन मिश्र), पृ० ४९
पोइटिक रिप्रेजेन्टेशन

विक आशय यह है कि काव्य-रचना में कवि अर्थ में रमणीयता का समावेश कर उसे शब्द-रूप में प्रस्तुत करता है , अर्थात् कवि का दुहरा कर्म है—अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करना और उसे शब्द रूप में प्रस्तुत करना। भट्टतौत के 'दर्शनाद् वर्णनाच्च' का भी मूल भाव यही है—दर्शन का अर्थ है वस्तु के विचित्र भाव का साक्षात्कार , यही रमणीय अर्थ है, और वर्णन का अर्थ है शब्द द्वारा प्रस्तुति । उधर भट्ट नायक का भावन-व्यापार और अभिनवगुप्त का व्यजना-व्यापार भी प्राय इससे भिन्न नही है । भावन या भावकत्व का अर्थ भी यही है कि काव्य में कवि की प्रतिभा के चमत्कार से वस्तु का विशिष्ट, इद्रिय-गोचर, स्थूल रूप तिरोहित हो जाता है और सामान्य अर्थात सर्वग्राह्य, सूक्ष्म, हृदय-गोचर (सहृदय-सवेद्य) रूप उभर आता है । अभिनवगुप्त ने भावकत्व का खण्डन करते हुए इसे ही व्यजना-व्यापार कहा है । व्यजना का अर्थ है विशेष रूप से अजना—अप्रकट को प्रकट करना—अर्थात् वस्तु के अप्रकट मर्म-रूप को विशेष आकर्षक रीति से प्रकट करना । शब्द में इस प्रकार की शक्ति स्वभाव से निहित है, रसावेश द्वारा अनुप्रेरित अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रतिभा के बल पर कवि इस शक्ति का पूर्ण उपयोग करता हुआ काव्य में वस्तुओ के मर्म को आकर्षक रीति से उद्घाटित करता है—यही कवि-कर्म है । सार रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय काव्य-शास्त्र में कवि के कर्तृत्व के दो पक्ष माने गये हैं—(१) अन्तरग पक्ष—वस्तु के मर्म का दर्शन, (२) बहि-रग पक्ष—उसे शब्दो में प्रस्तुत करना । इन दोनो का भेद केवल व्यावहारिक ही है तत्त्व दृष्टि से दोनो अभिन्न रूप से समन्वित है , अर्थात् काव्य—इन दोनो की समन्वित क्रिया का ही नाम है, वह अनुकृति नही है—न शाब्दिक अर्थ में और न तात्त्विक अर्थ में ।

परन्तु यह तो अरस्तू भी नही कहते। पहले तो शब्द के विषय में भी विद्वानों को यह आपत्ति है कि अरस्तू के मीमेसिस शब्द का अर्थ अनुकरण नही है , परन्तु यदि शब्द को सदोष मान भी लिया जाये, तो भी उनका आशय तो साधु है । यह निर्विवाद है कि वे काव्य को वस्तु का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण या पुन सृजन ही मानते हैं, स्थूल प्रतिरूपण नही । इस दृष्टि से अरस्तू का मत भारतीय आचार्यों के मत से प्राय अभिन्न है । भारतीय आचार्यों के मत से काव्य सृजन है , किन्तु सृजन का अर्थ अभूत वस्तु का उत्पादन न होकर विद्यमान वस्तु के मर्म का प्रकाशन है। वस्तु के अन्तर्बाह्य अगो का यथावत् ग्रहण अनुकरण है। भामह ने इसे वार्ता मात्र अर्थात् अकाव्य माना है .—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दु. यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं ? वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

का० २, ८६

अर्थात्—सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा का उदय हो गया है, पक्षिगण अपने-अपने नीडो को लौट रहे हैं इत्यादि—यह क्या कोई काव्य है ? इसको वार्ता कहते है ।

आनन्दवर्धन आदि ने इसे इतिवृत्त-वर्णन कहा है और अकाव्योचित माना है—

न हि कवे. इतिवृत्तमात्रनिर्वहेण किंचित् प्रयोजनम् ।

हिन्दी ध्वन्यालोक ३।१४ पृ० २६४ ।

इसका दूसरा सीमान्त है आमूल उत्पादन—अर्थात् अभूत वस्तु का सृजन । किन्तु हमारे काव्य-शास्त्र में इसको भी काव्य में महत्त्व नही दिया गया । कुन्तक का स्पष्ट मत है—यत्र वर्ण्यमानस्वरूपा पदार्था. कविभिरभूता. सन्त. क्रियन्ते । (हिन्दी व० जी० पृ० ३०५)—अर्थात् कवि वर्ण्यमान अभूत (अविद्यमान) पदार्थो की सृष्टि नही करते हैं । काव्य में आहार्य या उत्पाद्य वस्तु का महत्व अवश्य है , परन्तु यह आहरण या उत्पादन निरकुश नही होता—अपने आहार्य रूप में भी वह अस्वाभाविक नही होता —

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहित यस्मात् निरुपाख्य प्रसज्यते ॥

हिन्दी व० जी०, १,१२ ।

—स्वभाव के विना वस्तु का वर्णन ही सम्भव नही है, क्योकि स्वभाव से रहित वस्तु तुच्छ असत्कल्प हो जाती है । इन दोनो का मध्यवर्ती एक तीसरा सुन्दर मार्ग है, जिसे अभिनवगुप्त ने व्यजना-व्यापार कहा है । यही वास्तविक कवि-कर्म है । भारतीय काव्य-शास्त्र के तत्त्व-निरूपक सभी आचार्यो ने इसी को शब्द-भेद से स्वीकार किया है । भट्टतौत ने इसे ' दर्शन और वर्णन का समन्वय ', भट्ट नायक ने ' भावन-व्यापार ', कुन्तक ने ' अतिशय का आधान '[1] और महिम भट्ट ने विशिष्ट, (कवि-प्रतिभा-गोचर) रूप का उद्घाटन[2] कहा है । शब्दावली कुछ

१—केवल सत्तामात्रेण परिस्फुरता चैपा कोऽप्यतिशय पुनराधीयते ।

हिन्दी व० जी०, पृ० ३०६

२—विशिष्टमस्य यद्रूप तत्प्रत्यक्षस्य गोचरम् ।
स एव सत्कविगिरा गोचर प्रतिभाभुवाम् ॥ व्यक्तिविवेक २।१६

भी हो , किन्तु इन सबका मूलार्थ एक ही है और वह यह कि कवि न तो वस्तु के स्थूल रूप का अनुकरण करता है, और न कोई अभूत वस्तु उत्पन्न करता है—वह तो अपनी प्रतिभा के द्वारा लौकिक पदार्थों के मार्मिक रूपो का उद्-घाटन करता है । कवि-प्रतिभा, जैसा कि हमने अपनी भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका में स्पष्ट किया है, रसात्मक रूपो का उन्मेष करनेवाली शक्ति का नाम है—आधुनिक शब्दावलो में इसे ही कवि-कल्पना या सवेदनशील कवि-कल्पना कहा गया है । मार्मिक रूप के उद्घाटन का आशय यह है कि कवि वस्तु के मनोहारी ऐसे रूप को उभारकर सामने रख देता है कि उसका स्थूल-मावा-रण रूप आच्छादित हो जाता है और वह वस्तु इस आह्लादकारी रूप के उभर आने से नवीन-सी प्रतीत होने लगती है ।[1] इसी अर्थ में कवि स्रष्टा है, अर्थात् सृजन का अर्थ अविद्यमान का उत्पादन नही है, वरन् विद्यमान का नवीकरण—अथवा पुन सृजन या पुनर्निर्माण है । इस प्रकार '**मार्मिक रूप के उद्घाटन**' का अर्थ होता है नवनिर्माण—या पुन सृजन और, कवि-प्रतिभा द्वारा मार्मिक रूप के उद्घाटन का अर्थ हो जाता है—अनुभूतिमती या सवेदनशील कल्पना द्वारा पुन सृजन, समास-रूप से—भाव-कल्पनात्मक पुन सृजन ।

निष्कर्ष यह है कि अरस्तू और भारतीय आचार्यो का मूल मन्तव्य तत्त्वतः भिन्न नही है । दोनो अन्त में पहुँच तो एक ही स्थान पर जाते है , किन्तु दोनो के मार्ग भिन्न हैं—अथवा यह कहना अधिक सगत होगा कि दोनो का यात्रारम्भ सर्वथा भिन्न स्थानो से होता है । अरस्तू का कवि प्लेटो द्वारा तिरस्कृत अनुकर्ता है, भारतीय आचार्य का कवि वेद-वन्दित '**कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू** ' है—दोनो ही वस्तु-सत्य से दूर है , अतएव अरस्तू कवि के तिरस्कार का परिशोध करने के लिए प्रयत्नशील है और भारतीय आचार्य उसके अतिरजित स्तवन को विवेक-

---

१—इस प्रकार सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले पदार्थ मे कुछ अलौकिक शोभातिशय को उत्पन्न करने वाले सौन्दर्य विशेष का कथन या आधान कर दिया जाता है, जिससे पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर देने मे समर्थ और नवीन सौन्दर्य से मन को हरण करने वाले, अपने स्वरूप के दब जाने से उद्भासित स्वरूप से उसी समय प्रतीत होने वाला वर्णनीय पदार्थ का स्वाभाविक सौन्दर्य-सा प्रस्फुटित होने लगता है जिसके कारण ही कवि लोग 'प्रजापति' कहलाने के अधिकारी हो जाते है ।

—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ ३०६

सम्मत रूप देने के लिए। एक ने अनुकरण की हीनता का उन्नयन किया है, दूसरे ने सृजन की अतिरंजना का संतुलन।

किन्तु मूल मन्तव्य में तात्त्विक भेद न होते हुए भी, दृष्टिकोण के भेद को नगण्य नही मानना चाहिए। सत्य कभी एकदेशीय नही होता—उसकी उपलब्धि तो सभी किसी-न-किसी रूप मे कर लेते है, पर उपलब्धि की विधि और उसका आधारभूत दृष्टिकोण भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नही होता। अरस्तू जहाँ काव्य को प्रकृति का अनुकरण मानकर चले है, वहाँ भारतीय आचार्य उसे आत्मा का उन्मेष मानता है—और मूल दृष्टिकोण के इस भेद का प्रभाव यूरोप और भारत के काव्य-शास्त्रो पर बहुत दूर तक पडा है। अपने सम्पूर्ण विवेचन में अरस्तू का दृष्टिकोण इसी कारण अभावात्मक रहा है और त्रास तथा करुणा का विरेचन उसकी चरम सिद्धि रही है, इधर भारतीय आचार्य का दृष्टिकोण इसीलिए अन्त तक भावात्मक रहा है और रस उसका परम 'फल' रहा है। यह एक बडा अन्तर है, जो भारतीय काव्य-शास्त्र के गौरव का द्योतक है।

काव्य का माध्यम—काव्य और छंद

अरस्तू ने माध्यम के आधार पर कला के भेद करते हुए भाषा को काव्य का माध्यम माना है—'एक और कला है जिसमें अनुकरण का साधन भाषा होती है। किन्तु[1] भाषा के स्थूलत दो रूप है—(१) गद्य, (२) (संगीत विहीन) पद्य या छद।' यह वैविध्य नृत्य, वंशी और वीणा-वादन मे भी पाया जा सकता है, इसी प्रकार भाषा में भी—गद्य हो या संगीत-विहीन पद्य।'[2] संगीत-विहीन विशेषण जोड देने का अर्थ यह हुआ कि काव्य और संगीत दो पृथक् कलाएँ है और संगीत काव्य के माध्यम का अनिवार्य अग नहीं है। ये दोनो ही रूप काव्य के माध्यम हो सकते है—'यह भाषा गद्य हो या पद्य।'[3] अर्थात् उनके मत से पद्य अथवा छद काव्य का अनिवार्य माध्यम नही है—काव्य-रचना गद्य और पद्य दोनो में हो सकती है। इसी तर्क से (क) एक ओर सुकरात के गद्य-सवादो को और दूसरी ओर अनेक छदोबद्ध रचनाओं को वे एक ही कला-भेद—काव्य—के अन्तर्गत मानते है। 'हमारे पास कोई ऐसा सामान्य शब्द नहीं है, जिसका एक ओर तो सोफ्रोन और क्सेनारखस के विडम्बन और सुकरात के सवादो तथा दूसरी ओर द्विमात्रिक, शोकगीतवृत्त में व्यवहृत या ऐसे ही किसी अन्य छन्द में की गयी काव्यात्मक अनुकृतियो के लिए समान रूप

१,२,३—काव्य-शास्त्र (अरस्तू)—३, १०, ८

में प्रयोग किया जा सके ।'[१] और, इसी तर्क से (ख) छन्द का माध्यम समान होने पर भी वे होमर और ऐम्पैदोक्लेस में स्पष्ट भेद करते हुए एक को कवि और दूसरे को भौतिकी का आचार्य ही कहना अधिक समीचीन समझते है—'होमर और ऐम्पैदोक्लेस मे छन्द के अतिरिक्त और कोई साम्य नही, अत एक को कवि कहना उचित है , पर दूसरे को कवि की अपेक्षा भौतिकी का आचार्य कहना ही अधिक समीचीन है ।'[२]

इस प्रसग में अरस्तू के मत का स्पष्ट साराश इस प्रकार है —

१—छन्द काव्य का अनिवार्य माध्यम नही है ।

२—छन्दहीन गद्य मे भी सफल काव्य-रचना हो सकती है ।

३—केवल छन्द के कारण कोई कृति काव्य नही हो जाती ।

४—काव्य और सगीत दो पृथक् कलाएँ है—सामान्य रूप से काव्य का माध्यम सगीत-विहीन पद्य ही होता है ।

यहाँ काव्य-शास्त्र का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न सामने आ जाता है—छद का काव्य में क्या स्थान है ? यूरोप के आलोचना-शास्त्र में इस प्रश्न पर बडा विवाद रहा है । सिडनी, कालरिज, रस्किन आदि आलोचको ने स्पष्ट रूप से छन्द को काव्य का अनिवार्य माध्यम मानने से इन्कार किया है —

सिडनी—छन्द काव्य का अलकार मात्र है, कारण (मूल तत्त्व) नही है ।

कार्लरिज—सर्वश्रेष्ठ काव्य की सत्ता छन्द के विना भी हो सकती है ।

इसके विपरीत ड्राइडन, डा० जॉन्सन, कार्लायल, स्टुअर्ट मिल आदि साहित्य-मर्मज्ञो ने उतनी ही दृढता के साथ छन्द की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है ।

डा० जान्सन—कविता छन्दोबद्ध रचना का नाम है ।

कार्लायल—जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे काव्य की यह ग्राम्य विशिष्टता बहुत-कुछ सार्थक प्रतीत होती है कि कविता छन्दोबद्ध होनी चाहिए—उसमें सगीत होना चाहिए ।

स्टुअर्ट मिल—जब से मानव मानव है, तभी से सब गहन और स्थायी भाव लययुक्त भाषा में ही अभिव्यक्त होते आये है—भाव जितना ही गहन होता है, लय उतनी ही विशिष्ट एव सुनिश्चित हो जाती है ।

सस्कृत काव्य-शास्त्र में इस प्रश्न पर विवाद कभी नही हुआ—वहाँ आरम्भ

१,२—काव्यशास्त्र (अरस्तू), पृ० ७, ८

से ही छन्द-अछन्द के विवाद से मुक्त शब्दार्थ को काव्य का माध्यम माना गया है—

शब्दार्थों सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद्द्विधा ।१।१६

(भामह)

इसी आधार पर दण्डी, बाणभट्ट तथा सुबन्धु आदि को भी यहाँ कालिदास प्रभृति के समान ही कवि नाम से अभिहित किया गया है। यह मान्यता अन्त तक यथावत बनी रही—परवर्ती साहित्य मे जब गद्य-काव्य की रचना प्राय निश्शेष हो गई थी और अलकारो के साथ-साथ छन्द आदि बाह्य उपकरणो का महत्त्व बढ गया था, उस समय भी पद्य को काव्य-लक्षण में स्थान नही मिला—पण्डितराज जगन्नाथ का लक्षण इसका स्पष्ट प्रमाण है—उसमें रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को ही काव्य-रूप में विहित किया गया है, पद्य का कोई उपबन्ध नही रखा गया है।

काव्य और छन्द के विषय में वस्तुत आज कोई मतभेद नही रह गया। केवल पद्य काव्य नही है—यह सिद्धान्त आज सर्वमान्य है—पहले भी स्वदेश-विदेश के किसी आचार्य ने इस सम्बन्ध में शका नही की। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या छन्द अथवा पद्य के बिना भी काव्य-रचना हो सकती है ? इसका समाधान भी आज बहुत-कुछ हो गया है। अब वास्तव मे साहित्य और काव्य में भेद हो गया है—साहित्य शब्द ललित या रस के साहित्य के लिए रूढ हो गया है और काव्य का प्रयोग उसके अतिशय रसात्मक (राग-कल्पनात्मक) रूप के लिए। साहित्य के अन्तर्गत नाटक, उपन्यास, कहानी आदि का समावेश है जिनमें राग-तत्त्व के प्राधान्य के साथ ही जीवन का गद्य भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। काव्य में रसात्मक तत्त्व का अतिशय होने के कारण लय और छद की आवश्यकता स्वभावत हो जाती है। रसात्मक स्थिति मन की उच्छ्वसित अवस्था ही तो है। मन का उच्छ्वास श्वास के आरोह-अवरोह मे व्यक्त होता है और वही 'लय' है—यही लय शब्द के साथ सयुक्त होकर छन्द बन जाती है। इस प्रकार छन्द रसात्मक अनुभूति का सहज माध्यम बन जाता है। इसी मनोवैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्टुअर्ट मिल ने काव्य और छन्द का नित्य सम्बन्ध माना है। इसके अनुसार साहित्य के 'काव्य' नामक रूप के लिए छन्द आवश्यक उपबन्ध सिद्ध हो जाता है। अत छन्द काव्य का अनिवार्य माध्यम है, उसके अभाव में काव्य का रूप अपूर्ण रह जाता है—गद्य में काव्य-तत्त्वो की अभिव्यक्ति से गद्य-काव्य की ही रचना सम्भव है, शुद्ध काव्य की सृष्टि पद्य मे ही हो सकती

है। साराश यह है कि जिस प्रकार कला के विभिन्न रूप—चित्र, सगीत, काव्य आदि माध्यम के भेद से ही अपने विशिष्ट रूप को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार साहित्य के विभिन्न रूप उपन्यास, नाटक, काव्य आदि भी विशिष्ट माध्यम के आधार पर ही परस्पर भिन्न होकर अपने-अपने रूप-वैशिष्ट्य की रक्षा कर सकते हैं। इस दृष्टि से अरस्तू और सस्कृत आचार्यो के 'काव्य' शब्द को वस्तुत. वर्तमान आलोचना के 'रस के साहित्य' का ही पर्याय मानना पडेगा—तभी छन्द की वैकल्पिक स्थिति मान्य हो सकती है।

अरस्तू के अनुसार काव्य की परिभाषा :

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब अरस्तू के मतानुसार काव्य-परिभाषा का निर्माण करना कठिन नही है —

(१) अरस्तू के अनुसार कला के अनेक प्रकार है—काव्य, चित्र, सगीत आदि जो माध्यम के आधार से एक-दूसरे से भिन्न है, अर्थात् इन सबका मूल तत्त्व तो स्वभावत एक ही है, किन्तु माध्यम भिन्न है। काव्य का माध्यम है भाषा, चित्र का रग-रेखा और सगीत का स्वर इत्यादि। इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य कला का वह प्रकार है जिसका माध्यम है भाषा।

(२) कला, अरस्तू के मत से, प्रकृति का अनुकरण है। शब्द के स्थान पर परिभाषा का नियोजन कर देने से यह निष्कर्ष निकला कि काव्य प्रकृति के अनुकरण का वह प्रकार है जिसका माध्यम है भाषा। अत अरस्तू के अनुसार काव्य का यह लक्षण बन जाता है —**काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।**

(३) किन्तु प्रकृति अरस्तू के लिए केवल बाह्य जगत का ही नही, वरन् उससे भी अधिक अन्तर्जगत का—एक शब्द में—जीवन का पर्याय है, और अनुकरण का अर्थ है अनुभूति तथा कल्पना के द्वारा पुनर्निर्माण या पुन सृजन। इस प्रकार प्रकृति के अनुकरण से अभिप्राय है—अनुभूति तथा कल्पना के द्वारा जीवन का पुन सृजन।

(४) इस व्याख्या के आधार पर उपर्युक्त काव्य-लक्षण का वास्तविक अर्थ यह हो जाता है—**काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना के द्वारा जीवन का पुनःसृजन है।**

अर्थात्—अरस्तू के अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार है —

'काव्य भाषा के माध्यम से (जो गद्य तथा पद्य दोनों ही हो सकती है) प्रकृति का अनुकरण है।'—और आधुनिक शब्दावली में

इसका वास्तविक अर्थ यह है—'काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनःसृजन है।'

समीक्षा

जैसा कि मैंने पहले संकेत किया है, अरस्तू की काव्य-परिभाषा वस्तुपरक है। प्रकृति (जीवन) और अनुकरण दोनों ही शब्द वस्तु-तत्त्व के अनिवार्य महत्त्व का द्योतन करते हैं। अनुकरण का अर्थ पुनःसृजन कर लेने पर भी वस्तु का महत्त्व बना रहता है, अतएव यह परिभाषा अनुकर्ता कवि के सामने जीवन और जगत के रूप में वस्तु की सत्ता अनिवार्यतः प्रतिष्ठित कर उसकी स्वानुभूति को गौण रूप दे देती है। अरस्तू से प्रभावित यूरोप के परवर्ती आभिजात्यवादी आचार्यों ने अपने काव्य-लक्षणों में इस तत्त्व को अक्षुण्ण रखा है। उदाहरण के लिए, ड्राइडन तथा मैथ्यू आर्नल्ड के लक्षण लीजिए

१—ड्राइडन—काव्य भावपूर्ण तथा छन्दोबद्ध भाषा में प्रकृति का अनुकरण है।

२—मैथ्यू आर्नल्ड—काव्य-सत्य तथा काव्य-सौन्दर्य के सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित उपबन्धों के अधीन जीवन की समीक्षा का नाम काव्य है।

यह कहना अनावश्यक है कि ये लक्षण अरस्तू के लक्षण के आख्यान या पुनराख्यान मात्र हैं। ड्राइडन ने अपने लक्षण का निर्माण अरस्तू की निम्नलिखित चार स्थापनाओं के संयोग से किया है —

१—काव्य एक कला है।
२—इसका माध्यम भाषा है।
३—कला का अर्थ है प्रकृति का अनुकरण।
४—काव्य में भाव का अतिरेक रहता है।

ड्राइडन ने इन सबको समंजित कर अपना लक्षण प्रस्तुत कर दिया है। छन्द का उपबन्ध अरस्तू ने अनिवार्य नहीं माना, किन्तु ड्राइडन ने अरस्तू के परवर्ती दो सहस्राब्द के साहित्य-ज्ञान का लाभ उठाते हुए और अपने युग की मान्यताओं से प्रभावित होकर उसे आवश्यक रूप से लक्षण में समाविष्ट कर लिया है।

मैथ्यू आर्नल्ड का लक्षण कुछ विचित्र-सा है—भारतीय काव्य-शास्त्र में इस प्रकार के लक्षणों का सदा खण्डन किया गया है। काव्य का लक्षण किया जा रहा है और लक्षण में काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य शब्दों का प्रयोग हुआ

ह—इस प्रकार स्वय व्याख्येय को ही व्याख्या का साधन वनाया गया है। फिर भी इस लक्षण में अरस्तू के लक्षण की प्रतिच्छाया सर्वथा स्पष्ट है। आर्नल्ड का 'जीवन' तो अरस्तू के 'प्रकृति' शब्द का पर्याय है ही, 'समीक्षा' शब्द भी 'अनुकरण' का ही नवरूपान्तर है—इन दोनो का वास्तविक अर्थ पुन सृजन ही है। जिस प्रकार काव्य अभिधार्य मे अनुकरण नही हो सकता है, इसी प्रकार समीक्षा भी नहीं हो सकता। अत समीक्षा के अन्तर्गत जीवन का केवल ग्रहण ही नही, वरन् उस गृहीत जीवन-सस्कार का पुन सृजन भी निश्चित रूप से निहित है। अव दो अत्यन्त अस्पष्ट शब्द रह जाते हैं—काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य। मैथ्यू आर्नल्ड की काव्य-चेतना आभिजात्यवादी परम्पराओ में परिपोषित थी—उनके मन में भौतिक मूल्यो के विपरीत तथा नैतिक-धार्मिक मूल्यो से भिन्न काव्य-मूल्यो की धारणा वद्धमूल थी। उसी के अनुकूल अमर काव्य-कृतियो के आधार पर काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य के सिद्धान्तो की उन्होने स्वतत्र कल्पना की है, परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से काव्य-सत्य और काव्य-सौन्दर्य के अन्तर्गत मूलत राग-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व की ही व्यजना है—काव्य का सत्य विज्ञान के सत्य से अपने रागात्मक तत्त्व के कारण ही भिन्न है, इसी प्रकार काव्य का सौन्दर्य जीवन के अन्य सौन्दर्य-रूपो से राग और कल्पना तत्त्वो के कारण ही भिन्न है। अतएव, मैथ्यू आर्नल्ड की परिभाषा का सरल रूप प्राय यही हो जाता है—काव्य जीवन का राग-कल्पनात्मक पुन सृजन है।

इनका वैपरीत्य रोमानी कवि-आलोचको के काव्य-लक्षणो में प्राप्त होता है, जिनकी मूल दृष्टि व्यक्तिपरक है। उदाहरण के लिए वर्ड्सवर्थ, शैली, ली हट आदि के लक्षण लिये जा सकते हैं।

वर्ड्सवर्थ—कविता प्रबल भावो का सहज उच्छलन है।

शैली—सामान्यत कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

ली हट—कल्पनात्मक आवेग का नाम कविता है।

इन परिभाषाओ में काव्य को मूलत आत्माभिव्यक्ति माना गया है और वस्तु-तत्त्व की अपेक्षा भाव-तत्त्व को प्रधानता दी गयी है।

भारतीय लक्षणकारो का दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न रहा है। एक तो यहाँ के आचार्यों ने काव्य को कला नही माना। दूसरे प्राय सभी लक्षणो में काव्य के वाङ्मय रूप अर्थात् शब्दार्थ को अनिवार्यत ग्रहण किया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्र के सभी प्रतिनिधि लक्षणो में काव्य को प्रथमत शब्दार्थ-रूप माना गया है।

१—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । (भामह)

अर्थात् सहित शब्दार्थ का नाम काव्य है।

२—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् । (कुन्तक)

वक्रोक्तियुक्त बध मे सहभाव मे व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है।

३—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन. क्वापि । (मम्मट)

दोपहीन, गुणयुक्त और प्राय अलकृत शब्दार्थ को काव्य कहते है।

४—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । (विश्वनाथ)

रसात्मक वाक्य ही काव्य है।

५—रमणीयार्थप्रतिपादक. शब्द काव्यम् । (जगन्नाथ)

रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द का नाम काव्य है।

इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य को उक्ति-रूप माना गया है। रस अथवा चारुत्व उसका प्राण है, परन्तु उस प्राण की प्रतिष्ठा शब्दार्थमयी उक्ति में ही सम्भव है। इस प्रकार यहाँ के आचार्यों ने अधिक विवेकपूर्ण रीति का अवलम्बन किया है। काव्य को प्राथमिक रूप में अनुकरण का एक प्रकार कहने की अपेक्षा वाङमय का एक प्रकार कहना ही अधिक सगत है। इसके आगे उसके व्यावर्तक धर्म का उल्लेख है जिसे कुन्तक ने वक्रता, विश्वनाथ ने रसात्मकता, जगन्नाथ ने रमणीयता आदि शब्दो के द्वारा अभिहित किया है। पहले सामान्य रूप देकर फिर विशिष्ट स्वभाव का उल्लेख कर लक्षण को पूर्ण कर दिया गया है। अरस्तू के लक्षण में काव्य के कर्तव्य-कर्म को प्राथमिकता दी गई है, शब्दार्थ (भाषा)का, माध्यम रूप में, गौण रीति से उल्लेख किया गया है।

जहाँ तक दोनो के मूल अर्थ का सम्बन्ध है, उसमें विशेष भेद नही है। अरस्तू का 'जीवन' शब्द हमारे 'अर्थ' के समकक्ष है, 'भाषा द्वारा पुन-सृजन' का अर्थ है 'शाब्दिक प्रतिपादन' और 'राग-कल्पनात्मक' ही 'वक्र-कविव्यापार-शाली' अथवा 'रमणीय' है। अत पूरे लक्षण का यह रूप हो जाता है—काव्य अर्थ का रमणीय शाब्दिक प्रतिपादन है। यही जगन्नाथ का रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द है, यही विश्वनाथ का रसात्मक वाक्य और प्राय यही कुन्तक का वक्र-कविव्यापार-शाली बन्ध में व्यवस्थित शब्दार्थ है, किन्तु यहाँ अर्थ का प्रश्न न होकर लक्षण-रचना का प्रश्न है—काव्य प्राथमिक रूप में शब्दार्थ है या कला? वास्तव में यह केवल प्रक्रिया का भेद है।

काव्य में दोनो तत्त्वो का अनिवार्य समावेश है—उसका आधार निश्चय ही शब्दार्थ है, किन्तु शब्दार्थ के सभी रूप काव्य नही है—काव्य वही है, जहाँ शब्दार्थ का 'सहित' अर्थात् कलात्मक प्रयोग हो। इसी प्रकार प्रत्येक कला-रूप काव्य नही है—वही कला-रूप काव्य है, जिसका माध्यम शब्दार्थ हो, अत भारतीय और पाश्चात्य काव्य-लक्षणो मे तत्त्वगत भेद नही है, केवल प्रक्रिया-क्रम का भेद है। भारतीय काव्य-शास्त्र काव्य को मूलत वाङमय अर्थात् विद्या का प्रकार मानकर चला है, जिसका लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार, कला का स्थान यहाँ निम्नतर है—वह उपविद्या है, जिसका उद्देश्य है मनोरजन। अरस्तू ने काव्य को कला माना है, किन्तु कला का उनकी दृष्टि में हीनतर स्थान नही है—अथवा यह कहना चाहिए कि कला के दो भेद—उच्चतर और निम्नतर—उनके मन में अत्यन्त स्पष्ट है। (शब्दार्थ-रूप) उच्चतर माध्यम के कारण काव्य निश्चय ही उच्चतर कला-प्रकार है, जिसका उद्देश्य है—आनन्द अथवा अतश्चेतना का परिष्कार, अतएव स्वभावत वह इतिहास, प्राकृत-विज्ञान आदि विद्याओ से श्रेष्ठ तथा दर्शन के समकक्ष है। इस प्रकार दोनो काव्य-लक्षण ज्ञान और आनन्द तत्त्वो के योग से बने है—शब्दार्थ ज्ञान का प्रतीक है और कला आनन्द की—इन दोनो का सामजस्य ही काव्य है।

कवि और काव्य

अरस्तू ने कवि और काव्य के सम्बन्ध का दो स्थलो पर उल्लेख किया है —

(१) "इसके पश्चात् लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य-धारा दो दिशाओ में विभक्त हो गई। गभीरचेता लेखको ने उदात्त व्यापारो और सज्जनो के क्रिया-कलाप का अनुकरण किया और जिस प्रकार प्रथम वर्ग के लेखको ने देव-सूक्त और यशस्वी पुरुषो की प्रशस्तियाँ लिखी, उसी प्रकार इन लोगो ने पहले-पहल व्यग्य-काव्य की रचना की।"[१]

(२) "जो कवि भाव की अनुभूति करके लिखता है, उसी का सब से अधिक प्रभाव पडता है, क्योकि उसकी अपने पात्रो के साथ सहज सहानुभूति होती है। क्षोभ और क्रोध का स्वय अनुभव करने वाला कवि ही पात्रगत क्षोभ और क्रोध को जीवन्त रूप में अभिव्यक्त कर सकता है, अत काव्य-सृजन के लिए कवि में प्रकृति-दत्त प्रतिभा तथा ईषत् विक्षेप आवश्यक है। पहली

१—काव्य-शास्त्र, पृ० १४

स्थिति में कवि किसी भी चरित्र के साथ तादात्म्य कर सकता है और दूसरी में 'वह' 'स्व' की भूमिका से ऊपर उठ जाता है।[१]

उपर्युक्त उद्धरणो का साराश यह है —

(१) काव्य के स्वरूप और कवि के स्वभाव का प्रकृत सम्बन्ध है—गभीर-उदात्त प्रकृति का कवि उदात्त वीर-काव्य की रचना करता है और क्षुद्रप्रकृति का कवि क्षुद्र विषयो से सम्वद्ध व्यग्य-काव्य की।

(२) काव्य-निवद्ध भावो की सफल अभिव्यजना तभी सम्भव है, जब कवि मे उन भावो की सवेदन-क्षमता हो।

(३) सत्काव्य की रचना के लिए कवि-प्रतिभा आवश्यक है, क्योंकि उसी के द्वारा कवि अन्य चरित्रो के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है।

(४) सफल काव्य की सृष्टि ईपत् विक्षेप अर्थात् प्रवल अन्त प्रेरणा[२] की अवस्था मे ही सम्भव है। ऐसी स्थिति मे ही कवि की सवेदन-शक्ति व्यक्तिगत परिसीमाओ से मुक्त होकर सावारणीकृत हो जाती है।

इन निष्कर्षों का अव एक-एक कर विवेचन किया जा सकता है।

एक—काव्य की प्रकृति और कवि की प्रकृति में सहज सम्वन्ध है—काव्य और कवि के सम्वन्ध मे यह सरल विवेक-सम्मत तथ्य है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करता है—इस तर्क से यह सहज सिद्ध है कि प्रत्येक कवि अपने स्वभाव के अनुसार कवि-कर्म (काव्य) करता है। आचार्य कुन्तक ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दो मे उद्घोपणा की है—स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते—अर्थात् काव्य-रचना मे कवि का स्वभाव ही सर्व-प्रमुख है, और इसी आधार पर उन्होने काव्य के सुकुमार और विचित्र मार्गो का विभाजन किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में और उधर यूरोप के प्राचीन काव्य-शास्त्र में कवि के चारित्र्य पर इतना अधिक वल इसी मान्यता के आधार पर दिया गया है। इसके विपरीत आधुनिक युग के अनेक विचारक और आलोचक—जैसे टी० एस० इलियट और युग आदि—इतनी ही दृढता के साथ यह स्थापना करते है—'सावारण व्यावहारिक-नैतिक अर्थ मे यदि किसी का व्यक्तित्व दूसरे से गुरुतर है तो इसका अर्थ यह कदापि नही हो सकता कि वह उसकी अपेक्षा अधिक सफल कवि और साहित्यकार भी है . . . । कला-सृजन की इस

१—काव्य-शास्त्र, पृ० ४६

२—उन्मपिरेशन ।

प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है, उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सम्वन्ध नही है।' (इलियट—ट्रेडीशन एड इडिविजुअल टेलेंट)।

ये आलोचक कदाचित् यह कहना चाहते हैं कि कवि अपनी प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास के वल पर एक ऐसी सर्जना-शक्ति का अर्जन कर लेता है, जो उसके सामान्य व्यक्तित्व से स्वतन्त्र होती है और इस शक्ति की सर्जन-क्रिया का अनुभव कवि के समान्य व्यक्तिगत अनुभवो से भिन्न होता है।—किन्तु यह मत मान्य नही है, इस मत की स्थापना करने के लिए इलियट को मनोविज्ञान का निषेध करना पडा है। इसका निराकरण हम अन्यत्र कर चुके है।[1]

ये आलोचक कदाचित् अपने मत की पुष्टि में ऐसे अनेक कवियो का प्रत्यक्ष प्रमाण भी दे सकते हैं, जिनका उदात्त काव्य उनके निकृष्ट व्यक्तित्व के सर्वथा विपरीत है, परन्तु यह प्रमाण अत्यन्त स्थूल है। मानव-मन वड़ा विचित्र है—वह न जाने कितने विरोधाभासो का पुज है। जो कवि साधारण व्यवहार में क्षुद्रता का परिचय देता है, उसके लिए अपने अभाव की क्षतिपूर्ति के निमित्त उदात्त भावनाओ का तीव्र अनुभव सर्वथा अनिवार्य हो जाता है। स्थूल दृष्टि से जो भयकर असगति प्रतीत होती है, वही मनोविज्ञान के लिए सहज-समाधेय हो जाती है। मैं स्वय ऐसे कवियो को जानता हूँ जो व्यक्तिगत जीवन में ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त होने पर भी अत्यन्त उदात्त कविता के समर्थ स्रष्टा है—और मुझे इसमें कभी कोई वैचित्र्य प्रतीत नही हुआ। जीवन का कार्य-कलाप क्रिया और प्रतिक्रिया दोनो का ही परिणाम होता है, क्रिया की अपेक्षा प्रतिक्रिया अधिक प्रबल होती है—यह मनोविज्ञान का सहज सत्य है, अत यह प्रमाण वास्तव में प्रामाणिक नहीं है।

दो—काव्य में सजीव भावाभित्यजना के लिए यह आवश्यक है कि कवि स्वय उन भावो का जीवन्त अनुभव करे—इस विषय में प्राय सभी आलोचक अरस्तू से एकमत हैं। भारतीय आचार्यों ने कवि को सवासन माना है—सवासन का अर्थ यही है कि कवि के चित्त में सभी भाव वासना-रूप से विद्यमान रहने चाहिए, जिससे वह प्रसगानुसार उनका अनुभव कर सके। सवासनता परिणाम रूप में सवेदनशीलता का ही पर्याय है। इलियट आदि आलोचक भी—जो अव्यक्तिगत काव्य-सिद्धान्त के समर्थक हैं—कवि की सवेदन-क्षमता का निषेध नही करते। वास्तव में कवि की जिस सृजन-प्रतिभा का

१—देखिये लेखक का निवन्ध 'टी० एस० इलियट और उनका अव्यक्तिगत काव्य-सिद्धान्त' (विचार और विवेचन)।

यशोगान सभी ने एक स्वर से किया है, उसमें असाधारण सवासनता अथवा असाधारण सवेदन-क्षमता स्पष्ट रूप से अन्तर्भूत है।

तीन—कवि अपनी प्रतिभा के बल पर ही उत्तम काव्य की सृष्टि करता है, क्योकि उसी के द्वारा वह अन्य पात्रो के साथ तादात्म्य कर सकता है। यहाँ अरस्तू कल्पना शब्द का प्रयोग न करते हुए भी कवि की कल्पना-शक्ति की ओर सकेत कर रहे है। वर्ण्य विषय के अनुकूल पात्रो के साथ तादात्म्य करने के लिए दो गुणो की अपेक्षा होती है—एक तो अन्य पात्रो के सस्कारों और परिस्थितियो का मानस साक्षात्कार करने की क्षमता और दूसरे उनको अपने अनुभव का विषय बना लेने की शक्ति। इनमे से पहली का आधुनिक नाम है कल्पना और दूसरी का है व्यापक सवेदन-क्षमता। ये दोनो गुण निश्चय ही काव्य-सर्जना के लिए अनिवार्य है—आधुनिक आलोचना-शास्त्र तथा मनोविज्ञान दोनो ही इनके अनिवार्य महत्त्व को स्वीकार करते है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी कवि-प्रतिभा के विवेचन के अन्तर्गत इन दोनो शक्तियो का यथावत् निरूपण है—वास्तव में यहाँ कवि-प्रतिभा का निर्माण इन दो तत्त्वो से ही माना गया है —

> रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतस. ।
> क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवे. ॥
>
> सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
> येन साक्षात् करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिन. ॥

महिम भट्ट व्य० वि०, पृ० १०८

अर्थात्—"रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्तना में लीन एकाग्रचित कवि की प्रज्ञा जब क्षण भर के लिए पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुई उद्बुद्ध होती है, तब वह प्रतिभा नाम को धारण करती है। वही भगवान् शकर का तृतीय नेत्र है—उसी के द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावो का साक्षात्कार करता है।" प्रतिभा के इस लक्षण में पदार्थ के स्वरूप के साक्षात्कार और भाव के अनुभव दोनो का ही स्पष्ट उल्लेख है।

चार—काव्य की सृष्टि ईषत् विक्षेप की अवस्था में ही सम्भव है क्योंकि उसी अवस्था में कवि की अनुभूति अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषों से ऊपर उठकर साधारणीकृत हो सकती है। पाश्चात्य काव्य तथा काव्य-शास्त्र में विक्षेप या

प्राय उल्लेख हुआ है—'दिव्य उन्माद'[१], 'सुन्दर विक्षेप'[२] आदि उसी की प्रशस्तियाँ है। विक्षेप का लक्ष्यार्थ वास्तव में अन्त प्रेरणा ही है—काव्य के आरम्भ से ही स्वदेश-विदेश में सर्वत्र कवि-प्रतिभा को दिव्य प्रेरणा से सम्पन्न माना गया है। प्राय इसी अर्थ में भारतीय आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रसावेशवैशद्यसौन्दर्य' शब्द का प्रयोग किया है। महिम भट्ट ने 'स्तिमितचित्त', रुद्रट ने 'मन की समाहिति' आदि शब्दो द्वारा इसी धारणा को व्यक्त किया है। इन शब्दो का अभिप्राय यही है कि काव्य-सृजन के समय कवि का चित्त व्यक्तिगत अनुभूतियो से ऊपर उठकर वर्ण्यविषय के साथ एकतान हो जाता है—यही भट्ट नायक का भावकत्व या साधारणीकरण है।

इस प्रकार अरस्तू के मत से—

काव्य कवि का कर्म है।

काव्य का स्वरूप कवि के स्वभावानुरूप ही होता है।

कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अर्थात् लोकोत्तर कल्पना-शक्ति के द्वारा जगत के नाना रूपो का साक्षात्कार और असाधारण सवेदन-क्षमता के द्वारा उनका अनुभव करता हुआ काव्य की सृष्टि करता है।

काव्य-सृजन के समय कवि का चित्त व्यक्तिगत सुख-दु खात्मक अनुभूतियो से मुक्त होकर एकतान हो जाता है—अर्थात् काव्य प्रत्यक्ष रूप में कवि की आत्माभिव्यक्ति नही है।

काव्य और कवि के परस्पर सम्बन्ध के विषय में स्वदेश-विदेश के काव्य-शास्त्र में प्राय तीन मत प्रचलित हैं। एक मत युग तथा इलियट आदि का है, जो कवि के व्यक्तित्व को काव्य का केवल माध्यम मानते है। दूसरा मत मनोवैज्ञानिक आलोचको का है, जो काव्य को कवि की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति मानते है—इनके अनुसार कवि के भोक्ता और स्रष्टा-रूपो में तादात्म्य होता है। तीसरा मत इन दोनो की मध्यवर्ती स्थिति को मान्यता देता है, अर्थात्—उसके अनुसार कवि माध्यम मात्र नही है—वह अपनी अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रतिभा के बल पर काव्य का कर्ता है। वह सवासन है अर्थात् उसमें नाना भावो की सवेदन-क्षमता है, परन्तु उसका काव्य उसकी अपनी व्यक्तिगत जीवनानुभूतियो की अभिव्यजना नही है—उसके भोक्ता व्यक्ति और स्रष्टा कवि में तादात्म्य नही है। यह

१—डिवाइन मैडनेस

२—फाइन फ्रैन्ज़ी

भारतीय काव्य-शास्त्र का सामान्य मत है। कुन्तक इसमें थोडा सशोधन कर यह मानते है कि कवि अपने स्वभाव के अनुरूप ही काव्य की सृष्टि करता है—अपने जीवनानुभवो को तो प्रत्यक्ष रूप से वह अपने काव्य का विपय नही वनाता किन्तु उसके अपने स्वभाव का काव्य-सृष्टि पर निश्चय ही निर्णायक प्रभाव पडता है, अर्थात्—कवि के भोक्तृ-पक्ष और कर्तृ-पक्ष मे तादात्म्य तो नही है, परन्तु सम्वन्ध अवश्य है। अरस्तू का भी ठीक यही मत है—कवि अपने काव्य में व्यक्तिगत जीवन को अभिव्यक्त नही करता, वरन् सामान्य जीवन का अनुकरण (पुन सृजन) करता है, किन्तु यह अनुकरण उसके अपने स्वभाव के अनुरूप ही होता है उससे निरपेक्ष नही। अरस्तू के मत का साराश यही है और यह उनके अपने स्वभाव के सर्वथा अनुकूल विवेक-सम्मत व्यावहारिक मत है।

काव्य का प्रयोजन

दो प्रयोजन . शिक्षा और आनद

अरस्तू ने दो-तीन प्रसगो में काव्य-प्रयोजन की ओर सकेत किया है। काव्य-शास्त्र के आरम्भ में ही उन्होने अनुकरण-रूप काव्य के दो स्पप्ट प्रयोजन माने हैं —

(१) ज्ञानार्जन अर्थात् शिक्षा, (२) आनन्द।

". और आरम्भ में वह (मनुष्य) सव-कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नही। अनुभव इसका प्रमाण है—जिन वस्तुओ के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की ययावत् प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी वन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है।"—काव्य-शास्त्र, पृ० १४।

मूल प्रयोजन—आनन्द : ये दोनो प्रयोजन—ज्ञानार्जन और आनन्द सामान्यत पृथक् होते हुए भी तत्त्व रूप से एक हो जाते है, क्योंकि शिक्षा या ज्ञानार्जन भी अन्तत साध्य न होकर आनन्द का साधन ही तो है—"इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रवल आनन्द प्राप्त होता है—केवल दार्शनिक को ही नही, सामान्य व्यक्ति को भी। ..अत किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, या निष्कर्ष ग्रहण करता है।"—(काव्य-शास्त्र, पृष्ठ १४)

उपर्युक्त उद्धरण से यह निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का चरम प्रयोजन आनन्द ही है, क्योकि ज्ञानार्जन या शिक्षा अपनी सिद्धि आप नही है—उसका उद्देश्य भी आनन्द ही है।

काव्यानन्द का स्वरूप —यह प्रश्न काव्य-शास्त्र का अत्यन्त मौलिक प्रश्न है और इस क्रान्तदर्शी आचार्य ने एक-दो साकेतिक वाक्यो द्वारा उसके मर्म का उद्घाटन करने की सफल चेष्टा की है—" शायद वह अपने मन मे कहता है, 'अरे यह तो अमुक है।' क्योकि यदि आपने मूल वस्तु को नही देखा, तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा, वह अकन, रग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।" (काव्य-शास्त्र पृ०, १०)

इसका अभिप्राय पहले तो यह हुआ कि काव्य का आनन्द आध्यात्मिक आनन्द न होकर है भौतिक आनन्द ही, परन्तु वह सामान्य आनन्द नही वरन् अनुकरण-जन्य आनन्द है। अनुकरण-जन्य आनन्द क्या है, यह सकेत भी अरस्तू ने इसी वाक्य में कर दिया है। यह आनन्द एक विशिष्ट प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है—किसी देखी हुई वस्तु को पहचानने का आनन्द है—जो एक ओर वस्तु को देखने के आनन्द या अनुभव से भिन्न है और दूसरी ओर शिल्प-विधान (केवल कारीगरी) से प्राप्त आनन्द से भिन्न है। अर्थात् यह आनन्द साक्षात् ऐन्द्रिय अनुभव से भिन्न है, और शिल्प आदि से उत्पन्न चित्त के चमत्कार से भी भिन्न है। इनके अतिरिक्त यह ज्ञान से भी भिन्न है, क्योकि ज्ञान का अर्थ है अपरिचित वस्तु का परिचय, और यह परिचित वस्तु का प्रत्यभिज्ञान है। किन्तु सामान्य प्रत्यभिज्ञान भी यह नही है, क्योकि सामान्य प्रत्यभिज्ञान में तो किसी पूर्व-दृष्ट वस्तु को फिर से देखकर पहचानना होता है, यहाँ हम उस 'वस्तु' को फिर से नही देखते, वरन् उसकी अनुकृति को देखकर मूल को पहचानते है। इस प्रकार सामान्य प्रत्यभिज्ञान भी यह नही है। जब काव्यानुभव न ऐन्द्रिय आनन्द है, न बौद्धिक और न सामान्य प्रत्यभिज्ञान का ही आनन्द है, तब फिर इसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अरस्तू के शब्दो में ही निहित है—यह अनुकरण-जन्य प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है। अनुकृति का अर्थ है भाव-कल्पनात्मक पुनर्निर्मिति—उसके द्वारा प्रत्यभिज्ञान का अर्थ यह हुआ कि सामान्य प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा उसमें प्रत्यक्ष अनुभव कम और भावना एव कल्पना का योग अधिक रहता है। यो तो प्रत्यभिज्ञान मात्र में स्मृति एव कल्पना का आधार रहता है, किन्तु यहाँ जब उद्दीपक वस्तु स्वय भी कल्पना और भावना से विशिष्ट है, तब प्रत्यभिज्ञान में स्वभावत प्रत्यक्ष अनुभव का अश कम और कल्पना का योग-

दान और भी अधिक हो जाना चाहिए। भावना तथा कल्पना से पुनर्निर्मित कवि-निबद्ध वस्तु को देखकर दर्शक की भावना एवं कल्पना उद्बुद्ध हो जाती है, जिसके फलस्वरूप पूर्व-अनुभूत अनुकार्य वस्तु का चित्र उसके मन मे उभर आता है और वह दोनो में साम्य का अनुभव कर 'अरे यह तो अमुक है!' एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है।—यही काव्य का आनन्द है।

सारत अरस्तू के अनुसार काव्य का आनन्द

१—आध्यात्मिक आनन्द नही है।

२—प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय आनन्द नही है।

३—बौद्धिक आनन्द भी नही है।

४—वह (प्राकृत जीवन के अन्तर्गत ही) प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान का नही, कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान का, अर्थात्—यह आनन्द प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

अठारहवी शती के अँगरेज आलोचक एडिसन ने इसे ही कल्पना का आनन्द कहा है। कल्पना के इस (गौण) आनन्द को वे सर्वत्र ही "मन की उस क्रिया का परिणाम मानते है, जो मूल वस्तुओ से उत्पन्न विचारो (मानस-बिम्बो) की उनकी मूर्ति, चित्र, अथवा सगीतात्मक अभिव्यजना से उत्पन्न विचारो (मानस-बिम्बो) के साथ तुलना करती है।"

उपर्युक्त उद्धरण निश्चय ही अरस्तू के वाक्य की व्याख्या है। यूरोप के काव्य-शास्त्र मे एडिसन का महत्व बहुत-कुछ इसी व्याख्या पर निर्भर है, जिसमे उन्होने अरस्तू की अनिश्चित विवेचना को पारिभाषिक शब्दावली में बाँध दिया है। मेरे मन मे यहाँ थोडी-सी शका उठती है कि यह 'तुलना की प्रक्रिया' कही एडिसन की अपनी कल्पना तो नही है, किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण के उपरान्त इसका सहज ही समाधान हो जाता है। अरस्तू का यह वाक्य 'अरे, यह तो अमुक है!' वास्तव में तुलना-जन्य साम्य की अनुभूति का व्यजक है—यह तुलना निश्चय ही 'असलक्ष्यक्रम' होती है, परन्तु 'अरे, यह तो अमुक है!' का उद्गार तुलना के बिना सम्भव नही है।

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजनो का भारतीय काव्य-शास्त्र के काव्य-प्रयोजनो से—विशेषकर उनके काव्यानन्द का भारतीय 'रस' से क्या सम्बन्ध है, यह अनुसन्धान कदाचित् अप्रासगिक न होगा। अरस्तू ने ज्ञानार्जन और आनन्द—काव्य के ये दो मूल प्रयोजन माने है, जो अन्त मे आनन्द में मिलकर एक हो जाते है। ड्राइडन ने और अधिक निश्चित शब्दावली का प्रयोग करते

हुए इन्ही को शिक्षा और आनन्द कहा है और दोनो का समन्वय कर दिया है—'प्रीतिपूर्वक शिक्षा देना काव्य का व्यापक उद्देश्य है।' ये दोनो प्रयोजन निश्चय ही प्रमाता की दृष्टि से वर्णित हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य-प्रयोजनो का विवेचन कवि और प्रमाता दोनो की दृष्टि से किया गया है। उदाहरणार्थ मम्मट के आधार पर सामान्यत यह कहा जा सकता है कि यश और अर्थ तो मूलत कवि के प्राप्य है और सद्य परनिर्वृति (आनन्द), व्यवहार-ज्ञान, कान्तासम्मित उपदेश सहृदय के प्राप्य है। इनमे से प्रीति या आनन्द की स्थिति तो स्पष्ट है, व्यवहार-ज्ञान वस्तुत शिक्षा का ही नाम है और कान्ता-सम्मित उपदेश में शिक्षा तथा प्रीति दोनो का समन्वय है। इस प्रकार मम्मट की व्यावहारिक दृष्टि में वस्तुत प्रमाता के लिए काव्य के दो ही मुख्य प्रयोजन है—शिक्षा और आनन्द। और इन दोनो में भी आनन्द ही 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' है। सामान्य विवेक की दृष्टि से वास्तव में ये ही दो प्रयोजन ठीक भी हैं, किन्तु गभीरचेता आचार्यों की इतने से परितुष्टि नही हुई, उन्होने चतुर्वर्गफल-प्राप्ति को—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप जीवन के परम पुरुषार्थों की सिद्धि को—काव्य का प्रयोजन माना है। दूसरे शब्दो मे जीवन की सिद्धि को ही काव्य की भी चरम सिद्धि माना है।

अरस्तू की दृष्टि प्राय व्यावहारिक ही रही है, परन्तु गम्भीर दर्शन-क्षमता का उनमें अभाव नही था—सामान्य रूप से यद्यपि उन्होने काव्य-प्रयोजन के विषय में विवेक-सम्मत दृष्टिकोण ही ग्रहण किया है, फिर भी काव्य के तात्त्विक पक्ष और गभीर प्रयोजन से वे अनवगत नही थे। 'परिणामत काव्य में दर्शन-तत्त्व अधिक होता है, उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योकि काव्य सार्वभौम की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।' (काव्य-शास्त्र, पृ० २६) काव्य में दार्शनिकता और सार्वभौमता के गुणो की स्थिति निश्चय ही उसके गम्भीर प्रयोजन की द्योतक है, जिसके प्रति अरस्तू निश्चय ही जागरूक थे। इनके अतिरिक्त त्रासदी के प्रसग में उन्होने एक अन्य सूक्ष्मतर प्रयोजन की ओर भी सकेत किया है। यह प्रयोजन उनके विरेचन-सिद्धान्त में निहित है। प्लेटो के आक्षेप के उत्तर में उन्होने कहा कि त्रासदी मनोवेगो को उत्तेजित नही करती, वरन् उनका विरेचन कर प्रेक्षक को मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करती है। इस प्रकार भावो का परिष्कार और तज्जन्य मन स्वास्थ्य काव्य का सूक्ष्मतर प्रयोजन है।

अरस्तू के काव्यानन्द और 'रस' का क्या सम्बन्ध है? भारतीय काव्य-

शास्त्र के विद्यार्थी के लिए इस प्रश्न का समाधान रोचक हो सकता है। इस प्रसंग में एक तथ्य तो यह स्पष्ट है कि सभी प्रकार का काव्यानन्द रस नहीं है, क्योंकि अलंकार, चित्र-काव्य आदि के चमत्कार से प्राप्त आनन्द भी काव्यानन्द के अन्तर्गत तो आता है; परन्तु वह रस नहीं है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार नाटक में प्रदर्शित रागात्मक काव्य-वस्तु का प्रेक्षण कर या श्रव्य-काव्य में वर्णित काव्य-वस्तु का मानस साक्षात्कार कर, सहृदय का उस प्रसंग से सम्बद्ध स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर अत्यन्त उत्कट अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जहाँ पहुँचकर उसका चित्त काव्य-वस्तु तथा वैयक्तिक जीवन के अनुभवों को भूल कर एक अखण्ड आनन्दमयी चेतना में लीन हो जाता है—जिसका नाम 'रस' है। अतः 'रस' एक आनन्दमयी चेतना है, जिसका आधार अनिवार्यतः रागात्मक होता है, क्योंकि इधर तो उसकी प्रेरक काव्य-वस्तु रागात्मक होती है और उधर वह स्वयं किसी मनोराग की चरम उद्दीप्ति का परिणाम होती है। किन्तु फिर भी वह प्रकृत भावानुभूति से भिन्न है, क्योंकि प्रकृत भावानुभूति सदा मधुर न होकर कटु भी होती है—कटु मनोरागों की अनुभूति तो निश्चय ही कटु होती है। प्रकृत भावानुभूति से इसका मुख्य भेद यह है कि इसमें कटु भावों की भी मधुर परिणति हो जाती है। प्रकृत भावों पर आधृत होने के कारण स्पष्टतः यह न बौद्धिक आनन्द है और न आध्यात्मिक क्योंकि यह तो चित्त का विषय है, न बुद्धि का और न आत्मा का।

इस प्रकार, अरस्तू के काव्यानन्द और भारतीय रस में निम्नलिखित साम्य-वैषम्य है :—

साम्य—

(१) दोनों ही आध्यात्मिक आनन्द नहीं हैं।

(२) दोनों ही बौद्धिक आनन्द भी नहीं हैं।

(३) दोनों प्रकृत आनन्द से भिन्न हैं।

वैषम्य—

(१) मनोराग की चरम उद्दीप्ति रूप होने के कारण भारतीय रस का आधार अनिवार्यतः रागात्मक है जबकि अरस्तू का काव्यानन्द कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है—अर्थात् भारतीय रस में रागतत्त्व की प्रधानता है और अरस्तू के काव्यानन्द में कल्पना और ज्ञान-तत्त्व की।

(२) अरस्तू के काव्यानन्द की अपेक्षा भारतीय रस में व्यक्ति-तत्त्व अधिक है। अरस्तू का प्रमाता अनुकृत वस्तु को पहचानकर आनन्दानुभव करता है,

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रमाता वर्ण्य वस्तु से उद्‌बुद्ध अपने ही साधारणीकृत मनोराग का आस्वादन करता है।

काव्य का सत्य

काव्य के सत्यासत्य के विषय में काव्य-शास्त्र के आरम्भ से ही विचार-विमर्श होता आया है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे अरस्तू से पूर्व प्लेटो और उनके पूर्ववर्ती दार्शनिको ने काव्य पर असत्यता का आरोप कर होमर तथा प्राचीन नाटककारो की भर्त्सना की थी। प्लेटो का काव्य के विरुद्ध सबसे प्रबल आक्षेप यही था कि वह सत्य से दूर होता है। उनका तर्क था कि पहले तो भौतिक पदार्थ ही सत्य की अपूर्ण अनुकृति हैं और फिर काव्यादि तो उनकी भी अपूर्ण अनुकृति होने के कारण सत्य से बहुत दूर पड जाते हैं। अरस्तू ने वस्तु-सत्य (वैज्ञानिक सत्य) और काव्य-सत्य का भेद स्पष्ट करते हुए 'काव्य-शास्त्र' के कई स्थलो पर अपने गुरु के भ्रम का निराकरण करने का सफल प्रयत्न किया है।

(क)" . कवि का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नही है, वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है। • (कवि और इतिहासकार मे) वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। परिणामत काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। सामान्य (सार्वभौम) से मेरा तात्पर्य यह है कि विशेष प्रकार का कोई व्यक्ति सम्भाव्यता अथवा आवश्यकता के नियम के अनुसार किसी अवसर पर कैसे बातचीत या व्यवहार करेगा। नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियो के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होता है।"—(काव्य-शास्त्र, पृ० २६)।

उपर्युक्त उद्धरण में काव्य-सत्य का अपूर्व 'दर्शन' निहित है। अरस्तू के तर्क और निष्कर्ष इस प्रकार हैं —

(१) सत्य के दो रूप है—एक व्यापक एव सार्वभौम, दूसरा सीमित एव विशेष। जो घटित हो चुका है, वह देश-काल की सीमा में बँध जाने के कारण सीमित और विशेष बन जाता है—उसको आधुनिक शब्दावली में तथ्य कहते है। इसके विपरीत जो सम्भाव्य है, अर्थात्—मानव-जीवन के विधान में जिसकी

सम्भावना रहती है, वह देश-काल की सीमा में परिबद्ध न होने के कारण व्यापक एवं सार्वभौम बना रहता है।

(२) सार्वभौम सत्य वह है, जो सम्भाव्यता और आवश्यकता के नियम के अनुसार सदा और सर्वत्र घटित हो सकता है। सम्भाव्यता और आवश्यकता के नियम से अरस्तू का अभिप्राय वास्तव में मानव-जीवन के विधान का है। मानव-जीवन के विधान के अन्तर्गत मानव-स्वभाव के सहज धर्म और प्रकृति का क्रिया-कलाप आता है। अरस्तू जीवन की एकता में विश्वास करते हैं, अत वे यह कहना चाहते हैं कि एक ओर मानव-चेतना और दूसरी ओर प्रकृति की क्रिया-प्रक्रिया कुछ विशेष नियमों के अधीन परिचालित है। इसे ही हम समग्र रूप में जीवन-विधान अथवा व्यापक अर्थ में मानव-जीवन का विधान कह सकते हैं। सार्वभौम सत्य इसी मानव-विधान की सहजानुभूति का नाम है।

(३) किन्तु काव्य का सत्य अमूर्त विचार या धारणा-रूप नहीं होता—उसका स्वरूप मूर्त और व्यक्त ही रहता है। कवि विशिष्ट नाम-रूपधारी व्यक्तियों को ही अपने काव्य का आधार बनाता है, परन्तु वह उनके विशिष्ट अपने-अपने व्यक्तित्व तक सीमित स्वभाव-धर्मों तथा व्यवहारों को ग्रहण न कर उन्हीं धर्मों तथा व्यवहारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जो 'साधारण' या सार्वभौम हैं। इस प्रकार काव्य 'नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से' ही सार्वभौमता की सिद्धि करता है।

(४) अत काव्य का यह सार्वभौम सत्य मूलत मानव-सत्य है।

(५) सार्वभौम सत्य स्वभावत वस्तु-सत्य की अपेक्षा महत्तर होता है। अस्तु काव्य-सत्य भी वस्तु-सत्य से भव्यतर होता है।

सारांश यह है कि काव्य के सत्य को वस्तुगत या घटित यथार्थ की कसौटी पर नहीं कसना चाहिए। जो है वही सत्य नहीं है, जो होना चाहिए, वह भी सत्य है—कदाचित् मानव की दृष्टि से अधिक सत्य है —

(ख) 'यदि आपत्ति की जाये कि कवि के वर्णन यथातथ्य नहीं हैं, तो कवि के पास इसका यह उत्तर हो सकता है—'पर वस्तुएँ जैसी होनी चाहिए वैसी तो हैं'।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ९७)

इसका अभिप्राय यह हुआ कि अरस्तू के अनुसार कवि के लिए वस्तुगत यथार्थ ही सत्य नहीं है, वरन् भावना की पूर्ति-रूप आदर्श भी सत्य है—कदाचित् अधिक सत्य है।

काव्य-सत्य का एक तीसरा पहलू भी है —

(ग) "यदि निरूपण उपर्युक्त दोनो में से किसी भी प्रकार का नही, तो कवि कह सकता है—'लोगो का कथन है कि वह वस्तु ऐसी ही है ।' देवताओ की कथाओ के विषय में यही कहा जा सकता है। हो सकता है कि न तो वे तथ्य मे उत्कृष्ट हैं, न तथ्य के अनुरूप ही। बहुत सम्भव है उनके विषय मे क्सेनोफनेस ने जो कहा है वही सत्य हो—' किन्तु कुछ भी हो कहा ऐसा ही जाता है।' इसका आशय यह हुआ कि परम्परागत मानव-विश्वास तथा मानव-धारणाएँ भी काव्य-सत्य के अतर्गत आ जाती है। ये न तो वस्तुगत यथार्थ के अनुरूप होती है और न आदर्श के अनुरूप ही, फिर भी मानव-विश्वासो पर आधृत होने के कारण इनमें भी काव्य-सत्य निहित है।"

काव्य-सत्य के अन्तर्गत सम्भव-असम्भव के प्रश्न पर भी अरस्तू ने प्रकाश डाला है। वस्तु-जीवन में जो असम्भव है, वह काव्य के लिए सर्वथा त्याज्य नही है। अरस्तू का स्पष्ट मत है "सामान्यत असम्भव का ग्रहण कलात्मक आवश्य-कताओ के, अथवा किसी भव्यतर सत्य, या परम्परागत धारणा के आधार पर न्याय्य ठहराया जा सकता है। जहाँ तक कला की आवश्यकताओ का प्रश्न है, सम्भाव्य असम्भावना को ऐसी घटना से अधिक अभिमत समझना चाहिए, जो सम्भव होने पर भी असम्भाव्य हो। हो सकता है कि ऐसे लोगो का अस्तित्व असम्भव हो, जैसे ज़ेउक्सिस ने चित्रित किये है। हम कहेगे—ठीक है, परन्तु असम्भव भव्यतर होता है।" —(काव्य-शास्त्र, पृ० ७१)

इसका अर्थ यह हुआ कि असम्भव भी काव्य-सत्य की परिधि में आ जाता है, किन्तु उसके पीछे कोई-न-कोई निश्चित उद्देश्य होना चाहिए, जिसके अनेक रूप हो सकते है, जैसे—

कलागत आवश्यकता,
वस्तु-सत्य से भव्यतर सत्य की प्रतिष्ठा,
परम्परागत धारणा या विश्वास ।

इस प्रकार का कोई भव्य या सुन्दर आधार होने पर अद्भुत, असगत, अति-प्राकृत आदि विभिन्न तत्त्व—अर्थात् वस्तु-जगत का 'असत्य' भी काव्य-सत्य के अन्तर्गत ग्राह्य हो जाता है। इस दृष्टि से काव्य वस्तु-जगत की स्थूल शब्दा-वली में असत्य-भाषण की कला सिद्ध होती है और अरस्तू कवि के लिए इस व्याज-स्तुति को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं—'कौशलपूर्ण असत्य-भाषण की कला दूसरे कवियो को सिखाने का बहुत-कुछ श्रेय होमर (होमेरस) को है।'

(काव्य-शास्त्र, पृ० ६५)। इसका कारण यह है, कि 'जो अद्भुत है वह आह्लादित भी करता है।'—निष्कर्ष यह है कि वस्तु-जगत का असत्य भी, यदि उसमें अद्भुत तत्त्व और उसके कारण प्रसादन की क्षमता विद्यमान है, तो काव्य-सत्य से वाहर नही है , किन्तु अरस्तू इसके लिए कुछ आवश्यक उपवन्धो की व्यवस्था करते हैं। उनकी यथार्थदर्शी प्रतिभा अतिचार का सहन नही कर सकती थी—असम्भव या असगत का अकारण प्रयोग उन्हे अग्राह्य था —

'जो कुछ विवेक-सगत न हो, उसे यथाशक्ति वचाना चाहिए—या कम-से-कम उमे नाटक के कार्य से वाहर रखना ही चाहिए। पहले तो ऐसे कयानक का निर्माण ही नही करना चाहिए , पर जव एक वार असगत (असम्भाव्य) का अन्त-र्भाव कर लिया गया और उसे ऐसा रूप दे दिया गया कि वह सम्भाव्य प्रतीत हो, तो वेतुका होने पर भी, वह हमारे लिए स्वीकार्य वन जाना चाहिए। अत: कवि को असम्भाव्य सम्भावनाओ की अपेक्षा सम्भाव्य असम्भावनाओ को प्राथ-मिकता देनी चाहिए'। (काव्य-शास्त्र, पृ० ६५)

उपर्युक्त उद्धरण का सम्वन्ध वस्तुत त्रासदी से है। यह ठीक है कि अरस्तू के अनुसार त्रासदी की अपेक्षा महाकाव्य में असगत आदि के लिए अधिक अवकाश है , किन्तु वहाँ भी वे उसके निर्बन्ध प्रयोग की अनुमति नही देते, अत इसे अरस्तू का सामान्य मत ही मानना चाहिए। उनका मन्तव्य यह है कि जो विवेक-सगत नही है, वह सामान्यत मानव-मन को ग्राह्य नही होता, अतएव उसका उपयोग यथासम्भव नही करना चाहिए। किन्तु यदि कही आवश्यक ही हो जाए तो उसको ऐसा रूप दे देना चाहिए जो सम्भाव्य प्रतीत हो, अर्थात्—उसमें सत्य का आभास उत्पन्न कर देना चाहिए। सत्य का आभास असगत को भी स्वीकार्य वना देता है।

इस विवेचन के परिणामस्वरूप अरस्तू के मत मे काव्य-सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है :

काव्य-सत्य वस्तु-सत्य या तथ्य का पर्याय नही है।

जो हो चुका है, हो रहा है या होता है वही सत्य नही है, वरन् जो हो सकता है, जो जीवन-विधान के अनुसार सम्भाव्य है, वह भी सत्य है।

वस्तु-जगत का यथार्थ ही सत्य नही है, मानव-आदर्श, मानव-विश्वास तथा परम्परागत मानव-धारणाएँ भी सत्य है।

वस्तु-जगत में जो असम्भव है, असगत है, वह भी किसी सुन्दर उद्देश्य की प्रेरणा से काव्य-सत्य की परिधि में आ जाता है।

काव्य का सत्य देश-काल की सीमा से मुक्त सार्वभौम तथा सार्वकालिक होने के कारण वस्तु-सत्य की अपेक्षा भव्यतर होता है।

किन्तु यह सत्य अमूर्त विचार-रूप नही होता—इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मूर्त और निश्चित ही होता है।

काव्य का सत्य निरकुश नही होता—विवेक का अकुश उस पर निश्चय ही रहना चाहिए।

एक वाक्य में, काव्य का सत्य मानव-सत्य का पर्याय है, वस्तु-सत्य का नही। वह मानव-भावना और कल्पना का सत्य है, जो विज्ञान के सत्य से—अधिक मानवीय होने के कारण—भव्यतर है।

अरस्तू और साधारणीकरण

काव्य-सत्य के उपर्यक्त विवेचन में अरस्तू ने काव्य के 'सर्व सामान्य' रूप का उद्घाटन करते हुए भारतीय रस-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध साधारणीकरण सिद्धान्त के विषय मे, प्रकारान्तर से, कतिपय पूर्व-सकेत दिये हैं। साधारणीकरण केवल भारतीय काव्य-शास्त्र का ही नही, वरन् काव्यालोचन मात्र का मूलभूत सिद्धान्त है। एक की भावाभिव्यक्ति सर्व-साधारण के आस्वाद का कारण किस प्रकार बनती है ?—यह वास्तव में काव्य-शास्त्र का पहला प्रश्न है। अरस्तू की क्रान्तदर्शी प्रतिभा इसकी उपेक्षा कैसे कर सकती थी ? काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत दो प्रसगो में उन्होंने इस प्रश्न की ओर सकेत किया है

(१) "कवि का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है, उसका वर्णन करना नही है, वरन् जो हो सकता है, उसका वर्णन करना है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योकि काव्य सामान्य (सर्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियो के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होता है।" (काव्य-शास्त्र, २६)

(२) "जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है, चाहे वह ख्यात हो या उत्पाद्य, कवि को सब से पहले एक सामान्य रूपरेखा तैयार कर लेनी चाहिए। और फिर उसमें उपाख्यानो का समावेश तथा विवरण-विस्तार करना चाहिए। सामान्य रूपरेखा का उदाहरण 'ईफिगेनिआ' से प्रस्तुत किया जा सकता है—एक युवती कन्या की बलि होने वाली है, वह बलिकर्ताओ की आँखो के सामने से रहस्यपूर्ण ढग से तिरोहित हो जाती है, उसे एक अन्य देश में स्थानान्तरित कर दिया जाता है, जहाँ हर अजनबी को देवी की भेंट चढा देने की प्रथा है। यह कार्य-

भार उसे सौंपा जाता है, कुछ समय पश्चात् सयोग से उसका अपना भाई ही वहाँ पहुँच जाता है। आकाशवाणी ने किसी कारणवश उसे वहाँ जाने के लिए प्रेरित किया था—यह तथ्य नाटक की सामान्य रूपरेखा से बाहर है। उसके वहाँ आने का प्रयोजन भी कार्य-व्यापार का अग नही है, किन्तु वह आता है, बन्दी कर लिया जाता है और जब बलि होने ही वाली है, तब उसके शब्दो से यह रहस्य खुल जाता है कि वह कौन है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ४६)

इन उद्धरणो के द्वारा अरस्तू ने काव्य-शास्त्र की इस मौलिक समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है कि काव्य में वर्णित 'विशेष' की अनुभूति सर्व-साधारण की अनुभूति कैसे बन जाती है। उन्होने इस प्रसग मे दो सकेत किये है। एक तो यह कि काव्य का वर्ण्य वास्तव में विशेष तथ्य नही होता—उसमें निहित सामान्य मानव-अनुभव होता है। जो घटित हो चुका है, वह देश और काल की सीमा मे आबद्ध विशेष तथ्य इतिहास का विषय है। उसका सम्बन्ध विशिष्ट व्यक्तियो मे था और सम्भव है, वे अब वर्तमान न हो। यो भी उनके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति उसमे रस क्यो लेगे ? अत कवि उसको ग्रहण न कर ऐसे विषयो को ग्रहण करता है, जो सहज मानव-अनुभव के विषय होते है—जिनका प्राय सभी सहृदय व्यक्ति अनुभव कर सकते है।

दूसरे उद्धरण में अरस्तू ने इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। वर्ण्य विषय तो, जैसा कि हमने काव्य-सत्य की व्याख्या के अन्तर्गत निर्देश किया है, विशेष ही रहता है। अर्थात् काव्य में विशिष्ट नाम-रूपधारी व्यक्तियो का और उनके जीवन में घटित विशेष घटनाओ का ही वर्णन होता है, परन्तु कवि उनके स्थूल रूप की उपेक्षा कर उनमें सन्निहित सामान्य मानव-अनुभव पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है, जिससे उनकी विशिष्टता गौण हो जाती है और सर्व-सवेद्य सामान्य रूप उभरकर सामने आ जाता है। उदाहरण के लिए ईफिगेनिआ की कथा लीजिए। अरस्तू का मत है कि कवि को विशिष्ट नाम और व्यक्तित्व को पृष्ठभूमि में रखकर पहले इस कथा के उन मौलिक तत्त्वो को उभारकर सामने रखना चाहिए जो सहज मानव-अनुभव के विषय है। ये तत्त्व एक विशेष देश-काल की नारी के जीवनानुभव मात्र नही रह जाते, ये तो ऐसे तत्त्व है जिनका अनुभव किसी भी देश और युग के मानव को हो सकता है, अत ये सर्व-सवेद्य है। यहाँ ईफिगेनिआ विशिष्ट नाम-रूपधारी स्त्री न रहकर सामान्य विपद्ग्रस्त नारी-मात्र रह जाती है, जो सभी के हृदय में स्थित मानव-करुणा के भाव को उद्बुद्ध करने में समर्थ है। 'नामरूप से विशिष्ट व्यक्तियो के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होता है।'

'नामरूप से विशिष्ट व्यक्तियो के माध्यम से सार्वभौमता की सिद्धि' भारतीय काव्य-शास्त्र मे प्रतिपादित प्रख्यात 'साधारणीकरण' व्यापार है—

भावकत्व साधारणीकरणम् । तेन हि व्यापारेण विभावदयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरण चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणा कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थिति । —काव्यप्रकाश (टीका) ।

अर्थात्—भावकत्व ही साधारणीकरण है। उस व्यापार से विभावादि और स्थायी भाव का साधारणीकरण हो जाता है। और साधारणीकरण का अर्थ है—सीतादि विशेषो का कामिनी रूप में उपस्थित होना।

इसी की व्याख्या करते हुए शुक्लजी ने लिखा है—'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नही लाया जाता कि वह सामान्यत सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नही आती है। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।' (चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२७)

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो का मूल भाव अन्तत एक है, परन्तु दोनो के उद्दिष्ट भिन्न है—भट्टनायक का उद्दिष्ट सहृदय है—सहृदय विभावादि को साधारणीकृत रूप मे ग्रहण करता है। शुक्लजी ने कवि के साधारणीकरण व्यापार का विवेचन किया है, यद्यपि अन्त मे उसकी परिणति सहृदय के अनुभव के साधारणीकरण के रूप में ही होती है। अरस्तू ने कवि के साधारणीकरण व्यापार का ही सकेत किया है। यो तो ईफिगेनिआ नामधारी विशेष की सामान्य रूप में उपस्थिति वही बात है, जिसे सस्कृत आचार्य ने 'सीतादि विशेषो की कामिनी रूप में उपस्थिति' कहा है। परन्तु एक में 'उपस्थिति' का अर्थ है सहृदय के मन में उपस्थिति और दूसरे में उसका अर्थ है कवि द्वारा उपस्थिति। अरस्तू कवि-व्यापार का विवेचन कर रहे है—वे प्रथमत यही कहना चाहते है कि समर्थ कवि विशेष को सामान्य रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु किसलिए ? इसलिए कि सहृदय विशेष का अनुभव नही कर सकता, सामान्य का ही कर सकता है, अत लक्ष्य उसका भी सहृदय के मन में साधारणीकृत रूप उपस्थित करना है।

साधारणीकरण किसका होता है ? अरस्तू ने भी आश्रय, आलम्बन तथा उनके अनुभवो (भावो) के ही साधारणीकरण का सकेत किया है। ईफिगेनिआ की कथा के उदाहरण में निश्चित रूप से सभी के साधारणीकरण का उल्लेख है—शुक्लजी द्वारा प्रस्थापित आलम्बन मात्र के साधारणीकरण का

नही। इस प्रकार अरस्तू की क्रांतदर्शी मेधा निश्चय ही समस्या के मूल तक पहुँच गयी है और उनके सकेतो मे उसका समाधान भी बीज रूप मे विद्यमान है, किन्तु ये सकेत ही है, भट्टनायक आदि का वह व्यवस्थित सूक्ष्म-गहन विवेचन इनमें कहाँ है?

काव्यगत नैतिक मूल्य

काव्य और नैतिकता का परस्पर सम्बन्ध काव्य-शास्त्र का एक मौलिक प्रश्न है और अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नो की भाँति अरस्तू ने इस पर भी प्रसगानुसार प्रकाश डाला है। नैतिकता जीवन का आधारभूत तत्त्व है, अरस्तू की स्वस्थ जीवन-दृष्टि उसकी उपेक्षा नही कर सकती थी, परन्तु उनके मन में काव्य-मूल्यो के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति नही थी। काव्य का चरम मूल्य उसके द्वारा उपलब्ध विशिष्ट आनन्द ही है, नैतिकता नही है—इस विषय मे अरस्तू का मत सर्वथा निर्भ्रान्त है। 'जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक कला को किसी सायोगिक नही, अपितु एक विशिष्ट आनन्द की सृष्टि करनी चाहिए।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ७४)। केवल नैतिक भावना के परितोष को वे सत्काव्य के लिए पर्याप्त नही मानते—'किसी अत्यन्त खल पात्र का पतन दिखाना भी सगत नही है—इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नही हो सकेगा..।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ३२)। त्रासदी तथा महाकाव्य के चार भेदो में नैतिक और करुण को इसी दृष्टि से पृथक् रखा गया है—'त्रासदी चार प्रकार की होती है: १—जटिल, २—करुण, जिसका प्रेरक हेतु आवेग होता है, ३—नैतिक (जहाँ प्रेरक हेतु नैतिक होता है) और ४—सरल।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ४८)

परन्तु काव्य का उद्दिष्ट विशेष आनन्द अनैतिक नही हो सकता, इस विषय मे भी अरस्तू को कोई भ्रान्ति नही है—"साथ ही उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नही रहना चाहिए, क्योंकि त्रासदी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नही हो सकती। इसमे त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नही है। इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्बुद्धि ही।" (काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ३२)। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि सत्काव्य के प्रभाव मे नैतिक भावना का परितोष अप्रत्यक्ष रूप से निहित रहता है। अनैतिकता को कलात्मक सृष्टि के लिए सर्वथा वर्जित न मानते हुए भी अरस्तू उसको किसी प्रकार प्रोत्साहित

नही करते। निरुद्देश्य असगति तथा अनैतिक आचरण की उन्होने स्पष्ट शब्दो में भर्त्सना की है—"असगति और इसी प्रकार कदाचरण के समावेश का यदि कोई आन्तरिक प्रयोजन न हो, तो उनकी अभिशसा करना युक्तियुक्त ही है।" (काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ७२)। उनके विचार से वास्तव में काम्य स्थिति तो वह है, जहाँ कलात्मक प्रभाव नैतिक भावना की तुष्टि कर सके, अर्थात्—जहाँ नैतिकता और कलाजन्य आनन्द का सामजस्य हो—'ऐसा कारुणिक प्रभाव उत्पन्न करने में जो नैतिक भावना का परितोप करे' (काव्य के सर्वोत्कृष्ट रूप) त्रासदी की सफलता है।

इस प्रकार अरस्तू के मत से—कलागत मूल्यो और नैतिक मूल्यो में स्पष्ट भेद है। काव्य का वास्तविक उद्देश्य विशिष्ट प्रकार के आनन्द की सिद्धि है, नैतिक भावना का परितोप नही। इस दृष्टि से उपर्युक्त कलात्मक उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनैतिक तत्त्व भी काव्य मे क्षम्य हो सकते है।

किन्तु अनैतिक तत्त्व काव्य का अनिवार्य या सहज अग नही है। यदि वह किसी आन्तरिक उद्देश्य की सिद्धि नही करता, तो काव्य में उसका समावेश अनुचित है।

सामान्यत नैतिक मूल्यो और कलागत मूल्यो मे कोई नैतिक विरोध नही होना चाहिए। नैतिक भावना का परितोष काव्यजन्य आनन्द की उपलब्धि में सहायक ही होता है।

अत कलागत मूल्यो तथा नैतिक मूल्यो का समन्वय ही काव्य की चरम सिद्धि है—कलात्मक प्रभाव की पूर्णता नैतिक भावना के परितोष द्वारा ही सम्भव है।

विवेचन

अन्य प्रसगो की भाँति यहाँ भी अरस्तू ने अपने सतुलित विवेक का परिचय दिया है। काव्य और नैतिकता अथवा काव्य और सदाचार का प्रश्न सदा से ही किसी-न-किसी रूप में आलोचको का ध्यान आकृष्ट करता रहा है। स्पष्ट शब्दो में यह विवाद काव्यगत सौन्दर्य और शिव से सम्बद्ध है। काव्य की सिद्धि सौन्दर्य की सृष्टि और उसके द्वारा मन का प्रसादन-मात्र है, अथवा जीवन के मागलिक मूल्यो की प्रतिष्ठा और उनके द्वारा लोक-मगल?—प्रश्न का मूल रूप यह है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में इस विवाद के बीज आरम्भ से ही मिलते है। अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने, वरन् प्लेटो से भी पूर्व एरिस्तोफनेस ने दर्शन और काव्य

के इस विवाद की ओर स्पष्ट संकेत किया है। उनकी 'फ्राग्स' नामक व्यंग्य-कामदी में ऐस्ख्युलस अपने प्रतिद्वन्द्वी एउरिपिदेस से प्रश्न करता है—

ऐस्ख्युलस—कवि की प्रतिष्ठा के आधार क्या है ?

एउरिपिदेस—क्या उसकी कला सत्य है ? उसकी शिक्षा उचित है ? और क्या वह किसी रूप में मनुष्यों के चरित्र का सुधार कर राष्ट्र की सेवा करता है ?[१]

इसी प्रसंग में आगे चलकर ऐस्ख्युलस कहता है—होमर (होमेरस) का मस्तक जिस गौरव-गरिमा से मण्डित है, वह भी इसी प्रकार नैतिक आदर्शों पर ही आधृत है।[२]

इन उद्धरणों में 'उचित शिक्षा', 'चरित्र-सुधार' और 'नैतिक आदर्शों' के द्वारा काव्य में अत्यन्त व्यक्त रूप से नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी है।

प्लेटो का मत तो सर्व-विदित ही है। उन्होंने सत्य और शिव को ही निकष बनाकर काव्य की गर्हणा की है।

होमर की आलोचना करते हुए प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गणराज्य' में लिखा है—'किन्तु ग्लाउकोन सोचो, यदि होमर मनुष्यों को शिक्षा देने और उनका सुधार करने में समर्थ होता, यदि वह केवल अनुकरण में ही नहीं, वरन् उन विषयों के परिज्ञान में सफल होता, तो क्या उसके अनेक अनुयायी न होते, जो उससे प्रेम करते और उसका आदर करते !'

कवि के विरुद्ध उनका निर्णय स्पष्ट है—'अतएव हम न्यायपूर्वक एक सुशासित नगर में उसका (कवि का) प्रवेश निषिद्ध कर सकते है, क्योंकि वह आत्मा के इस पक्ष (आवेग) को उद्बुद्ध, पोषित और दृढ करता है तथा विवेक पक्ष को नष्ट करता है।'[३]

इसी प्रकार काव्य के समर्थकों का आह्वान करते हुए इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उन्होंने लिखा है—'(क्योंकि) यदि वे यह सिद्ध कर सके कि कविता मनोरंजक होने के साथ उपयोगी भी है, तो इससे बड़ा लाभ होगा।'[४]

अरस्तू ने कदाचित् इसी आह्वान को स्वीकार कर अपने 'काव्य-शास्त्र' में काव्य के भव्यतर सत्य और शिव का अत्यन्त तर्कपूर्ण रीति से प्रतिपादन किया है।

१—ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म (डेनिस्टन), पृ० १२,
२—ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज्म (डेनिस्टन), पृ० १४
३— " " " " पृ० ८४
४— " " " " पृ० ८८

अरस्तू के उपरात यूरोप के काव्य-शास्त्र के इतिहास मे इस प्रश्न पर निरतर विवाद रहा है। वहाँ इसके पक्ष-विपक्ष को लेकर आलोचको के कई वर्ग बन गये है। एक वर्ग उन आलोचको का है जो नैतिक मूल्यो को ही काव्य का आधार मानते हैं। प्राचीनो में होरेस ने, सत्रहवी शती मे मिल्टन आदि ने, उन्नीसवी शती में रस्किन जैसे विचारको ने अत्यन्त दृढता के साथ काव्य में नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठा की है और शुभाशुभ की धारणाओ तथा बहुजन-हित के आदर्शों को काव्य का मानदण्ड घोपित किया है।

"किसी राष्ट्र की कला उसकी नैतिक स्थिति की द्योतक है।" (रस्किन . लेक्चर्स ऑन आर्ट। ३।६७) उन्नीसवी शती के अन्त मे रूसी साहित्यकार टाल्सटाय ने आनन्द और सौन्दर्य का निपेध करते हुए मानव-एकता को कला का उद्देश्य घोपित किया—"अन्त में यह (कला) आनन्द नही है, वरन् मानव-एकता का साधन है, जो मानव-मानव को सह-अनुभूति के द्वारा परस्पर सम्बद्ध करती है।" (कला क्या है? १८९८ ई०)।

इधर मार्क्स के अनुयायी बीसवी शती के काडवेल आदि प्रगतिशील आलोचको ने भी अपने दृष्टिकोण से जनहित को ही काव्य की अतिम कसौटी माना है—जनजीवन के लिए उपयोगी तथा सामाजिक चेतना के विकास में सहायक तत्त्व ही काव्य के सच्चे मान है।

वस्तुत इस नीतिवादी वर्ग के अन्तर्गत तीन उपवर्ग है १—जो काव्य मे रूढ अर्थ में सदाचार अर्थात् धर्माधर्म पर आश्रित नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठा करता है— रस्किन आदि। २—जो मानव के सुख-दुःख, शक्ति और दुर्बलता पर आश्रित करुणामूलक मानवीय मूल्यो को ग्रहण करता है, जैसे टाल्सटाय आदि। ३—जो मानव-समाज के भौतिक उत्कर्ष के साधक सामाजिक मूल्यो को प्रमाण मानता है—काडवेल आदि। इन तीनो उपवर्गों का मूल आधार एक है—ये सभी आलोचक या तो सौन्दर्य का निषेध करते है, या उसको शिव के अधीनस्थ मानते है, या फिर सुन्दर को शिव से अभिन्न मानते है।

प्रतिपक्ष में भी आलोचको के दो उपवर्ग है। एक तो वे है जो काव्य में नैतिक मूल्यो को सर्वथा अस्वीकार करते है। विक्टर ह्यूगो, स्विनबर्न और 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के प्रतिपादक सभी आलोचक—पेटर, ह्विसलर, आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले, क्लाइव वेल आदि इस वर्ग के अन्तर्गत आते है। इनका विश्वास है कि काव्य अथवा कला अपना उद्देश्य आप ही है। सौन्दर्य की सृष्टि अपने आप मे अपनी सिद्धि है, उसके अतिरिक्त किसी नैतिक प्रयोजन की पूर्ति काव्य के लिए अप्रासगिक है। काव्य का ससार अपने आप में

स्वतत्र एक निराला ससार है, अत सामान्य लोक-नियम तथा रीति-नीति आदि का उसके साथ कोई सम्बन्ध नही है। " कविता का मूल्य उसके नैतिक अर्थ या प्रयोजन पर किसी प्रकार निर्भर नही रहता, वर्जिल द्वारा सीजर का अथवा ड्राइडन द्वारा स्टुअर्ट नृपति का यशोगान देश-भक्ति अथवा स्वातन्त्र्य-प्रेम से अनुप्रेरित वेवियस या सैटिल द्वारा व्यक्त अत्याचार के प्रति उदात्त से उदात्त आक्रोश की अपेक्षा अधिक काम्य है।" स्विनवर्न—(ऐसेज एड स्टडीज)।

दूसरा उपवर्ग ऐसे आलोचको का है जो आनन्द को काव्य का एकमात्र या प्रमुख प्रयोजन मानते हैं। शिलर, कॉलरिज, शैले आदि रोमानी आलोचक प्राय इसी वर्ग में आते हैं। "समस्त कला का लक्ष्य है आह्लाद, मानव-सुख से अधिक उदात्त और गभीर कोई समस्या नही है।" (शिलर)

इनमें और कलावादियो में अन्तर यह है कि ये कला को निष्प्रयोजन नही मानते। सौन्दर्य की सृष्टि में ये भी विश्वास करते है, किन्तु वह निरुद्देश्य नही है—आनन्द उसका निश्चित उद्देश्य है। यह आनन्द पार्थिव आनन्द से भिन्न है, इसमें अनिर्वचनीय तत्त्व का समावेश है, परन्तु यह न तो कोई आकस्मिक घटना है और न आनुषगिक लब्धि मात्र है—यह काव्य का परम प्राप्य है। काव्य का चरम मूल्य यह आह्लाद ही है—नैतिक मूल्य काव्य के सहज मूल्य नही है। यदि वे आह्लाद के साधक है तो काव्य में ग्राह्य है और यदि बाधक हैं तो अग्राह्य।

इस प्रकार नैतिक मूल्यो के विषय में उपर्युक्त दोनो उपवर्गों का दृष्टिकोण समान है—काव्य को ये नीति-विरोधी तो नही मानते; परन्तु नीति-निरपेक्ष अवश्य मानते है। वास्तव में इन दोनो का आधार प्राय एक ही है—'कला कला के लिए' सिद्धान्त आह्लाद-सिद्धान्त का ही विकास है और इस दृष्टि से कलावादियो को आह्लादवादी आलोचको की ही बौद्धिक सन्तान माना जा सकता है।

इन दोनो अतिवादो के बीच एक तीसरा मध्यम मार्ग भी है, जो अधिक संतुलित और विवेकपूर्ण है। प्राचीनो में रोमी मनीषी सिसरो, यूनानी आचार्य लाजाइनस, अठारहवी शती में ड्राइडन तथा गेटे और आधुनिको में मैथ्यू आर्नल्ड आदि ने इसी को ग्रहण किया है। ये आलोचक नैतिकता और आनन्द में, शिव और सुन्दर में कोई विरोध न मानकर नैतिक सौन्दर्य को काव्य का लक्ष्य मानते है। कजिन के शब्दो में 'कला का उद्देश्य नैतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है।' ये एक ओर नैतिकता को रूढ़ियो से मुक्त कर उसे जीवन का व्यापक मानवीय आधार प्रदान करते हैं और दूसरी ओर आनन्द

को मनोरजन अथवा स्नायविक उत्तेजना से भिन्न परिष्कृत एव स्वस्थ रूप में ग्रहण करते है। इनका तर्क यह है कि जो जीवन के लिए कल्याणकारी नही है, वह आनन्द का विपय नही बन सकता—इसके विपरीत स्वस्थ आनन्द निश्चित रूप से जीवन के लिए हितकर है। अपने चरम रूप मे आनन्दवादी मूल्यो और नैतिक मूल्यो मे कोई भेद नही रह जाता। सदाचार की साधना आनन्द के लिए ही तो की जाती है, और उधर स्थायी आनन्द जीवन के उत्कर्पक मूल्यो के द्वारा ही सम्भव है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इस दृष्टिकोण की अत्यन्त मार्मिक व्याख्या की है—"नैतिकता को प्राय सकीर्ण और अशुद्ध अर्थ मे ग्रहण किया जाता है, उसका सम्बन्ध ऐसे विचारो और विश्वासो के साथ स्थापित किया जाता है जिनका समय बीत चुका है। वह अब रूढिवादियो और व्यावसायिक लोगो के हाथ में पड गयी है, उससे कुछ लोग ऊब उठते है। कभी कभी हमें उसके विरुद्ध विद्रोह रुचिकर प्रतीत होने लगता है—ऐसी कविता में रस आने लगता है, जो उमर खैयाम के इन शब्दो को सिद्धान्त-वाक्य मानकर चलती है 'जो समय हमने मसजिद में नष्ट किया है, उसकी क्षति-पूर्ति, आओ, मदिरालय में चल कर करें।' अथवा हमको ऐसी कविता में अभिरुचि हो जाती है जिसमें नैतिक मूल्यो की उपेक्षा रहती है, ऐसी कविता में जिसकी विपय-वस्तु चाहे जैसी हो किन्तु रूपाभिव्यजना कौशलपूर्ण तथा रमणीय होती है। ये दोनो ही आत्म-प्रवचना की स्थितियाँ है—और इस आत्म-प्रवचना का सबसे सफल उपचार यह है कि हम उस उदात्त एव अक्षय-अर्थवान् शब्द 'जीवन' पर अपना ध्यान केन्द्रित कर उसकी आत्मा का साक्षात्कार करना सीखें। नैतिक मूल्यो के प्रति विद्रोही काव्य जीवन के प्रति विद्रोही है, नैतिक मूल्यो के प्रति पराङमुख काव्य जीवन के प्रति पराङमुख है।"[१]

भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य-प्रयोजन को अनुबन्ध-चतुष्टय का प्रमुख अग मानकर उसका अत्यन्त गभीर विवेचन किया गया है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न कभी विवाद का विषय नही रहा। प्राय सभी आचार्य काव्य-प्रयोजन के विषय में एकमत रहे है। अवधान का थोडा-बहुत अन्तर अवश्य रहा है, पर इसको लेकर कभी दो विरोधी दल खडे नही हुए। भरत ने काव्य को धर्म की ओर प्रवृत्त करने वाला (धर्म्य) और लोकोपदेशक कहा है। उधर भामह ने उसे पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधक माना है, जिसको रुद्रट, और विश्वनाथ आदि ने भी यथावत् ग्रहण किया है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। (विश्वनाथ)

१—एसेज इन क्रिटिसिज्म।

यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है आनन्द ·

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते—(कुन्तक-व० जी० १, ५)
काव्य के द्वारा चतुर्वर्गफल-प्राप्ति से भी अधिक काम्य अन्तश्चमत्कार की उपलब्धि होती है।—अर्थात् काव्य के दो मूल प्रयोजन है (१) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि—दूसरे शब्दो मे एहिक और आमुष्मिक जीवन की सफलता और (२) आनन्द। ये दोनो सिद्धियाँ परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। चतुर्वर्ग की परिणति यदि आनन्द में न हो, तो उसका प्रयोजन ही क्या? और, सफल जीवन के विना आनन्द की ही स्थिति क्या? इसमें सदेह नही कि इन दोनो में रसास्वाद-जन्य अन्तश्चमत्कार को अधिक महत्त्व दिया गया है—उसे ही सकलप्रयोजनमौलिभूत कहा गया है, परन्तु उसमें नैतिक मूल्यो का तिरस्कार अथवा उपेक्षा नही है। रस को काव्य का प्राण मानते हुए भी भारतीय काव्य-शास्त्र के अग्रणी आचार्यों ने उसके लिए औचित्य का आधार अनिवार्यत माना है—'औचित्योपनिवन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा।' (ध्वन्यालोक)। यो तो औचित्य के अनेक रूप है, परन्तु उन सवमें प्रमुख है नैतिक औचित्य जिसके अभाव में रस दुष्ट होकर रसाभास वन जाता है। वास्तव में भारतीय रस-कल्पना के पीछे नैतिक आधार इतने सहज रूप मे वर्तमान रहा है कि यहाँ दोनो मे किसी प्रकार के विरोध की सभावना ही नही हुई। यहाँ सत्त्व का उद्रेक रस की आवश्यक भूमिका मानी गयी है। अत विभाव, अनुभाव, स्थायी, सचारी सभी के निरूपण में सत्-असत् का विवेक रहा है, परन्तु यह नैतिक विवेक परिपाक की प्रक्रिया तक ही रहता है रसोद्रेक की अवस्था अखण्ड आनन्द की अवस्था है, जहाँ सदसद्, नैतिक-अनैतिक का कोई ज्ञान नही रहता। इस प्रकार भारतीय काव्य-शास्त्र में नैतिक मूल्यो और आनन्दवादी मूल्यो मे सहज सामजस्य रहा है—नैतिक मूल्यो के आधार पर ही काव्य के द्वारा आनन्द की सिद्धि होती है। प्राधान्य निश्चय ही आनन्द का रहा है—और आनन्द परिपाक की पूर्णता मे नैतिक भेदाभेद से मुक्त शुद्ध- वुद्ध माना गया है, परन्तु उसका आधार निश्चित रूप से सदाचार ही रहा है।

हिन्दी के काव्य-शास्त्र में नैतिक मूल्यो की सवसे प्रवल प्रतिष्ठा प्राचीनो में गोस्वामी तुलसीदास ने और अर्वाचीनो में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की है। तुलसीदास का निश्चित मत है—

कीरति, भनिति, भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

अर्थात्—काव्य का मुख्य उद्देश्य है सर्वहित। इसी को दृष्टि में रखकर तुलसी ने अपने काव्य की रचना की है। यद्यपि रामचरितमानस के आरम्भ मे उन्होने यह घोषणा की है कि मैं रघुनाथ-गाथा का निबन्धन स्वान्त सुखाय ही कर रहा हूँ, फिर भी उनका स्वान्त सुख लोकसुख का ही पर्याय बन गया था। इसीलिए अपने मगलश्लोक में वे वाणी और विनायक की साथ-साथ वन्दना करते है। वाणी और विनायक का यह युगपत् स्मरण उनकी काव्य-दृष्टि को और भी स्पष्ट कर देता है—वाणी काव्य-सौन्दर्य की प्रतीक है और विनायक लोक-मगल के, अतएव उन दोनो के सहयोग से कवि अपने काव्य में सुन्दर और शिव दोनो को सिद्ध करने की प्रार्थना करता है। सुन्दर और शिव की यह सिद्धि ही तुलसी के मत से काव्य का उद्देश्य है। अर्वाचीनो में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय काव्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र एव मनोविज्ञान आदि के द्वारा इसी सिद्धान्त को शास्त्रीय भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है—

"भीतरी और बाहरी सौन्दर्य, रूप-सौंदर्य और कर्म-सौन्दर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिल्कुल छूट भी नही सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के लिए कला की रहस्यमयी प्रेरणा है. । मगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं, वैसा ही उनका रूप-माधुर्य और शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय आकृति और गुण-सौन्दर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है।" (रस-मीमासा, पृ० ६०-६१)

अरस्तू का मत उपरि-विवेचित मतो में से किसके अनुकूल है? स्पष्टत: पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के दोनो अतिवादो के साथ उसकी सगति नही बैठती। वे आनन्द को काव्य की मूल सिद्धि मानते है और काव्यगत मूल्यो को नैतिक मूल्यो से पृथक् रखते हैं, परन्तु नैतिकता का न तो निषेध करते है, न उपेक्षा। कला या काव्य की स्वतत्र सत्ता और स्वतत्र प्रयोजन मानते हुए भी वे 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के समर्थको की भाँति उसे नीति-निरपेक्ष नही मानते। इसी प्रकार नीतिवादियो की भाँति वे नैतिक मूल्यो को काव्य का प्रमुख उद्देश्य भी नही मानते—उनका स्पष्ट मत है कि केवल नैतिक भावना का परितोष काव्य की कसौटी नही है। अरस्तू के विवेचन का मूल आधार इतना विवेक-पुष्ट है कि इस प्रकार के अतिवाद उनको स्वीकार्य हो ही नही सकते। उन्होने वास्तव में यहाँ भी सामान्य बुद्धि द्वारा अनुमोदित मध्यम मार्ग ही ग्रहण किया है और काव्य में आनन्दवादी मूल्यो को प्रधानता देकर भी उनको नैतिक मूल्यो द्वारा पोषित माना है। इस प्रकार नैतिक मूल्य उनके मत से

मिद्धि न होकर काव्य के पोषक अग है—परन्तु अपने व्यापक रूप मे ही, स्थूल और सकीर्ण रूप में नही। ड्राइडन, मैथ्यू आर्नल्ड आदि का भी यही मत है। वास्तव में अभिजात्यवादी काव्य-दर्शन का यही दृष्टिकोण रहा है, और इनका मूल मकेत अरस्तू मे ही प्राप्त हुआ है।

साराश—साराश यह है कि अरस्तू के अनुसार काव्य का मुख्य प्रयोजन है विशिष्ट आनन्द। इसके अतिरिक्त ज्ञानार्जन और व्यापक अर्थ में मानव-सत्य की शोध भी उसकी उपलब्धियाँ है। नैतिक मूल्यो का स्थूल रूप में प्रस्थापन काव्य का अभीष्ट नही है, परन्तु उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अर्थात् विशिष्ट आनन्द तथा मानव-सत्य की सिद्धि के लिए नैतिक भावना का परितोष भी प्राय आवश्यक ही है। सारत उनके मत से ये ही काव्य के प्रयोजन हैं।

काव्य-हेतु

काव्य-हेतुओ के विषय में भी अरस्तू का मत सामान्य विवेक-सम्मत एव सतुलित है। यूनान के आरम्भिक विचारको में काव्य को दैवी प्रेरणा से उद्भूत और कवि को अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न मानने की प्रवृत्ति थी। होमर ने अपने दोनो महाकाव्यो के मगलाचरण में दैवी प्रेरणा का आवाहन किया है —

१—देवी ! अखिल्लेस पेलेउस के क्रोध के गान गाओ। (ईलिअद)

२—जेउस की आत्मजे ! उस यायावर की कथा का गान करो !

ओद्युस्सेइआ (ओडिसी)

इसी प्रकार हेसिओद ने भी लिखा है कि जब मै पर्वत पर मेष-चारण कर रहा था, तब वाग्देवता ने मेरे मानस को काव्य की दिव्य प्रेरणा से अन्त स्फूर्त कर दिया।

यह धारणा प्लेटो तक किसी न किसी रूप में वर्तमान रही , किन्तु धीरे-धीरे वहाँ व्यावहारिक दर्शन का विकास हुआ और अरस्तू ने अत्यन्त निरावेग मन से काव्य का भी विवेकपरक व्याख्यान प्रस्तुत किया।

दैवी प्रेरणा का निषेध

उन्होने दैवी प्रेरणा आदि रहस्यात्मक कारणो को छोड मानव-स्वभाव की दो प्रवृत्तियो में काव्य के मूल कारणो का अनुसन्धान किया। ये दो प्रवृत्तियाँ है—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति, (२) सामजस्य की प्रवृत्ति। मनुष्य अनुकरण के द्वारा ही ज्ञानार्जन कर आनन्द प्राप्त करता है, अत अनुकरण

की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव मे निसर्ग-जात है। उधर, सामजस्य और लय की प्रवृत्ति भी उसमें उतनी ही स्वाभाविक है—मानव-मन अनेकता मे एकता स्थापित कर, जीवन की गति मे लय का विधान अपने स्वभाव की प्रेरणा से ही करता है। इन दोनो—अनुकरण और सामजस्य—के योग से काव्यकरण-प्रवृत्ति का विकास होता है। वास्तव मे अनुकरण और समजन का योग ही पुनरुत्पादन का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार काव्य का मूल हेतु दैवी प्रेरणा न होकर मानव-स्वभाव की प्रवृत्ति ही है, जिसका प्रयत्नपूर्वक उचित विकास किया जा सकता है।

अरस्तू के दोनो ग्रन्थो—काव्य-शास्त्र और भाषण-शास्त्र—के अध्ययन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि उनके मत से काव्य एक कला है—उसका एक निश्चित रीति-विधान है, जिसके सम्यक् परिपालन से नैपुण्य का अर्जन किया जा सकता है। काव्य-शास्त्र और भाषण-शास्त्र के विस्तृत रचना-सकेत इस तथ्य के अकाट्य प्रमाण है कि उनके अभ्यास से कवि-कर्म में सफलता प्राप्त करना सम्भव था। इस प्रकार अरस्तू ने निश्चय ही निपुणता और अभ्यास पर यथेष्ट बल दिया है, जो मानव-प्रयत्न-साध्य गुण है। काव्य के कला-रूप को इतना अधिक महत्व देने का अर्थ भी यही है, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उन्होने प्रतिभा की उपेक्षा की है। भाषण-शास्त्र मे एक स्थल पर उन्होने स्पष्ट लिखा है कि कविता अन्तःस्फूर्त वस्तु है।[1] काव्य-शास्त्र में भी अनेक प्रसगो में प्रतिभा का स्पष्ट उल्लेख है। उदाहरण के लिए —

(१) 'ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में भी अपनी सहज प्रतिभा अथवा निपुणता के बल पर उसने (होमर ने) सत्य का साक्षात्कार कर लिया था।'[2]

(२) 'इस (लाक्षणिक प्रयोग के) कौशल का उपार्जन नही हो सकता, यह तो प्रतिभा का लक्षण है।'[3]

(३) 'अत काव्य-सृजन के लिए कवि में प्रकृतिदत्त प्रतिभा अथवा ईषत् विक्षेप आवश्यक है। पहली स्थिति मे कवि किसी भी चरित्र के साथ तादात्म्य कर सकता है और दूसरी मे वह 'स्व' की भूमिका से ऊपर उठ जाता है।'

१—भाषण-शास्त्र, ३।७, ११

२—काव्य-शास्त्र, पृ० २८

३—काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ६१

उपर्युक्त उद्धरणो में प्रतिभा के महत्त्व की स्वीकृति असदिग्ध है—वस्तु-सघटन, भाव तथा शील के चित्रण, और अभिव्यजना—काव्य-सृजन के इन तीनो अगो के लिए ही प्रतिभा की अनिवार्य अपेक्षा है।

यूरोप के काव्य-शास्त्र मे अरस्तू तथा उनके पूर्ववर्ती-परवर्ती आचार्य प्रतिभा की अपने-अपने ढग मे व्याख्या करते रहे हैं—आज मनोविज्ञान के विकास के साथ प्रतिभा-सम्बन्धी धारणा में और भी परिवर्तन हुआ है, परन्तु कदाचित् उसका मूल अर्थ बहुत नही बदला। (क) आरम्भ में प्रतिभा के सम्बन्ध में यह कल्पना थी कि वह किसी दैवी शक्ति की अन्त स्फुरणा है—प्रातिभ सर्जना के क्षणो मे कोई दैवी शक्ति कवि की आत्मा पर अधिकार कर स्वय ही उसकी वाणी से बोल उठती है। भारतीय चिन्तन में सरस्वती के विषय में भी इसी प्रकार की रहस्यमयी कल्पना विद्यमान है। (ख) विवेकपूर्ण विचार-प्रणाली के विकास के साथ-साथ उपर्युक्त अतिप्राकृत कल्पनाओ का ह्रास होता गया और मानव-जीवन के अन्तर्गत ही प्रतिभा की परिभाषाएँ की गई। आत्मा की अन्त स्फुरणा को उसका मूल आधार माना गया। यह असाधारण अवस्था एक प्रकार के विक्षेप[1] के रूप में मान्य हुई। यूरोप मे, मध्ययुग मे, उसके बाद पुनर्जागरण काल में, और आगे १९ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक स्वच्छन्दतावादी काव्य-दर्शन में इस धारणा का ही प्राबल्य रहा। अन्य शक्तियो की अपेक्षा अत्यधिक सवेदनशील होने के कारण कवि के लिए इस प्रकार की अवस्था सहज स्वाभाविक होती है। भारतीय काव्य-शास्त्र में अभिनवगुप्त[2] ने इसे 'रसावेश की स्थिति' कहा है और महिम भट्ट[3] के अनुसार यह चित्त की वह असाधारण स्थिति है जब कवि की प्रज्ञा पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्बुद्ध हो जाती है। (ग) आज के वैज्ञानिक युग में आकर प्रतिभा का सम्बन्ध चेतना के अन्तर्द्वन्द्व और वश-प्रभाव आदि के साथ स्थापित किया गया। हमारे काव्य-चिन्तन मे कुन्तक आदि ने वश-प्रभाव के स्थान पर प्राक्तन जन्म-सस्कार को प्रतिभा का मूल कारण माना है।

अरस्तू ने कवि-प्रतिभा के स्वरूप और धर्म का पृथक् विवेचन नही किया, परन्तु उपरिलिखित उद्धरणो में उनकी धारणा बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती है।

१—मैनी

२—प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्या विशेषो रसावेशवैशद्य-सौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्।

३—रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतन ।
क्षण स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवे ॥

प्रतिभा का स्वरूप—(१) प्रतिभा के स्वरूप के विषय में दैवी शक्ति के प्रवेश की कल्पना अरस्तू को मान्य नही थी। उनके पुष्ट विवेक ने इस प्रकार की रहस्य-कल्पनाओ को दृढता के साथ अस्वीकार किया है। (२) प्राक्तन जन्म में उनको कदाचित् विश्वास न था और वश-प्रभाव आदि की धारणाएँ भी उस समय तक बहुत स्पष्ट नही हुई थी। (३) उन्होंने तो प्रतिभा को आत्मा की सहजात शक्ति अथवा अन्त प्रेरणा के रूप में ही ग्रहण किया है। यह लोक-शास्त्र द्वारा अर्जित ज्ञान अथवा निपुणता और रचना-अभ्यास जैसे प्रयत्न-साध्य गुणो से भिन्न है। (४) अपनी असाधारणता के कारण प्रतिभा की अभिव्यक्ति ईषत् विक्षेप के समान होती है जब कि सामान्य व्यवहार-विवेक और उस पर आधृत तर्कसम्मत वस्तु-सम्बन्ध-ज्ञान नष्ट हो जाता है।

प्रतिभा के धर्म—(१) प्रतिभा के प्रभाव से कवि 'स्व' की भूमिका से ऊपर उठ जाता है और काव्य-निबद्ध पात्रो के भावो का यथावत् अनुभव करने लगता है। प्रतिभा का यह आन्तरिक और मौलिक धर्म है। (२) दूसरा धर्म है काव्योचित का ग्रहण और अकाव्योचित का त्याग, जिसके द्वारा कवि वस्तु-सघटन तथा अभिव्यजना आदि में सिद्धि-लाभ करता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में आरम्भ से ही प्रतिभा का बड़ा महत्त्व रहा है और प्राय सभी प्रमुख आचार्यों ने उसका विवेचन किया है। सारत भारतीय आचार्यो के मत से प्रतिभा रसावेश से प्रेरित प्रज्ञा का एक रूप है, अपूर्व-वस्तु-निर्माण उसका प्रमुख धर्म है और प्राक्तन जन्म-सस्कार उसका कारण है। अरस्तू ने प्रतिभा के कारण का उल्लेख नही किया। कुछ व्यक्तियो मे दूसरो की अपेक्षा आत्मा की सहजात शक्ति का आधिक्य होता है , ये व्यक्ति साधारण न होकर असाधारण होते है—नाना-वैचित्र्य-रूप ससार मे ऐसा प्रकृत्या दृष्टिगोचर होता है। अरस्तू की सामान्य विवेक-बुद्धि ने उसे यथावत् स्वीकार कर लिया। प्राक्तन जन्म अथवा वश-प्रभाव आदि मे उसकी कार्य-कारण-शृखला ढूढने का प्रयत्न उन्होने नही किया—प्रकृति को ही इसका कारण मानकर सतोष किया। स्वरूप के विषय में उनका निष्कर्ष मूलत भारतीय मत से भिन्न नही है। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार प्रख्या और उपाख्या आत्मा की शक्तियाँ है—ये ही प्रतिभा के दो रूप है। अरस्तू के अनुसार 'स्व' की भूमिका से उठकर निबद्ध पात्रो के साथ तादात्म्य स्थापित करना कवि-प्रतिभा का आन्तरिक धर्म है। भारतीय काव्य-शास्त्र में भट्ट नायक ने इस शक्ति को भावकत्व नाम से अभिहित किया है। उनके मत से भावकत्व वह शक्ति है जिसके द्वारा

विशेष की निर्विशेष रूप मे अनुभूति होती है। यद्यपि भट्टनायक का अभिप्राय यहाँ सहृदय मे ही है · भावकत्व के द्वारा प्रमाता 'स्व' की भूमिका से ऊपर उठकर कवि-निबद्ध पात्रो के साथ तादात्म्य कर लेता है, फिर भी व्यजना मे इसमें कवि का भी निश्चित रूप से अन्तर्भाव हैं। वास्तव में, भावकत्व की यह शक्ति आधुनिक आलोचना-शास्त्र की कल्पना-शक्ति का ही पूर्वाभास है—भट्ट-नायक ने इनके द्वारा कवि की मौलिक कल्पना-शक्ति[1] की ओर ही निर्देश किया है। हाँ, भारतीय काव्य-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित 'अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमता' का अरस्तू ने कहीं उल्लेख नही किया। इसका कारण यह था कि उनका स्वभाव जीवन और सिद्धान्त दोनो में अपूर्वता का कायल नहीं था—अपने सभी ग्रन्थो में उन्होंने अद्भुत और अपूर्व तत्त्वो का विवेक-सम्मत व्याख्यान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अत उन्होंने वस्तु के सच्चे स्वरूप की पहचान अर्थात् काव्योचित के ग्रहण तथा अकाव्योचित के त्याग को ही प्रतिभा का प्रमुख धर्म माना है, अपूर्व-निर्माण आदि को विशेष महत्त्व नही दिया। काव्य को 'प्रकृति का अनुकरण' मानकर चलने वाले आचार्य के लिए यह स्वाभाविक ही था। किन्तु जैसा कि मैंने अनुकरण-सिद्धान्त के विवेचन में स्पष्ट किया है, अरस्तू का अनुकरण नव-निर्माण से बहुत भिन्न नही है और भट्ट तौत तथा अभिनवगुप्त आदि भारतीय आचार्यो का अपूर्व-निर्माण भी कोई कौशिकी सृष्टि या इन्द्रजाल नहीं है—दोनो का मूल सिद्धान्त बहुत भिन्न नही है। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है—अरस्तू की दृष्टि व्यावहारिक एव वस्तुपरक है, इसलिए उन्होन इस प्रकार की 'अपूर्व' शब्दावली को अपने विवेचन में स्थान नही दिया।

काव्य-हेतुओ के—विशेष रूप मे प्रतिभा और निपुणता के—सापेक्षिक महत्त्व के विषय में अरस्तू ने कही अपना स्पष्ट मत व्यक्त नही किया। एटकिन्स आदि का मत है—और अरस्तू के स्वभाव तथा दोनो ग्रन्थो की विवेचन-पद्धति के आधार पर यह निष्कर्ष असगत नहीं है—कि प्रतिभा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने निपुणता पर ही अधिक बल दिया है। अनुकरण का सिद्धान्त, काव्य की कला-रूप में स्वीकृति और प्रतिभा के विषय मे प्रासगिक सकेत—ये तीनो तथ्य इस निष्कर्ष को पुष्ट करते है कि कवित्व का अर्जन किया जा सकता है, वह प्रयत्न-साध्य अथवा आहार्य कौशल है। इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेने के उपरान्त तो यह मानना ही पडना है कि निपुणता काव्य का मुख्य हेतु है।

१—प्राइमरी इमेजिनेशन।

निपुणता के पीछे प्रतिभा की प्रेरणा अनिवार्य है, परन्तु प्रमुखता निपुणता की ही है। अरस्तू का इस विषय में कदाचित् यही अभिमत था।

यूरोप के परवर्ती मनीषियो ने इसको ग्रहण नही किया। होरेस और उनके अनुयायी नव्य-शास्त्रवादियो को छोड अन्य सभी काव्य-चिन्तको ने प्रतिभा को ही प्राथमिकता प्रदान की। वास्तव मे होरेस, पोप आदि का भी यह साहस नही हुआ कि प्रतिभा को गौण स्थान दें, परन्तु उनके विवेचन की मूल व्यजना निपुणता और अभ्यास के ही पक्ष मे थी।—भारतीय आचार्यो का बहुमत तो (अनजाने में ही) स्पष्ट रूप से अरस्तू के विरुद्ध रहा। यहाँ भी वामन आदि की प्रवृत्ति निपुणता की ओर अधिक थी। वामन ने प्रतिभान को कवित्व का बीज मानते हुए भी उसे 'लोक' और 'शास्त्र' के उपरान्त 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत गौण स्थान दिया है।[1] आचार्य मगल एक पग और आगे बढ गये हैं। उन्होने निपुणता या व्युत्पत्ति को काव्य का मूल हेतु माना है, उनका निश्चित मत है कि व्युत्पत्ति कवि की 'अशक्ति' का सवरण कर सकती है —

'कवे सव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पाया काव्यवर्त्मनि।'

परन्तु सस्कृत काव्य-शास्त्र का यह प्रतिनिधि सिद्धान्त नही है। दण्डी से लेकर जगन्नाथ तक प्राय सभी प्रतिनिधि आचार्यों ने प्रतिभा को ही मूल हेतु माना है, निपुणता और अभ्यास तो उसके पोषक है। इसीलिए मम्मट ने काव्य-हेतु का प्रयोग एकवचन में ही किया है—हेतुर्नतु हेतव। काव्य-हेतुओ के सापेक्षिक महत्त्व के विषय मे भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रतिनिधि मत यही रहा है कि—

अव्युत्पत्तिकृतो दोष शक्त्या सव्रियते कवे। (आनन्दवर्धन)

अर्थात्—कवि की शक्ति (प्रतिभा) अव्युत्पत्ति-जन्य दोष का सवरण कर सकती है।

काव्य के भेद

अरस्तू ने अनुगम शैली से, विभिन्न आधार ग्रहण कर, काव्य के भेद किये है—ये आधार है कवि का व्यक्तित्व, काव्य का विषय, काव्य का माध्यम तथा रीति।[2] कवि का व्यक्तित्व सामान्यत दो प्रकार का होता था (ख)—(१)

१—देखिए लेखक का ग्रन्थ 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका'—पृ० १८

२—(क) 'फिर भी तीन बातो मे वे एक दूसरे से भिन्न हैं—अनुकरण का माध्यम, विषय और विधि अथवा रीति।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ६)

(ख) 'इसके पश्चात् लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव के कारण काव्य-धारा दो दिशाओ मे विभक्त हो गई।' (काव्य-शास्त्र, पृ० १४)

गभीरचेता एव उदात्त और (२) क्षुद्र-विनोदी। तदनुसार यवन आचार्य ने कवियो के दो वर्ग माने हैं—१—वीर-कवि और २—व्यग्य-कवि। इनके काव्य क्रमश वीर-काव्य और व्यग्य-काव्य माने जा सकते है।[1] उपलब्ध काव्य के विषय प्राय तीन प्रकार के होते थे—(१)यथार्थ से उत्कृष्ट, (२) यथार्थवत् और (३) यथार्थ से निकृष्ट। इन्ही के आधार पर काव्य के भी तीन भेद हुए—(१) यथार्थ से उत्कृष्ट मानव-जीवन का चित्रण करने वाले काव्य, (२) यथार्थ मानव-जीवन का चित्रण करने वाले काव्य, (३) यथार्थ से निकृष्ट मानव-जीवन का चित्रण करने वाले काव्य।[2] विषय की ही दृष्टि से अरस्तू ने अन्यत्र पाँच अन्य काव्य-भेदो का उल्लेख किया है—(१) महाकाव्य, (२) त्रासदी, (३) कामदी, (४) रौद्रस्तोत्र और (५) सगीत-काव्य[3]। महाकाव्य और त्रासदी में उदात्त विषय रहता है, कामदी मे व्यग्य और अवगीति का प्राधान्य रहता है, रौद्रस्तोत्र में रौद्ररस-प्रधान नृत्य-लय-सयुक्त स्तवन आदि और सगीत-काव्य में कोमल भावनाएँ प्रमुख रहती हैं। अनुकरण-रीति की दृष्टि से काव्य के दो भेद किये गये हैं—'क्योकि माध्यम एक हो और विषय भी एक हो, फिर भी कवि या तो समाख्यान द्वारा अनुकरण कर सकता है ...अथवा अपने पात्रो को जीवित-जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत कर सकना है।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ११)। स्पष्ट शब्दो में ये दो भेद हैं—(१) समाख्यान-काव्य, (२) दृश्य-काव्य। इसी प्रकार माध्यम-भेद से भी उन्होने काव्य के दो प्रकार माने हैं (१)पद्य-काव्य, (२) गद्य-काव्य—'इसी प्रकार भाषा में भी—गद्य हो या सगीत-विहीन पद्य।'(पृ० १०)

१—'गभीरचेता लेखको ने उदात्त व्यापारो और सज्जनो के क्रिया-कलाप का अनुकरण किया। जो क्षुद्र वृत्ति के थे, उन्होने अधम जनो के कार्यों का अनुकरण किया और जिस प्रकार प्रथम वर्ग के लेखको ने देव-सूक्त और यशस्वी पुरुषो की प्रशस्तियाँ लिखी, उसी प्रकार इन लोगों ने पहले-पहल व्यग्य-काव्य की रचना की।' (काव्य-शास्त्र, पृ० १४)

. . "इस प्रकार प्राच्य कवियो के प्राय दो भेद थे—वीर-कवि और व्यग्य-कवि।" (काव्य-शास्त्र, पृ० १५)

२—'यह विभाजन मुख्यत नैतिक आचरण पर आधारित है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें या तो यथार्थ जीवन से श्रेष्ठतर रूप प्रस्तुत करना होगा, या हीनतर या फिर यथार्थवत्।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ९)

३—'महाकाव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्रस्तोत्र . अपने सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार है।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ६)

उपर्युक्त विवेचन का साराश यह है —

कवि-व्यक्तित्व के अनुसार काव्य-भेद—(१) वीर-काव्य और व्यग्य-काव्य। वीर-काव्य के अन्तर्गत देव-सूक्त, महाकाव्य तथा उदात्त चरित्रो का प्रदर्शन करने वाली त्रासदी आती है और व्यग्य-काव्य के अन्तर्गत कामदी, अवगीति-काव्य आदि।

विषय के अनुसार काव्य-भेद—(१) उदात्त काव्य, (२) यथार्थ काव्य और (३) क्षुद्र काव्य।

उदात्त के अन्तर्गत—महाकाव्य, त्रासदी और देव-सूक्त आदि। यथार्थ काव्य के अन्तर्गत—यथार्थ जीवन का अकन करने वाले काव्य। क्षुद्र काव्य के अन्तर्गत—कामदी (प्रहसन), अवगीति-काव्य।

मिश्र—रौद्रस्तोत्र, जिसमें एक ओर ओजपूर्ण भावो और दूसरी ओर मस्ती का सम्मिश्रण रहता था।

अनुकरण-रीति के अनुसार काव्य-भेद—१ समाख्यान-काव्य, २ दृश्य काव्य।

माध्यम के अनुसार काव्य-भेद—१ गद्य-काव्य, २ पद्य-काव्य।

जैसा कि मैंने आरम्भ में निवेदन किया है, यह वर्ग-भेद उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुगम[1] विधि से किया गया है। अरस्तू के समय तक केवल उपर्युक्त काव्य-प्रकार ही विद्यमान थे। इनमें यो तो प्राय सभी प्रमुख भेद आ जाते है महाकाव्य, नाटक के दोनो प्रमुख भेद—त्रासदी और कामदी, और उधर देव-सूक्त, सगीत-काव्य तथा रौद्रस्तोत्र में मुक्तक एव प्रगीत का भी सकेत है, परन्तु यह विभाजन पूर्ण नही कहा जा सकता, इसमें सदेह नही। अरस्तू की दृष्टि यथार्थ पर इतनी अधिक केन्द्रित रहती थी कि उनका विवेचन कभी-कभी अपूर्ण-सा रह जाता था। अनुगम विधि में भी यही दोष है। विचार और कल्पना को आग्रहपूर्वक बचाने से विवेचन में व्यवस्था नही आती। फिर भी अरस्तू के वर्ग-विभाजन में उसका अभाव नही है। उनके अनुसार काव्य के दो प्रमुख वर्ग है—(१) समाख्यान-काव्य, (२) दृश्य काव्य। समाख्यान-काव्य का प्रमुख भेद है महाकाव्य। महाकाव्य के अतिरिक्त क्षुद्र विषयो पर आश्रित व्यग्य-उपहास-युक्त अवगीति-काव्य भी इसके अन्तर्गत आते हैं। दृश्य-काव्य के दो उपभेद है—त्रासदी और कामदी। इनके अतिरिक्त दो-तीन और काव्य-भेदो का अरस्तू ने

१—इन्डक्टिव।

उल्लेख किया है---रौद्रस्तोत्र, सगीत-काव्य, देवसूक्त। ये मुक्तक के प्रकार हैं---और प्रगीत का पूर्वाभास भी इनमें मिलता है, परन्तु ये शुद्ध काव्य-भेद न होकर मिश्र काव्य-भेद थे, जिनमें सगीत और नृत्य का साहचर्य अनिवार्य था, इसीलिए कदाचित् अरस्तू ने इनको कोई महत्त्व नही दिया। माध्यम की दृष्टि से काव्य के दो भेद है--पद्य और गद्य।

अरस्तू का यह विवेचन भारतीय विवेचन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। दृश्य काव्य, महाकाव्य आदि भेद तो समान ही है। नाटक के दो भेद---त्रासदी और कामदी यहाँ यथावत् नही मिलते, परन्तु रूपक के अनेक भेदो में गभीर त्रासदी के और भाण आदि मे कामदी (प्रहसन) तथा अवगीति के तत्त्व मिलते है। त्रासदी का प्राधान्य यूनानी काव्य-शास्त्र की प्रखर विशिष्टता है, जिसके लिए वहाँ का जीवन-दर्शन उत्तरदायी है। प्रगीत का विशिष्ट और पृथक् विवेचन न अरस्तू ने किया है और न भारतीय आचार्यों ने। अरस्तू के काव्य-शास्त्र [और भारतीय नाटय-शास्त्र दोनो में ही 'गीत' की स्थिति तो मानी गयी है, परन्तु उसका रूप कदाचित् मिश्र अर्थात् सगीत और काव्य दोनो से सयुक्त माना गया है। शुद्ध प्रगीत काव्य की स्थिति न अरस्तू ने मानी है और न यहाँ के आचार्यों ने। देवसूक्त और रौद्रस्तोत्र जैसे काव्य-भेद भारतीय वाङमय मे भी विद्यमान है, परन्तु काव्य-शास्त्र में उनका विवेचन नही है। इसका कारण भी कदाचित् यही है कि इन्हे शुद्ध काव्य के अन्तर्गत नही माना गया। गद्य-काव्य और पद्य-काव्य का भेद यहाँ भी यथावत् स्वीकृत है, किन्तु चम्पू जैसा भेद अरस्तू को स्वीकार्य नही था। अरस्तू ने यद्यपि माध्यम इन्द्रिय के आधार पर काव्य के श्रव्य और दृश्य भेद नही किये, फिर भी इस आधार का सकेत उनके विवेचन में बार-बार मिलता है। महाकाव्य के श्रव्य गुण और नाटक के दृश्य गुण का उल्लेख उन्होंने अनेक प्रसगो मे अनेक रूपो से किया है।

नाटक

नाटक काव्य का प्रमुख भेद है। यद्यपि अरस्तू ने नाटक की परिभाषा नही की, किन्तु उनके विवेचन में कुछ ऐसे सकेत मिल जाते है, जिनके आधार पर नाटक का लक्षण प्रस्तुत किया जा सकता है

(१) "एक तीसरा भेद और भी है—इन विषयो की अनुकरण-रीति का, क्योकि माध्यम एक हो और विषय भी एक हो, फिर भी कवि या तो समाख्यान द्वारा अनुकरण कर सकता है, अथवा अपने सभी पात्रो को जीवित-जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत कर सकता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ११)

(२) "तभी कुछ लोगो का कहना है कि इन काव्यो को नाटक इसलिए कहा जाता है कि इनमें कार्य-व्यापार का निदर्शन रहता है।" (पृ० १२)

उपर्युक्त उद्धरणो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है—नाटक काव्य का वह रूप है जिसमें पात्र जीवित-जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत किये जाते हैं, अर्थात्—जिसमें कार्य-व्यापार का प्रदर्शन रहता है।

नाटक के दो भेद हैं—त्रासदी और कामदी।

त्रासदी का तो अरस्तू ने विस्तार से विवेचन किया है, किन्तु कामदी का विवेचन उपलब्ध नही होता—कदाचित् काव्य-शास्त्र का वह अश त्रुटित हो गया है। उपलब्ध विवेचन के आधार पर त्रासदी और कामदी के दो मुख्य भेदक धर्म हैं·

(१) त्रासदी का लक्ष्य त्रास और करुणा की उद्बुद्धि है और कामदी का हर्ष अथवा हास्य की।

(२) "कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण।" अर्थात् त्रासदी की विषय-वस्तु और तदनुसार उसके पात्र गम्भीर एव उदात्त होते हैं, कामदी की विषय-वस्तु और पात्र क्षुद्र तथा निकृष्ट होते है, किन्तु वे दुष्ट नही होते, अभिहस्य ही होते हैं।[1]

१—काव्य-शास्त्र, पृ० ११, १७

त्रासदी का विवेचन

त्रासदी की परिभाषा और स्वरूप—अरस्तू के शब्दो में "त्रासदी किसी गभीर, स्वत पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागो में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणो से अलकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप मे न होकर कार्य-व्यापार रूप मे होती है और जिसमे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विरेचन किया जाता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० १९) यह वास्तव में त्रासदी का लक्षण न होकर उपलब्ध त्रासदी-साहित्य के आधार पर उसका वर्णन है। यहाँ अरस्तू ने त्रासदी की समस्त विशेषताओ को सूत्रबद्ध कर दिया है। इसके अनुसार —

(१) त्रासदी कार्य की अनुकृति का नाम है।

(२) यह कार्य गभीर, स्वत पूर्ण होता है—इसका निश्चित आयाम होता है।

(३) इस कार्य का समाख्यान या वर्णन नही होता, वरन् प्रदर्शन होता है।

(४) भाषा छन्द-लय, गीत आदि से अलकृत होती है।

(५) त्रास तथा करुणा के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का विरेचन त्रासदी का उद्देश्य होता है।

इनमें से (१) और (३) दोनो को मिलाकर आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि त्रासदी दृश्य काव्य का एक भेद है। (२) का अर्थ यह है कि त्रासदी की आधारभूत-कथा गभीर होती है, उसका एक निश्चित आयाम होता है और वह अपने आप मे पूर्ण होती है। अर्थात् उसमें जीवन के गम्भीर पक्ष का साग चित्रण रहता है। (५) का अर्थ यह है कि उसके मूल-भाव होते हैं करुणा और त्रास—इन भावो को उद्बुद्ध कर विरेचन की पद्धति से मानव-मन का परिष्कार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है। (४) का अभिप्राय यह है कि जीवन के गाभीर्य और भाव-पक्ष का प्राबल्य होने के कारण त्रासदी की शैली भावपूर्ण तथा अलकृत होती है। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषा में लक्षण का समास-गुण न होने पर भी त्रासदी के स्वरूप का परिपूर्ण विवेचन मिल जाता है।

त्रासदी के अंग

'प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यत छह अग होते हैं, जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-

विधान, गीत, (पृ० २०)। इनमें से कथानक, चरित्र-चित्रण और विचार-तत्त्व अनुकरण के विषय हैं, दृश्य-विधान माध्यम है और पद-रचना तथा गीत अनुकरण की विधि। अरस्तू के समय तक इनका उपयोग प्रत्येक त्रासदीकार ने किया था, अत अरस्तू इन्हे त्रासदी के छह अनिवार्य अग मानते हैं।

कथावस्तु

कथावस्तु का महत्त्व—कथावस्तु से तात्पर्य घटनाओ के विन्यास का है।[1] अरस्तू के अनुसार त्रासदी का (सामान्य रूप से समस्त प्रबन्ध-काव्य का) सबसे महत्त्वपूर्ण अग है कथावस्तु—वह मानो त्रासदी की आत्मा है।[2] इसके अनेक कारण हैं—

(१) त्रासदी अनुकृति है—व्यक्ति की नही, कार्य की तथा जीवन की।

(२) जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है, अत जीवन की अनुकृति मे कार्य-व्यापार का ही प्रामुख्य रहना चाहिए।

(३) काव्यगत प्रभाव का स्वरूप है सुख या दुख और यह कार्यो पर निर्भर रहता है, अत कार्य या घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य है।

(४) चरित्र कार्य-व्यापार (कथानक) के साथ गौण रूप से स्वत ही आ जाता है।

(५) बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नही हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है।

(६) चारित्र्य-व्यजक भाषण, विचार अथवा पदावली—चाहे वह कितनी ही परिष्कृत क्यो न हो—वैसा सारभूत कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नही कर सकती जैसा कथानक तथा घटनाओ के कलात्मक गुम्फन से उत्पन्न होता है।

(७) त्रासदी के सबसे प्रबल रागात्मक तत्त्व, स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान, कथानक के ही अग है।

(८) इसीलिए नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते है, पर कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हे समय लगता है।[3]

कथानक के प्रति अरस्तू का आग्रह अत्यन्त प्रबल है, किन्तु पश्चिम के परवर्ती नाट्य-साहित्य तथा नाट्य-शास्त्र और इधर भारतीय काव्य-शास्त्र से इसकी

१—काव्य-शास्त्र, पृष्ठ २०

२—काव्य-शास्त्र, पृष्ठ २१

३—काव्य-शास्त्र, पृ० २१

पुष्टि नही होती। यूरोप का परवर्ती नाट्य-साहित्य, विशेषकर वहाँ की त्रासदी, और उस पर आवृत नाट्य-सिद्धान्त निश्चित रूप से कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण को ही अधिक महत्त्व देते है। मार्लो, शेक्सपियर, ड्राइडन, मोलियर, गेटे, इब्सन, मेटरलिंक, शॉ आदि के नाटको में चरित्र-चित्रण का ही प्राधान्य है, साथ ही ब्रैडले, निकोल आदि के नाट्यालोचन-सम्बन्धी ग्रथो मे भी चरित्र का विश्लेषण ही अधिक विस्तार तथा मनोनिवेश के साथ किया गया है। इधर भारतीय नाट्य-शास्त्र में नाटक के तीन प्रधान अग माने गये हैं—वस्तु, नेता और रस, जिनमें सर्वाधिक महत्त्व रस का है, वस्तु और नेता उसके माध्यम मात्र है।

अरस्तू की इस स्थापना का कारण क्या है?—यह प्रश्न विचारणीय है। एक कारण तो हो सकता है उनका अनुगमात्मक दृष्टिकोण, अर्थात्—तत्कालीन उपलब्ध साहित्य में कथा-वस्तु की महत्ता। परन्तु यह कारण सर्वथा अकाट्य नही है, तत्कालीन नाट्य-साहित्य में—ऐस्ख्युलस तथा एउरिपिदेस आदि के नाटको मे—वस्तु का माहात्म्य होने पर भी चरित्र का गौरव कम नही है। उनके अनेक पात्रो के व्यक्तित्व अत्यन्त प्रबल एव महिमान्वित हैं। दूसरा कारण है अरस्तू का वस्तुपरक दृष्टिकोण। वस्तुपरक दृष्टिकोण अमूर्त की अपेक्षा मूर्त को ही अधिक महत्त्व देता है, इसीलिए सूक्ष्म चारित्र्य-विश्लेषण के स्थान पर अरस्तू को मूर्त घटना-सगठन अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ। तीसरा कारण अनुकरण-सिद्धान्त भी हो सकता है—चारित्रिक विशेषताओ की अपेक्षा कार्य-व्यापार का अनुकरण सहज होता है। कदाचित् इन्ही सब कारणो से अरस्तू ने कथानक को प्रमुख माना है। और वास्तव में उसका महत्त्व असदिग्ध है, क्योकि रस और चरित्र-चित्रण का माध्यम कथानक ही तो है। अरस्तू का यह तर्क काफी पुष्ट है कि जीवन मुख्यत कार्य-व्यापार है और जीवन का चित्रण होने के कारण त्रासदी में भी कार्य-व्यापार का महत्त्व होना चाहिए, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कथानक, जैसा कि अरस्तू ने लिखा है, काव्य का साध्य हो सकता है? घटना हमको निश्चय ही आकृष्ट करती है। अपने मूर्त रूप-आकार के कारण उसका यह आकर्षण सर्वथा स्पष्ट होता है, किन्तु इस आकर्षण का रहस्य घटना की क्रिया-प्रक्रिया न होकर उसमें निहित मानव-तत्त्व एव भाव ही होता है। मानव-तत्त्व से रहित होने से बडी-से-बडी घटना भी हमारे लिए आकर्षण-शून्य होती है। उत्तरी-दक्षिणी ध्रुव की पर्वत-कन्दराओ में, समुद्र के अतल गर्भ में, ज्वालामुखी पर्वतो के भीतर अथवा सौरमण्डल में प्रतिक्षण न जाने कितनी भयकर घटनाएँ होती रहती है, परन्तु उनमे हमारा क्या सम्बन्ध? हमारे आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु तो मानव-मन है। उसी के कुहुक-स्पर्श से क्षुद्र-से-क्षुद्र घटना अनन्त रगो में जगमगा उठती है। इसीलिए हिन्दी के आत्म-

दर्शी कलाकार प्रसाद ने भारतीय प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर प्रत्येक घटना को मानव-आत्मा की अभिव्यक्ति माना है। मानव-आत्मा की यह अभिव्यक्ति ही रस है। जिस घटना मे यह अभिव्यक्ति जितनी ही अधिक पूर्ण और सफल होगी उतना ही अधिक रस उसमें होगा। इस दृष्टि से भारतीय नाट्य-दर्शन की यह स्थापना ही वास्तव में सर्वाधिक मान्य है कि नाटक का प्राण रस है, उसका महत्त्व वस्तु और नेता दोनो से ही अधिक है। घटना मे अधिक महत्त्वपूर्ण है उसमें निहित आत्म-तत्त्व (चरित्र) और आत्म-तत्त्व मे अधिक महत्त्वपूर्ण है उसकी सफल अभिव्यक्ति (रस)।

अत अरस्तू का उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा मान्य नही है। इस सम्बन्ध में उनके तर्क भी प्राय अपुष्ट ही है। उदाहरण के लिए, यह धारणा एकान्त सत्य नही है कि बिना चरित्र-चित्रण के त्रासदी हो सकती है, बिना कथानक के नही। पात्रों के बिना घटनाएँ कैसे घट सकती हैं—उनके कर्ता या भोक्ता-रूप में पात्रों का अस्तित्व अनिवार्य है, पात्रो की मनोवृत्तियो का घटनाओ से गहरा सम्बन्ध रहता है· विशेषकर गभीर घटनाओ की गभीरता का आधार ही यह है कि वे मानव-मनोवृत्तियो से कहाँ तक प्रेरित है और उन्हे कहाँ तक प्रभावित करती हैं। इसी तथ्य की स्वीकृति या आलेख का नाम चरित्र-चित्रण है। इसी प्रकार अरस्तू का यह तर्क भी विशेष महत्त्वपूर्ण नही है कि चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथानक का सगठन अधिक कठिन है। उनका तीसरा तर्क है कि राग-तत्त्व प्राय घटनाओ में ही निहित रहता है—यह तर्क अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट है, इसमे सदेह नही, परन्तु इस राग-तत्त्व के साथ ही तो मानव-तत्त्व (चरित्र-चित्रण) और रस का समावेश हो जाता है। वास्तव में यह कहना अधिक सगत होगा कि कथानक तो इस राग-तत्त्व का वाहक है, आधार है मानव-तत्त्व (चरित्र-चित्रण) और परिणति है रस।

इस प्रकार अरस्तू का कथानक-विषयक सिद्धान्त काव्यालोचन की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है, यूरोप के परवर्ती नाट्य-शास्त्र का चरित्र-विषयक सिद्धान्त उससे अधिक विकसित है और उससे भी अधिक विकसित है भारतीय नाट्य-शास्त्र का रस-सिद्धान्त।

कथानक का आधार

अरस्तू ने प्राय तीन प्रकार के कथानक का सकेत किया है—दन्तकथा-मलक, कल्पना-मूलक और इतिहास-मूलक।

(१) दन्तकथा-मूलक—" वैसे त्रासदी का आधार प्राय ये (दतकथाएँ)

ही होती है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० २७)। "कारण यह है कि जो सम्भव है, वही विश्वसनीय है और जो हुआ नही उसकी सम्भवता में हम एकदम विश्वास नही कर पाते।" (पृ० २६)

(२) कल्पना-मूलक —"परन्तु फिर भी यह आवश्यक नहीं कि हम जैसे बने वैसे परम्परागत दन्तकथाओ को ही ग्रहण करे।" (पृ० २७) "कुछ त्रास-दियाँ ऐसी भी है, जिनमें एक भी प्रसिद्ध नाम नही है, जैसे—अगथौन की अन्येउस, जिसमें घटनाएँ और नाम दोनो काल्पनिक है। फिर भी इन कृतियो से किसी प्रकार कम आनन्द नही मिलता।" (पृ० २६-२७)

(३) इतिहास-मूलक—"और यदि सयोग से वह ऐतिहासिक विषय भी ग्रहण कर ले तब भी उसका कवि-रूप अक्षुण्ण रहता है, क्योंकि ऐसा कोई कारण नही है कि कुछ घटनाएँ जो वास्तव मे घटी है सम्भव और सम्भाव्य के नियम के अनुकूल न हो और उनके इसी गुण के नाते वह उनका कवि या स्रष्टा होता है।" (पृ० २७)

उपर्युक्त उद्धरणो के आधार पर अरस्तू के मत से त्रासद कथानक के तीन प्रमुख आधार हैं। दन्तकथा-साहित्य, कल्पना और इतिहास। इन तीनो में सर्व-श्रेष्ठ है दन्तकथा-साहित्य। इसका कारण यह है कि दन्तकथाओं में सत्य और कल्पना दोनो का सुन्दर समन्वय—अथवा यह कहना चाहिए कि दोनो के लिए सम्यक् अवकाश—रहता है। सत्य अपनी विश्वसनीयता के कारण और कल्पना अपनी सम्भाव्यता के कारण काव्य-गुण की श्रीवृद्धि करती है। शेष दोनो आधार भी अग्राह्य नही है, किन्तु वे इतने समृद्ध नही है—काल्पनिक आधार में मूर्त सत्य की न्यूनता है और ऐतिहासिक आधार में सार्वभौम प्रभाव की। फिर भी चूंकि इनमें उपर्युक्त गुणो का सर्वथा अभाव नही है, अत ये भी ग्राह्य हो सकते हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में दो प्रकार की कथावस्तु का विवेचन है—प्रसिद्ध और उत्पाद्य। 'प्रसिद्ध' में पुराण, दन्तकथाओ और इतिहास का अन्तर्भाव है और 'उत्पाद्य' कथा काल्पनिक सृष्टि होती है। महाकाव्य, नाटक आदि गभीर काव्य-रूपो के लिए यहाँ भी 'प्रसिद्ध' कथा का ही विधान है। भारतीय साहित्य के समृद्ध युग के समस्त महाकाव्यो तथा नाटको के कथानक 'प्रसिद्ध'—अर्थात् पुराण-इतिहास आदि पर आश्रित—हैं, और कदाचित् इसीलिए आरम्भिक आचार्यों ने अनुगम-विधि से नाट्य-शास्त्र मे प्रसिद्ध कथानक का निश्चित विधान कर दिया है। 'उत्पाद्य' त्याज्य नही है, पर वह प्रकरण, खण्डकाव्य आदि द्वितीय श्रेणी के काव्य-भेदो में ही ग्राह्य है।

अरस्तू की अपेक्षा भारतीय मनीषियो की इतिहास-विषयक धारणा अधिक

व्यापक और लचीली थी, इसलिए उन्होने इतिहास का व्यापक रूप में ही प्रयोग किया है। वास्तव में दोनो के मूल मन्तव्यो में भेद नही है—दोनो 'प्रसिद्ध' या 'ख्यात' कथाधार को ही महत्त्व देते हैं, अत भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में अरस्तू के अनुसार त्रासदी की कथा का आधार सामान्यत प्रसिद्ध या ख्यात ही होना चाहिए—'उत्पाद्य' का वे निषेध नही करते, किन्तु अधिक काम्य 'प्रसिद्ध' ही है।

कथानक का आयाम

"किसी भी सुन्दर वस्तु में, चाहे वह जीवधारी हो अथवा अवयवो से सघटित कोई अन्य पूर्ण पदार्थ, अगो का व्यवस्थित अनुक्रम मात्र पर्याप्त नही है, वरन् उसका एक निश्चित आयाम भी होना चाहिए, क्योंकि सौन्दर्य आयाम और व्यवस्था पर निर्भर होता है।" इसी तर्क के अनुसार सुगठित कथानक के लिए भी निश्चित आयाम की आवश्यकता है। अरस्तू के अनुसार उचित आयाम से अभिप्राय है 'ऐसा आकार, जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप में ग्रहण कर सके'। इस परिभाषा के आधार पर कथानक के उचित आयाम का अर्थ होता है—'ऐसा विस्तार जो सरलता से स्मृति में धारण किया जा सके।—न इतना सूक्ष्म कि प्रेक्षक के मन में उसका स्वरूप ही स्पष्ट न हो और न इतना विस्तृत कि वह उसे समग्र रूप में ग्रहण ही न कर सके।' सामान्यत कथानक का विस्तार पर्याप्त ही होना चाहिए, किन्तु 'यह आवश्यक है कि उसका सर्वांग स्पष्ट रूप से परिव्यक्त रहे।'—'और स्थूल रूप से समुचित कथा-विस्तार की सीमा यह मानी जा सकती है कि घटना-चक्र के अन्तर्गत, सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अनुसार, दुर्भाग्य की सौभाग्य में अथवा सौभाग्य की दुर्भाग्य मे परिणति दिखाई जा सके।'

स्पष्ट शब्दो में, कथानक का विस्तार

(१) इतना होना चाहिए कि अपने समग्र रूप में स्मृति में धारण किया जा सके।

(२) वह न इतना सूक्ष्म होना चाहिए कि प्रेक्षक के मन में उसका बिम्ब ही न बन सके और न इतना विराट् कि मन में समा ही न सके।

(३) उसका सर्वांग स्पष्ट रूप से व्यक्त रहना चाहिए।

(४) उसमें जीवन की परिणति के लिए सम्यक् अवकाश रहना चाहिए, अर्थात्—इतना अवकाश होना चाहिए कि जीवन का चक्र एक बार पूरी तरह घूम सके।

इसी प्रसग में अरस्तू ने एक वाक्य और लिखा है—"त्रासदी को यथासम्भव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० १८)। इस वाक्य को लेकर यूरोप के नाटच-शास्त्र में बडा विवाद रहा है। इटली और फ्रास के नव्य-शास्त्रवादी नाटककारो ने इसे विधान के रूप में ग्रहण कर अपने नाटको की कथा-वस्तु को यथासम्भव एक दिन की घटनाओ तक सीमित रखने का प्रयत्न किया। 'सूर्य की एक परिक्रमा' के वास्तविक अर्थ के विषय में भी पर्याप्त मतभेद रहा—कारनेई के अनुसार इसका अर्थ था २४ घटे और यह अवधि अधिक-से-अधिक ३० घटे तक चल सकती थी। दसिए ने इसका अर्थ किया १२ घटा, किन्तु उसे अवधि का सीमान्त माना। उनका मत यह था कि नाटक के कार्य और उसके अभिनय का समय लगभग एक होना चाहिए—इस दृष्टि से २४ घटे का प्रश्न ही नही उठता, अधिक-से-अधिक १२ घटे का समय हो सकता है, अन्यथा 'यथार्थ के कलात्मक भ्रम' की रक्षा नही हो सकती। वास्तव में, जैसा कि अरस्तू के व्याख्याता प्रोफेसर बुचर ने लिखा है—अरस्तू का उपर्युक्त वाक्य नियम की प्रस्थापना नही करता, वरन् यूनानी नाटक की एक प्रथा-मात्र का द्योतक है। अरस्तू के समसामयिक यूनानी नाटच-साहित्य में यह प्रथा वर्तमान थी, परन्तु यह कोई नियम नही था। अगला वाक्य इस तथ्य को सर्वथा स्पष्ट कर देता है कि यूनान के प्राचीन नाटच-साहित्य में कालावधि की कोई निश्चित सीमा नहीं थी—"यद्यपि पहले त्रासदी में भी (काल-विषयक) वैसी ही स्वतत्रता थी जैसी महाकाव्य में।" (काव्य-शास्त्र, पृ० १८)

साराश यह है कि अरस्तू ने कार्य-व्यापार के आधार पर ही कथानक के आयाम का निर्धारण किया है—एक दिन की अवधि के आधार पर नही। और, यही उचित भी है। उन जैसा विवेकशील आचार्य इस प्रकार के भ्रामक सिद्धान्त का प्रतिपादन कैसे कर सकता था? कथानक का कालक्रमानुसार विकास तो मान्य है, परन्तु उसकी अवधि को एक दिन में सीमित करना या कार्य-व्यापार तथा अभिनय के समय का सतुलन रखना न सम्भव है और न आवश्यक। यूरोप तथा भारत के सर्वश्रेष्ठ नाटक इसका प्रतिवाद करने के लिए पर्याप्त है। 'यथार्थ का भ्रम' यथार्थ के स्थूल रूप की अनुकृति द्वारा उत्पन्न नही होता, कल्पना और भावन के द्वारा होता है। भावन के द्वारा प्रेक्षक जब अनुकार्य, अनुकर्ता और अपने बीच के अन्तर को भूल जाता है, तब समय के अन्तर को भूलना उसके लिए और भी सरल है। इसीलिए भारतीय नाटच-शास्त्र में 'कालैक्य' की यह भ्रामक समस्या ही उत्पन्न नही हुई।

कथा-वस्तु के मूल गुण

१ एकान्विति—कथा-वस्तु का आधारभूत गुण है एकान्विति । एकान्विति का यह अर्थ नही है कि उसमें एक व्यक्ति की ही कथा हो—एक व्यक्ति की कथा में भी अनेकता तथा अन्विति का अभाव हो सकता है । (कथानक के ऐक्य का अर्थ है—कार्य का ऐक्य) अरस्तू के मत से 'ऐसे कार्य-व्यापार को कथानक की धुरी बनाना चाहिए, जो सही अर्थ में एक है ।' इसका अभिप्राय यह है कि उसकी सघटना ऐसी होनी चाहिए कि अगर एक अग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें, तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जाये , अर्थात् उसमे ऐसी घटनाएँ नही होनी चाहिए जिनमें परस्पर कोई आवश्यक या सम्भाव्य सम्बन्ध न हो—क्योकि ऐसी वस्तु, जिसके होने न होने से कोई प्रत्यक्ष अन्तर नही पडता, किसी पूर्ण इकाई का सहज अग नही हो सकती ।

कथानक की एकता का यह अत्यन्त सटीक विवेचन है, इसके अनुसार 'एक' कथानक वह है जिसमें —

(क) एक कार्य धुरी-रूप मे वर्तमान हो ।

(ख) प्रत्येक घटना इस कार्य का अभिन्न एव अनिवार्य अग हो, अर्थात्—कथा-विधान में प्रत्येक घटना का इतना महत्त्व होना चाहिए कि उसको इधर-उधर करने से सर्वांग ही छिन्न-भिन्न हो जाए ।

(ग) समस्त घटनाएँ मूल कार्य से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त परस्पर अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हो ।

(घ) एक भी अनावश्यक अर्थात् मूल से असम्बद्ध घटना न हो । भारतीय नाट्य-शास्त्र में पचसधियो तथा पच अवस्थाओ के विवेचन द्वारा उपर्युक्त एकान्विति का प्रतिपादन किया गया है । कुन्तक ने प्रबन्ध-काव्य के प्रसग में अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में अरस्तू के मत की पुष्टि की है—

"(फलबन्ध) प्रधान कार्य का अनुसधान करने वाला प्रबन्ध के प्रकरणो का उपकार्योपकारक भाव असाधारण समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित किसी कवि के (काव्यादि) में अभिनव सौन्दर्य के तत्त्व को उत्पन्न कर देता है ।" व० जी० ४।५-६ । —स्पष्ट शब्दो में कुन्तक के मत से कथानक का प्रत्येक प्रकरण (अग) अन्य प्रकरणो से सम्बद्ध तथा अन्त मे प्रधान कार्य का उपकारक होना चाहिए । यही उसकी अन्विति का रहस्य है ।

२ पूर्णता—कथानक का दूसरा प्रमुख गुण है पूर्णता । "त्रासदी ऐसे

कार्य की अनुकृति है जो समग्र एव सम्पूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित विस्तार हो, क्योंकि ऐसी पूर्णता भी हो सकती है जिसमे विस्तार का अभाव हो।"

'पूर्ण वह है जिसमें आदि, मध्य और अवसान हो।'

'आदि वह है जो किसी हेतु का परिणाम नही होता, पर जिसके पश्चात् स्वभावत कुछ विद्यमान या घटित होता है।'

'इसके विपरीत अवसान उसे कहते है, जो स्वय तो अनिवार्यत या नियमत. किसी अन्य घटना का सहज अनुवर्ती होता है, पर जिसका अनुवर्ती कुछ नही होता।'

'मध्य वह है, जो स्वय किसी घटना (या घटनावली) का अनुगमन करता है और अन्य घटना (या घटनावली) उसका अनुगमन करती है।' (पृ० २३)

पूर्णता की यह सामान्य विवेक-सम्मत परिभाषा है जो अरस्तू के वस्तुपरक चिन्तन का परिणाम है। भावपरक दृष्टि से कथानक की पूर्णता का अर्थ यह है कि उसकी परिसमाप्ति पर प्रेक्षक या श्रोता की जिज्ञासा अतृप्त न रहे। जिज्ञासा का परितोष पूर्णता का मूल तत्त्व है। इसकी सिद्धि के लिए आरम्भ ऐसा होना चाहिए कि जो किसी हेतु का परिणाम न हो—जिससे कि उसके पूर्व इतिहास के विषय में श्रोता के मन में कोई जिज्ञासा ही न उठे, अवसान पूर्ववर्ती घटनाओ का अनिवार्य परिणाम होना चाहिए किन्तु उसका परिणाम कुछ नही होना चाहिए, अर्थात्—उस पर जाकर श्रोता की जिज्ञासा पूर्णतया परितुष्ट हो जानी चाहिए। मध्य आरम्भ और अवसान के बीच की कडी होनी चाहिए जो जिज्ञासा की पूर्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती हो। इस प्रकार पूर्णता वह गुण है जिसमें जिज्ञासा की क्रमिक पूर्ति की अनिवार्य व्यवस्था हो।

३ सम्भाव्यता—कथानक में ऐसे प्रसगो का सन्निवेश होना चाहिए जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो घटित हो चुका है वही पर्याप्त नहीं है, वरन् जो घटित हो सकता है वह भी काम्य है, परन्तु जो हो सकता है वही, जो नही हो सकता वह नहीं। सम्भाव्यता कथानक का अत्यन्त आवश्यक गुण है। इसके द्वारा अरस्तू दो तथ्यो का निर्देश करना चाहते हैं। एक तो यह कि घटनाएँ असम्भाव्य नही होनी चाहिए क्योकि उन्हे मानव-मन ग्रहण नही कर सकता, दूसरा यह कि केवल घटित तथ्य काव्य के कथानक के लिए उपयुक्त नही होते—वे इतिहास के लिए ही अभीष्ट है।

४ सहज विकास—कथानक के विभिन्न अगो का विकास सहज रूप मे होना चाहिए, अर्थात्—प्रवृत्ति, विवृत्ति, स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान आदि

की उद्भूति कथानक में से ही होनी चाहिए। घटनाएँ जब एक-दूसरे का सहज परिणाम होती है, तभी श्रोता या प्रेक्षक का मन उन्हे अनायास ग्रहण कर सकता है। यान्त्रिक अवतारणा तथा अन्य बाह्य साधनो का प्रयोग इसीलिए श्लाघ्य नही है।

५ कुतूहल—प्रत्येक सफल कथानक मे कुतूहल-वृत्ति का परितोष करने की शक्ति होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक यह है कि 'घटनाएँ हमारे समक्ष अचानक ही उपस्थित हो', —"यह प्रभाव उस दशा में और भी गहरा हो जाता है जब इसके साथ ही उनमे कार्य-कारण की पूर्वापरता भी हो। उनके अपने-आप या सयोगवश घटित होने की अपेक्षा ऐसी स्थिति में त्रासदीय विस्मय का भाव अधिक प्रबल होगा, क्योकि प्रयोजन का आभास मिलने पर सायोगिक घटनाएँ भी अत्यधिक रोचक हो जाती है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० २८)

उपर्युक्त विवेचन मे अरस्तू ने मानो कथा-साहित्य के आस्वाद के मर्म को छू लिया है। कथा का आस्वाद कुतूहल पर आश्रित रहता है और कुतूहल का आधार है आकस्मिकता। जिस कथा मे घटनाएँ जड-यान्त्रिक क्रम से आगे बढती रहती हैं उसकी रोचकता नष्ट हो जाती है, जहाँ श्रोता पूर्ववर्ती घटना को सुनकर ही परवर्ती घटना का अनुमान कर ले वहाँ उसकी जिज्ञासा का उद्बोध ही नही होगा, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि घटनाओ में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध ही न हो और वे सदा अप्रत्याशित रूप में घटित होती रहे। इस प्रकार की घटनाओ पर हम चकित तो हो सकते हैं पर उनकी प्रतीति हमे नही हो सकती और जिसकी प्रतीति नही होती, उसका आस्वादन भी असम्भव है। तब फिर क्या उपाय है? अरस्तू का उत्तर है कि घटनाओ की आकस्मिकता के पीछे, प्रच्छन्न रूप में ही सही, कार्य-कारण की पूर्वापरता रहनी चाहिए—उनमें सयोग के साथ 'प्रयोजन' का भी आभास होना चाहिए। इस विक्षेप में भी कोई क्रम होना चाहिए। यही विरोधाभास कथा-रस का रहस्य है।—किसी घटना की अचानक उपस्थिति पर हम उसकी प्रतीयमान अकारणता से विस्मय का अनुभव करते हैं, किन्तु शीघ्र ही हमको यह प्रतीति हो जाती है कि इस आकस्मिकता के पीछे भी कार्यकारण-शृखला का आधार वर्तमान है—इस सयोग मे भी प्रयोजन विद्यमान है। इस प्रकार एक ओर तो हमारा विस्मय भाव द्विगुणित हो जाता है और दूसरी ओर औचित्य की भावना भी परितुष्ट हो जाती है। औचित्य-भावना का यह सविस्मय परितोष ही वास्तव मे कथास्वाद का मूल रहस्य है जिसका अरस्तू ने अपनी अन्तर्दर्शी प्रतिभा के द्वारा अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप से उद्घाटन किया है।

६. **साधारणीकरण**—अरस्तू ने भी, अपने ढग से, व्यावहारिक रूप में साधारणीकरण को प्रबन्ध-कल्पना का मूल आधार माना है। उनका मत है कि घटना-विन्यास करने से पूर्व कवि को अपने कथानक की एक सार्वभौम सर्व-साधारण रूपरेखा बना लेनी चाहिए। यह रूपरेखा देश-काल के बधनो से मुक्त सर्वग्राह्य एव सर्वप्रिय होनी चाहिए जिसके साथ सभी तादात्म्य कर सकें। तदुपरान्त उसमे विशिष्ट नामरूप-धारी व्यक्तियो और उनकी जीवन-घटनाओ का समावेश करना चाहिए। इस प्रकार प्रबन्ध-विधान सार्वभौम रूप धारण कर लेता है।

कथानक के भेद

कथानक के दो भेद होते है—१ सरल, २ जटिल। "कथानक या सरल होते है या जटिल।" (काव्य-शास्त्र, पृष्ठ २८) इस सरलता और जटिलता का निर्णायक है कार्य। कार्य यदि सरल है, तो कथानक सरल होगा, और कार्य यदि जटिल है तो कथानक जटिल होगा "क्योकि उनके अनुकार्य—वास्तविक जीवन के व्यापारो—में भी स्पष्टत यही भेद होता है।" (पृ० २८)।

१ **सरल कथानक**—सरल कथानक वह है जिसका कार्य-व्यापार 'एक' और अविच्छिन्न हो, जिसमें स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य-परि-वर्तन हो जाता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० २८)। अर्थात् सरल कथानक के गुण इस प्रकार है —

उसका कार्य एक हो—किसी प्रकार की द्विधा न हो।

वह चरम घटना की ओर सीधा और अकेला ही आगे बढे।

उसकी परिणति के लिए स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान की आवश्यकता न हो।

२ **जटिल कथानक**—जटिल कथानक का आधार होता है जटिल व्यापार। "जटिल व्यापार वह है जहाँ यह (भाग्य-) परिवर्तन स्थिति-विपर्यय या अभिज्ञान अथवा दोनो के द्वारा घटित होता है।" (पृ० २८)—अर्थात् जटिल कथानक का विकास 'सीधा' नही होता, वह अकेला चरम स्थिति की ओर आगे नही बढता वरन् स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान आदि आकस्मिक घटना-विधान द्वारा उसकी परिणति सिद्ध होती है। इस प्रकार जटिल कथानक में जोड और मोड होते हैं; वह इकहरा नही होता, प्राय दुहरा होता है।

कथानक के अग

जटिल कथानक के दो प्रमुख अग होते हैं स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान। प्रबन्ध-विधान में अरस्तू ने इनको बडा महत्त्व दिया है।

१. **स्थिति-विपर्यय**—अरस्तू के शब्दो मे स्थिति-विपर्यय ऐसा परिवर्तन है जिसमें व्यापार का व्यत्यय हो जाता है, किन्तु यह व्यत्यय सदा आवश्यकता एव सम्भाव्यता के नियम के अधीन ही होता है। उदाहरण के लिए, ओइदिपूस में दूत वैसे तो ओइदिपूस का उत्साहवर्धन करने तथा उसे माता-सम्बन्धी शकाओ से मुक्त करने के लिए आता है, किन्तु साथ ही वह ओइदिपूस के जीवन-रहस्य का उद्घाटन भी कर देता है जिससे सर्वथा प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह ल्युन्केउस में, ल्युन्केउस को वध के लिए ले जाते है और दनऔस उसकी हत्या करने के उद्देश्य से उसके साथ जाता है, पर पूर्ववर्ती घटनाओ के फलस्वरूप ल्युन्केउस बच जाता है और दनऔस मारा जाता है।

अरस्तू का मूल शब्द है 'पेरीपेतेइआ' जिसके वास्तविक अर्थ के विषय में विद्वानो में मतभेद है। बुचर के अनुसार इसका अर्थ है भाग्य-विपर्यय। एटकिन्स इसे परिस्थिति-वैषम्य अथवा सकल्प-वैषम्य मानते हैं। ल्युकस के मत से यह भाग्य की विषमता है और पॉट्स के अनुसार घटनाओ की विषमता। अरस्तू के अपने शब्दो और दो उदाहरणो के आधार पर एक बात सर्वथा स्पष्ट है और वह यह कि केवल भाग्य-विपर्यय अथवा सपत्ति से विपत्ति अथवा विपत्ति से सम्पत्ति में परिवर्तन उनका अभीष्ट नही है। जैसा कि एटकिन्स आदि का तर्क है, यह तो सरल कथानक का लक्षण है—कोई भी सरल कथानक इसके विना पूरा नही हो सकता, फिर अरस्तू इसका सद्भाव केवल जटिल कथानक में ही क्यो मानते है ? अत सामान्य भाग्य-परिवर्तन यहाँ अभिप्रेत नही है। विपर्यय अथवा व्यत्यय तो यहाँ अनिवार्य है, किन्तु वह सर्वथा अप्रत्याशित और अनिच्छित होता है। ओइदिपूस (ईडिपस) की कथा में दूत के द्वारा यही होता है—स्थिति एकदम उलट जाती है, दूत चाहता है ओइदिपूस का मन परितोष करना, किन्तु परिणाम उसकी इच्छा के विरुद्ध—सर्वथा प्रतिकूल—होता है। यही वास्तव में जीवन की 'विषमता' है, अत इस स्थिति-विपर्यय में वैषम्य का अस्तित्व अनिवार्यत रहता है। पर्याय चाहे कोई प्रयुक्त किया जाय, किन्तु अरस्तू का आशय वस्तुत ऐसे प्रसग से है जिसमें सर्वथा अप्रत्याशित रूप से, कर्त्ता की इच्छा के विरुद्ध—प्राय अनजाने—स्थिति उलट जाती है। कथा-

काव्य में कुतूहल की सृष्टि के लिए यह अत्यन्त उपयोगी साधन है और नाटकीय गुण का तो यह मूल आधार है। भारतीय कथा-काव्य में इसका उपयोग इतने मनोनिवेश के साथ किया गया है कि जन-साधारण के लिए यह धारणा एक प्रकार से लोकोक्ति बन गई है—'मेरे मन कछु और है कर्त्ता के कछु और।' अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुर्वासा-शाप, मुद्रिका-लोप आदि इसी प्रकार के प्रसग हैं।

२. अभिज्ञान —"अभिज्ञान शब्द से ही स्पष्ट है कि उसमे अज्ञान की ज्ञान में परिणति का भाव निहित है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ३०)। अरस्तू का शब्द है 'अनग्नोरिसिस' जिसका अर्थ है बुचर के मत से 'अभिज्ञान' और बाईवाटर के अनुसार 'रहस्योद्घाटन'। हमारे विचार में दोनो में कोई मौलिक भेद नही है। दोनो का अभिप्राय एक ही है 'सत्य का उद्घाटन' अथवा 'वस्तु-स्थिति का ज्ञान।' अभिज्ञान में किसी अज्ञात तथ्य—प्राय महत्त्वपूर्ण रहस्य—के सहसा उद्घाटन से कार्य की गति बदल जाती है। अरस्तू के नवीन व्याख्याकार पॉट्स का आक्षेप है कि यह स्थिति त्रासद प्रसगो की अपेक्षा कामद प्रसगो के अधिक अनुकूल है। स्थूलत यह आक्षेप उचित प्रतीत होता है, परन्तु मूलत अरस्तू की परिभाषा में 'अभिज्ञान' की सुखद (कामद) परिणति अनिवार्य नही है। उन्होने स्पष्ट लिखा है—"इसके कारण उन लोगो के मन में तो प्रेम-भाव जागृत हो जाता है जिनके सौभाग्य का वर्णन कवि को अभीष्ट रहता है और ऐसे लोगो के मन में, जिनके दुर्भाग्य का वर्णन अपेक्षित हो, घृणा उत्पन्न हो जाती है।" (पृ० ३०) यह दूसरी स्थिति निश्चय ही त्रासद है। अनेक प्रसगो में विशेषत दुर्भाग्यपूर्ण प्रसगो में रहस्य का उद्घाटन दुर्भाग्य की वृद्धि कर सकता है। रहस्य के उद्घाटन से स्थिति में परिवर्तन होता है—कथानक एक मोड लेता है, जो अनुकूल अथवा प्रतिकूल—सुखद अथवा दु खद कैसा भी हो सकता है।

अभिज्ञान के अनेक रूप है —

स्थिति-विपर्यय से संयुक्त अभिज्ञान—यहाँ अभिज्ञान वैषम्य के साथ घटित होता है। इस प्रकार के अभिज्ञान में दुहरा चमत्कार और कुतूहल होता है।

चिह्नों द्वारा अभिज्ञान—यह सब से कम कलात्मक है, पर विदग्धता के अभाव में इसका ही सब से अधिक प्रयोग किया जाता है। भारतीय साहित्य में दुष्यत द्वारा भरत के रक्षा-यत्र का स्पर्श इसी के अन्तर्गत आयेगा। अरस्तू इसे कदाचित् इसलिए कम कलात्मक मानते हैं, क्योकि इसमें बाह्य—प्रायः अति-प्राकृत—तत्त्व की उद्भावना अनिवार्य हो जाती है जिससे कथा के सहज मनोवैज्ञानिक विकास में बाधा आती है।

आयोजित अभिज्ञान—यहाँ कवि अपनी इच्छा के अनुसार मनमाने ढग से अभिज्ञान सपन्न कराता है।

स्मृति-जन्य अभिज्ञान—अभिज्ञान का यह प्रकार स्मृति पर निर्भर है जब वस्तु-विशेप को देखकर मन में कोई भाव जागृत हो जाता है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् का 'अभिज्ञान' इसी कोटि मे आता है। राजा को मुद्रिका के दर्शन से शकुन्तला का स्मरण हो आता है और कथा की गति वदल जाती है।

वितर्क द्वारा अभिज्ञान—इसमें अभिज्ञान का आधार होता है वितर्क। एक पात्र तर्क के द्वारा दूसरे पात्र का अभिज्ञान करता है। उदाहरण के लिए, खोएफोरी नामक नाटक में ईफिगेनिआ ओरेस्तेस का इस प्रकार वितर्क द्वारा अभिज्ञान करती है—"कोई ऐसा व्यक्ति आया है जिसकी आकृति मुझसे मिलती है, और मुझ से किसी की आकृति मिलती है तो ओरेस्तेस की, इसलिए ओरेस्तेस ही आया है।" भवभूति के उत्तररामचरित मे राम भी इसी प्रकार वितर्क के द्वारा अपने पुत्रो का अभिज्ञान करते है।

मिश्र अभिज्ञान—"अभिज्ञान का एक मिश्र प्रकार भी होता है जिसके अन्तर्गत कोई एक चरित्र कुछ गलत निष्कर्ष निकाल लेता है, जैसे—'सन्देशवाहक के भेष में ओद्युस्सेउस' में। क ने कहा (ओद्युस्सेउस के अतिरिक्त) अन्य कोई धनुष को नही चढा सकता। अतएव ख—(अर्थात् छद्मवेशी ओद्युस्सेउस ने यह सोचा कि क धनुष को पहचान लेगा, जिसे उसने वास्तव में देखा नही था। और इस आधार पर अभिज्ञान सपन्न कराना कि क धनुष को पहचान लेगा दुष्ट तर्क है।" (काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ४५)

स्वाभाविक अभिज्ञान—सर्वश्रेष्ठ अभिज्ञान वह है जो घटनाओ में से ही उद्भूत होता है, जहाँ आश्चर्यजनक रहस्योद्घाटन स्वाभाविक साधनो से ही होता है। उदाहरण के लिए, सोफोक्लेस के 'ओद्युस्सेउस' में ऐसा ही हुआ है और ईफिगेनिआ में भी। भारतीय साहित्य में महाभारत के अनेक प्रसगो में इसी प्रकार सहज रीति से घटनाओ के स्वाभाविक परिणाम के रूप में अर्जुन का 'अभिज्ञान' सम्पन्न होता है—जैसे द्रौपदी-स्वयवर के अवसर पर, चित्ररथ-विजय के उपरान्त, आदि आदि।

साधारणत अभिज्ञान वस्तु और व्यक्ति दोनो का ही हो सकता है, परन्तु इन दोनो में अधिक स्वाभाविक व्यक्ति का अभिज्ञान ही है। कार्य-व्यापार का कर्त्ता और भोक्ता व्यक्ति ही होता है, इसलिए कथा में कुतूहलपूर्ण परिवर्तन करने की क्षमता (जो अभिज्ञान का मूल उद्देश्य है) व्यक्ति में ही होती है। इसीलिए उसका अभिज्ञान अधिक स्वाभाविक होता है।

कथानक के दो भाग

प्रत्येक त्रासदी के दो भाग होते हैं—सवृति और विवृति या निगति। कार्य-व्यापार के बाहर की घटनाएँ प्राय उसके अपने किसी भाग से सयुक्त होकर सवृति की सृष्टि करती है, शेष विवृति होती है। सवृति से मेरा तात्पर्य ऐसे समस्त कथा-भाग से है जिसका विस्तार कार्य-व्यापार के आरम्भ से उस स्थल तक होता है जहाँ कथा नायक के उत्कर्ष की ओर मोड लेती है। विवृति का विस्तार इस परिवर्तन के आरम्भ से (कथा के) अन्त तक होता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ४८)। इस विभाजन का आधार कुतूहल है। सवृति से अभिप्राय है उलझन और वास्तव मे काव्य-शास्त्र के अग्रेजी अनुवादो में इसी शब्द के पर्याय[1] का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ यह है कि कथानक के पूर्वार्द्ध में त्रासदीकार घटनाओं को उलझाकर कुतूहल की वृद्धि करता है। दूसरा भाग है विवृति। अरस्तू ने जिस यूनानी शब्द का प्रयोग किया है उसका अर्थ है खोलना या सुलझाना। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कथा के उत्तरार्द्ध में त्रासदीकार पूर्वार्द्ध की ग्रन्थि को खोलकर—उलझन को सुलझाकर—उसमें उद्बुद्ध कुतूहल का परितोष करता है। इस प्रकार नाटक के कथानक का लक्ष्य है कुतूहल का परितोप। उसका पूर्व भाग कुतूहल का सवरण करता है और दूसरा भाग उसे परितुष्ट करता है।

अरस्तू ने इस प्रसग में कथानक की रोचकता की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। यहाँ भी उनकी पद्धति सामान्य विवेक की पद्धति है। इसी विभाजन के आधार पर पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र में वस्तु की पाँच अवस्थाओ—(१) आरम्भिक घटना, (२) कार्य-विकास, (३) चरमघटना, (४) निगति और (५) अतिम फल—का विकास हुआ है। आरम्भिक घटना, कार्य-विकास तथा चरम घटना सवृत्ति भाग के अग हैं, और निगति से अन्तिम फल तक निवृति भाग है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में पच अवस्थाओ, अर्थ-प्रकृतियो तथा उनकी सयोजक पचसधियो के प्रसगो में कथानक के विभाजन का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन मिलता है। आरम्भ, यत्न और प्राप्त्याशा तक अरस्तू का सवृति भाग चलता है और नियताप्ति से फलागम तक विवृति भाग। इसी प्रकार मुख, प्रतिमुख और गर्भसन्धि तक सवृति भाग मानना चाहिए, अवमर्श सन्धि में नई बाधा उपस्थित होती है, परन्तु वह समाधानकारी ही होती है, और अन्त में निर्वहण सधि में जाकर कार्य तथा फलागम के योग से उलझन बिल्कुल सुलझ जाती है।

१—काम्प्लिकेशन

यद्यपि उपर्युक्त अगो का विवेचन अरस्तू ने त्रासदी के प्रसग में किया है, फिर भी जैसा कि उन्होने आगे चलकर स्पष्ट किया है, ये प्रबन्ध-काव्य के कथानक के सामान्य अग है। महाकाव्य के वस्तु-विधान में भी स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान सवृति तथा विवृति का उतना ही महत्त्व है जितना नाटक में।

त्रासद स्थितियाँ

त्रासदी का व्यावर्तक धर्म है त्रास तथा करुणा के मिश्र प्रभाव की उद्बुद्धि, अत वे ही स्थितियाँ त्रासदी के उपयुक्त हो सकती है जो इस प्रभाव को उत्पन्न कर सकें। अरस्तू ने अत्यन्त विस्तार तथा मनोनिवेश से इनका विश्लेषण किया है।

सबसे पहले तो उन्होने 'त्याग की विधि' से उन परिस्थितियो का उल्लेख किया है जो त्रासदी के प्रतिकूल है, जिनका सफल त्रासदी से बहिष्कार होना चाहिए—

प्रतिकूल स्थितिया—(१) "किसी (सर्वथा) सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखाया जाये। इससे न करुणा की उद्बुद्धि होगी, न त्रास की, इससे तो हमें आघात ही पहुँचेगा।" पृ० ३२।

अरस्तू का तर्क कदाचित् यह है कि सर्वथा सत्पात्र एक आदर्श पात्र होता है जो मानव-दोषो से ही नही, वरन् मानव-दुर्बलताओ से भी मुक्त होता है। ऐसे पात्र के प्रति आदर और सम्भ्रम का भाव होने के कारण एक प्रकार की दूरी हमारे मन मे बनी रहती है, अत उसके साथ तादात्म्य कठिन हो जाता है। उसकी विपत्ति के प्रति हमारे मन में न सहज मानव-सुलभ करुणा उत्पन्न होती है और न उसकी यातना से त्रास का ही उद्बोध होता है। हमारे मन मे यह भावना प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से विद्यमान रहती है कि यह व्यक्ति जहाँ मानव-दोषो और दुर्बलताओ से मुक्त है, वहाँ त्रास और शोक आदि की अनुभूति से भी ऊपर उठा हुआ है। यह भावना निश्चय ही त्रासद-करुण प्रभाव में बाधक होनी चाहिए।

(२) "किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सपत्ति मे उत्कर्ष का चित्रण भी नही रहना चाहिए, क्योकि त्रासदी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नही हो सकती। इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नही है। इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्बुद्धि ही।" (पृ० ३२)।—यह स्थापना तो स्वत स्पष्ट है। एक तो सामान्यत त्रासदी में विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण ही नही होना चाहिए। और,

यदि कही वाछनीय भी हो, तो इसका भोक्ता खल पात्र नही होना चाहिए। ऐसी स्थिति का प्रभाव त्रासदी के प्रभाव के सर्वथा प्रतिकूल होगा। यहाँ 'उत्कर्ष' के कारण त्रास और करुणा की उद्‌बुद्धि का तो प्रश्न ही नही उठता, इनके विपरीत नैतिक भावना को आघात लगने से वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है। त्रास-करुणा का अभाव और वितृष्णा की उत्पत्ति दोनो मिलकर त्रासदी के 'आस्वाद' को पूर्णत नष्ट कर देते हैं।

(३) "किसी अत्यन्त खल पात्र का पतन दिखाना भी सगत नही है— इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्‌वोध नही हो सकेगा क्योकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से जागृत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से।" (पृ० ३२)।

उपर्युक्त स्थापना अरस्तू की तत्त्वदर्शी प्रतिभा की द्योतक है। उनका तर्क अत्यन्त तीखा और निर्भ्रान्त है। अत्यन्त खल पात्र के साथ सामान्य प्रेक्षक तादात्म्य नही कर सकता, क्योंकि वह उसके दोषो का आरोप अपने ऊपर कदापि नही कर सकता है, अत वह न उसके त्रास से त्रास का अनुभव करता है और न पीडा से पीडा का। वह तो यह अनुभव करता है कि विपन्न पात्र अपनी अत्यन्त खलता के कारण त्रास और पीडा दोनो का ही अधिकारी है, अत जो हो रहा है वह उचित ही है। इस प्रकार त्रास-करुणा के स्थान पर प्रेक्षक एक प्रकार के नैतिक एव मनोवैज्ञानिक परितोष का अनुभव करता है— त्रास-करुणा का अभाव और उसके स्थान पर मन परितोष का सद्‌भाव त्रासदी के आस्वाद के सर्वथा प्रतिकूल है।

उपर्युक्त स्थितियाँ त्रासदी के नितान्त प्रतिकूल है। 'त्रासद स्थिति' इनसे सर्वथा भिन्न होनी चाहिए।

त्रासदी के अनुकूल स्थिति —(१) त्रासदी मे किसी ऐसे महिमाशाली व्यक्ति के दुर्भाग्य (उत्कर्ष से अपकर्ष में पतन) का चित्रण रहना चाहिए जो 'अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नहीं है, फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नही वरन् किसी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है।' (पृ० ३३)।

यह दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति—

महिमाशाली व्यक्ति से सम्बद्ध होने के कारण **सप्रभाव** होगी।

भोक्ता के नितान्त सच्चरित्र न होने से **नैतिक क्षोभ तथा वितृष्णा उत्पन्न नहीं करेगी।**

पाप अथवा दुर्गुण-जन्य न होने से प्रेक्षक को **संतोष नहीं देगी।**

सर्वथा अकारण न होने से **नैतिक भावना का भी परितोष करेगी।** और अन्त मे—मानव की किसी सहज दुर्बलता या भूल का परिणाम होने के कारण **सहज मानव-करुणा का उद्रेक करेगी।**

अत इसका प्रभाव, वस्तुत त्रासदी के सर्वथा अनुकूल, त्रासद-करुण प्रभाव होगा और यह स्थिति त्रासदी के सर्वाधिक अनुकूल होगी।

(२) यह स्थिति ऐसी अवस्था मे और भी अनुकूल हो जाती है जब यह त्रासद-करुण घटना ऐसे लोगो के बीच होती है जिनमे घनिष्ठता या स्नेह-सम्बन्ध हो—'जैसे यदि भाई भाई की, पुत्र पिता की, माँ बेटे की अथवा बेटा माँ की हत्या करे या करना चाहे—अथवा इसी प्रकार का कोई और कृत्य हो।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ३६)। इस प्रकार की घटना यदि शत्रु शत्रु के बीच हो, या दो उदासीन व्यक्तियो के बीच, तो वह त्रासदी के अनुकूल नही होगी—रक्तपात या अन्य प्रकार के यातना-परक दृश्य स्थूल रूप से त्रास अथवा करुणा की उद्‌बुद्धि अवश्य कर सकते हैं, परन्तु त्रासदी का सूक्ष्म प्रभाव उनकी सामर्थ्य से बाहर है।

इस प्रकार की स्थिति के अनेक रूप हो सकते है —

(क) दारुण कार्य जान-बूझकर किया जाने वाला हो, परन्तु न हो। यह रूप सबसे निकृष्ट है। "इससे क्षोभ होता है, करुणा नही, क्योकि इसके फल-स्वरूप कोई अनर्थ तो होता नही।"—अरस्तू इसे सबसे निकृष्ट इसलिए मानते है कि इससे करुण रस का परिपाक तो अन्तत नही हो पाता, किन्तु जान-बूझकर स्वजनो के साथ अपराध करने वाले के प्रति घृणा या क्षोभ की उद्‌बुद्धि अवश्य हो जाती है। अत यह स्थिति क्षोभकारी है, त्रासद-करुण नहीं है।

(ख) कार्य जान-बूझ कर किया जाने वाला हो और हो जाये। यहाँ क्षोभ तो अवश्य होगा, क्योकि कर्त्ता जान-बूझकर इष्टजन का अनर्थ कर रहा है, परन्तु दारुण घटना के घट जाने से यह क्षोभ करुणा मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार परिणति में त्रासद तत्त्व होने के कारण अरस्तू इस स्थिति को पहली स्थिति की अपेक्षा अधिक उपयुक्त मानते है।

(ग) कार्य अनजाने कर दिया जाये और वस्तु-स्थिति का उद्‌घाटन बाद में हो। यह स्थिति और भी उत्कृष्ट है। दारुण कृत्य के द्वारा यहाँ त्रास और करुणा की उद्‌बुद्धि होती है, कर्त्ता वस्तु-स्थिति से अनभिज्ञ है इसलिए

क्षोभ उत्पन्न नही होता, और अन्त मे वस्तु-स्थिति के उद्घाटन से—यह जानकर कि कर्त्ता ने अनजाने भाग्य के कुचक्र से स्वजन का ही वध या अनिष्ट किया है—एक ओर जहाँ आश्चर्य होता है, वहाँ दूसरी ओर करुणा और भी तीव्र हो जाती है, क्योकि कर्त्ता स्वय ही करुणाभिभूत हो जाता है।

(घ) कार्य अनजाने किया जाने वाला हो परन्तु समय रहते वस्तु-स्थिति के उद्घाटन से अन्त में दुर्घटना होने से बच जाये। अरस्तू के अनुसार यह स्थिति त्रासदी के लिए सर्वश्रेष्ठ है।—अरस्तू का यह मन्तव्य विवादास्पद है। इससे त्रासदी के विषय में एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है—क्या त्रासदी के लिए शोकान्त होना अनिवार्य नही है? अरस्तू का मत स्पष्ट है—उनके अनुसार त्रास और करुणा की स्थायी परिव्याप्ति तो त्रासदी के लिए अनिवार्य है, दारुण अन्त नही। उपर्युक्त स्थिति में कर्त्ता के अज्ञान के कारण क्षोभ या आघात का अभाव रहता है, दारुण प्रयत्न से त्रास और करुणा की उद्बुद्धि होती है, वस्तु-स्थिति के उद्घाटन से आश्चर्य का जन्म होता है, और अन्त में दुर्घटना के निवारण से मन को गम्भीर राहत मिलती है, परन्तु क्या नाटक की अशोकान्त परिणति त्रासदी की आत्मा के प्रतिकूल नही है?—क्या यह सुखद अन्त त्रासदी के सारभूत त्रासद-करुण प्रभाव की क्षति नही करता? अरस्तू का उत्तर नकारात्मक ही है। उनका मत यह है कि जिस त्रासद-करुण भाव का परिपाक सम्पूर्ण नाटक के कलेवर में स्थायी रूप से होता रहा है, वह अन्तिम घटना-विपर्यय से नष्ट नही हो सकता। त्रासदी की समस्त कथा-वस्तु में रमा होने के कारण करुण रस प्रेक्षक की चेतना में रम जाता है, अत एक घटना की विपरीत परिणति उसको निराकृत नहीं कर सकती। अरस्तू के पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि यूनानी भाषा के अनेक नाटको में तथा सस्कृत के उत्तररामचरित मे, अन्त सशोक न होने पर भी, करुण रस का परिपाक अक्षुण्ण है। गर्माकर ठडा करने से ही विरेचन की क्रिया सफल होती है। साराश यह है कि अरस्तू अशोक अन्त को त्रासदी के लिए घातक नही मानते—यह निर्विवाद है।

यह निष्कर्ष उन्होने यूनानी नाट्य-साहित्य से अनुगम-शैली द्वारा उपलब्ध किया था—इसकी तात्त्विक सत्यता के विषय में भी कदाचित् उन्हे सदेह नही था, किन्तु उनके विवेक-पुष्ट दृष्टिकोण को यह अधिक ग्राह्य नही हुआ और इसीलिए उन्होने 'विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष' को त्याज्य न मानते हुए भी 'सम्पत्ति से विपत्ति में पतन' को ही त्रासदी की आत्मा के अधिक अनुकूल माना है—'भाग्य-परिवर्तन अपकर्ष से उत्कर्ष में नही, वरन् उत्कर्ष से अपकर्ष में

होना चाहिए'—(पृ० ३३)। वास्तव मे परवर्ती आचार्यों ने भी इसी मत का पोषण किया और 'सशोक अन्त' त्रासदी के लिए प्राय अनिवार्य ही माना गया।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह प्रश्न अत्यन्त रोचक है। क्या नाटक का सारभूत प्रभाव अन्तिम परिणाम से निरपेक्ष रह सकता है? भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली मे क्या अगी रस का परिपाक फलागम से स्वतत्र हो सकता है? सारभूत प्रभाव किसी एक घटना पर आश्रित न होकर समस्त कथा-विधान तथा नाट्य-कला का समजित प्रभाव होता है, अत केवल अन्तिम घटना उसका निर्धारण नही कर सकती। किसी त्रासदी का क्रमश सकलित त्रासद-करुण प्रभाव केवल सुखद परिणति से नष्ट नही हो सकता—केवल सुखद अन्त से त्रासदी सहसा कामदी नही बन सकती। इसी प्रकार केवल करुण अन्त से—किसी दारुण कृत्य अथवा दुर्घटना मात्र से कामदी का हर्ष-उल्लास से परिपुष्ट प्रभाव सहसा नष्ट होकर त्रासद-करुण चेतना में परिणत नही हो जाता। वास्तव में प्रबन्ध-काव्य का समजित प्रभाव केवल एक मनोविकार या क्षणिक अनुभव न होकर वृत्ति-रूप होता है, वह एक 'स्थायी' भाव होता है—रिचर्ड्स ने उसे मनोवृत्ति[1] कहा है। अत उसका सहसा रूप-परिवर्तन नहीं हो सकता। भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध के इस सकलित तथा समजित प्रभाव को अगी रस कहा गया है—"प्रबन्धो (काव्य या नाटकादि) में (अन्यो की अपेक्षा) प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होने से जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्ध में (आद्यन्त) वर्तमान, उस रस का बीच-बीच में आए हुए अन्य रसो के साथ जो समावेश है, वह उसके प्राधान्य (अगिता) का विघातक नही होता।" (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ३१३)। अर्थात् प्रबन्ध काव्य के रसो में अगी रस की स्थिति वही होती है—जो भावो मे स्थायी भाव की। जिस प्रकार रस के परिपाक में सचारी भाव उन्मग्न-निमग्न होकर स्थायी भाव का पोषण करते है, इसी प्रकार अगी रस के परिपाक में अन्य रस अगी रस का पोषण करते है, अतएव निरन्तर व्याप्ति तथा स्थायित्व अगी रस के मूल लक्षण है। स्वभावत यह किसी एक घटना पर—अतिम घटना-मात्र पर—निर्भर नही रह सकता, यह निर्विवाद है, परन्तु यह घटना भी, यदि वह सप्रभाव है, अगी रस को प्रभावित अवश्य करती है—इसमें भी सदेह नहीं है। कुन्तक आदि भारतीय आचार्यों ने और स्वय अरस्तू ने इस तथ्य को यथावत् स्वीकार किया है कि प्रबन्ध-काव्य मे कोई भी प्रमुख

१—ऐटिट्यूड

घटना ऐसी नहीं होनी चाहिए, जो 'कार्य' तथा उस पर आश्रित मूल प्रभाव के विरुद्ध हो। सस्कृत काव्य-शास्त्र में विरोधी रस का परिहार इसीलिए आवश्यक माना गया है। और, फिर अन्तिम घटना का महत्त्व तो प्राय अन्य घटनाओं की अपेक्षा अधिक होता है—सारभूत प्रभाव की सृष्टि में उसका प्रबल योग रहता है, यह स्वत सिद्ध है, अतएव उसका वैपरीत्य निश्चय ही प्रबन्ध-काव्य के समजित प्रभाव में बाधक होगा। सुखद अन्त से त्रासदी के सकलित प्रभाव की न्यूनाधिक क्षति अवश्य होगी और दु खद अन्त से कामदी के प्रभाव की। हमारे आचार्य के शब्दो में इससे औचित्य की हानि होगी। इसी दृष्टि से तत्त्व-रूप मे उपर्युक्त विधान का निषेध न करते हुए भी, अन्त मे, अरस्तू ने व्यावहारिक विवेक की दृष्टि से उसे अवाछनीय माना है।

त्रासदी का रागात्मक प्रभाव

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो के उपर्युक्त विश्लेषण से त्रासदी के रागात्मक प्रभाव का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। अरस्तू के अपने शब्दो में यह रागात्मक प्रभाव "एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द है जो अनुकरण के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है।" त्रास और करुणा की यह समजित भावना नैतिक क्षोभ, वितृष्णा तथा स्तम्भ एव जुगुप्सा आदि से सर्वथा शुद्ध रही है। इसका आधार सहज मानव-दुर्बलता होती है—यह करुण-विवश चेतना कि अन्ततोगत्वा मानव कितना दुर्बल और असहाय है! हाँ, घटनाओ की अप्रत्याशित आवृत्ति के कारण एक प्रकार का आश्चर्य-भाव इसके साथ मिश्रित रहता है। और अन्त में, यह अनुभूति प्रत्यक्ष तथा जीवनगत न होकर अप्रत्यक्ष तथा कलागत होती है।

साराश यह है कि त्रासदी का रागात्मक प्रभाव—

(१) अन्तत आस्वाद-रूप होता है।

(२) मानव-दुर्बलता की करुण-विवश चेतना से उद्भूत त्रास और करुणा की उद्बुद्धि पर आश्रित रहता है।

(३) नैतिक क्षोभ और वितृष्णा से मुक्त होता है।

(४) आश्चर्य-समन्वित होता है।

(५) प्रत्यक्ष तथा ऐन्द्रिय अनुभूति न होकर 'भावित' अनुभूति-रूप होता है।

(६) कवि-कौशल के प्रति प्रशसा-भाव से युक्त होता है।

त्रासद-करुण प्रभाव का आनन्द

यहाँ स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि त्रासद-करुण भाव की उद्‌बुद्धि आस्वाद-रूप किस प्रकार होती है? इसका उत्तर अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध विरेचन-सिद्धान्त द्वारा दिया है।

विरेचन-सिद्धान्त

विरेचन-सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रन्थो में मिलता है—'राजनीति' में और 'काव्य-शास्त्र' मे। 'राजनीति' में सगीत के प्रभाव का वर्णन करते हुए यवन आचार्य लिखते है —

"किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि सगीत का अध्ययन एक नही, वरन् अनेक उद्देश्यो की सिद्धि के लिए होना चाहिए—(१) अर्थात् शिक्षा के लिए, (२) विरेचन (शुद्धि) के लिए (इस समय हम 'विरेचन' शब्द का प्रयोग बिना व्याख्या के कर रहे है, किन्तु इसके उपरान्त काव्य का विवेचन करते समय हम इस विषय का और अधिक यथार्थ प्रतिपादन करेंगे।), (३) सगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है, इससे परिश्रम के उपरान्त मनोविनोद होता है, अत यह स्पष्ट है कि हमें सभी रागो का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु सभी की विधि एक नही होनी चाहिए। शिक्षा के लिए सर्वाधिक नैतिक रागो को प्राथमिकता देनी चाहिए, किन्तु दूसरो का सगीत सुनने के समय (अर्थात् सगीत-सभाओ में या रगमच पर) हम कार्य (उत्साह) और आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागो का भी आनन्द ले सकते हैं, क्योकि करुणा और त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियो में बडे प्रबल होते हैं, और उनका न्यूनाधिक प्रभाव तो प्राय सभी पर रहता है। कुछ व्यक्ति 'हाल' की दशा में आ जाते है, किन्तु हम देखते है कि धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागो के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्‌बुद्ध करते है—वे शान्त हो जाते है, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी अपनी-अपनी सवेदन-शक्ति के अनुसार प्राय सभी—इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते है।"[१] (राजनीति, भाग ८, अध्याय ७)।

१—दी बेसिक वर्क्स ऑफ अरिस्टोटिल, पृ० १३१५—सम्पादक रिचर्ड मेकिओन

उपर्युक्त उद्धरण में काव्य-शास्त्र के जिस प्रसग की ओर सकेत किया गया है वह कदाचित् खण्डित है। उपलब्ध सस्करणो में केवल एक वाक्य है—

"अस्तु त्रासदी किसी गम्भीर, स्वत पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है . . जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विरेचन किया जाता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० १९)।

विरेचन का अर्थ—अरस्तू के व्याख्याताओ ने भिन्न-भिन्न शताब्दियो में विरेचन शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। मूलत यह शब्द चिकित्सा-शास्त्र का है, जिसका अर्थ है रेचक ओषधि के द्वारा शारीरिक विकारो—प्राय उदर के विकारो—की शुद्धि। उदर में बाह्य अथवा अनावश्यक पदार्थ का अन्तर्भाव हो जाने से जब आन्तरिक व्यवस्था गडबड हो जाती थी, तब यूनानी चिकित्सक रेचक ओषधि देकर उस बाह्य पदार्थ को निकाल कर रोगी का उपचार करते थे। इस अनावश्यक अस्वास्थ्यकर पदार्थ के निकल जाने से रोगी पुनः स्वास्थ्य और शान्ति-लाभ करता था। अरस्तू स्वय वैद्य के पुत्र थे और इस प्रकार के उपचार आदि का उन्हे प्रत्यक्ष अनुभव था , अत यह शब्द निश्चय ही उन्होने चिकित्सा-शास्त्र से ग्रहण किया था, जहाँ उसका अर्थ था—रेचक ओषधि द्वारा अशुद्ध तथा अस्वास्थ्यकर पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर-व्यवस्था को शुद्ध और स्वस्थ करना।

विरेचन शब्द इस अर्थ में यूनानी चिकित्सा-शास्त्र मे अरस्तू के पहले से प्रचलित था—अरस्तू ने वही से ग्रहण कर इसका लाक्षणिक प्रयोग किया है। लक्षणा के आधार पर परवर्ती व्याख्याकारो ने इसके प्राय. तीन अर्थ किये हैं—(१) धर्म-परक, (२) नीति-परक और (३) कला-परक।

(१) धर्म-परक अर्थ—धर्म-परक अर्थ की एक विशेष पृष्ठभूमि है। अन्य देशो की भाँति यूनान में भी नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवो से ही हुआ था। प्रो० गिल्बर्ट मरे का कथन है कि यूनान में दिओन्युसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप मे एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था—विगत वर्ष के कलुष और विष, तथा पाप और मृत्यु के दुःसंसर्गो से शुद्धि का प्रतीक। लिवी के अनुसार ३६१ ई० पू० में—अरस्तू के जीवन-काल में ही—यूनानी त्रासदी का रोम मे प्रवेश कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नही, वरन् एक प्रकार के धार्मिक अन्ध-विश्वास के रूप में, किसी महामारी के निवारण के लिए, हुआ था।[1] उपर्युक्त उद्धरण में अरस्तू ने स्वय एक अन्य प्रकार

[1]—प्रो० गिल्बर्ट मरे की भूमिका, पृ० १६ (काव्य-शास्त्र—अनुवादक बाईवाटर)

की धार्मिक प्रक्रिया का उल्लेख किया ही है। 'हाल' की स्थिति से उत्पन्न आवेश के शमन के लिए यूनान मे उद्दाम सगीत का उपयोग होता था, वाह्य विकारो के द्वारा आन्तरिक विकारो की शान्ति का यह उपाय अरस्तू के समय में धार्मिक सस्थाओ में काफी प्रचलित था—और उन्होने इसका लाक्षणिक प्रयोग उसी के आधार पर किया है।

अतएव इन दो तथ्यो के आधार पर विरेचन का अर्थ हुआ—**वाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शांति।**

(२) नीति-परक अर्थ—नीति-परक अर्थ का आधार भी अरस्तू का यही उद्धरण है। बारनेज नामक जर्मन विद्वान् ने इसी के आधार पर विरेचन का नीति-परक अर्थ प्रस्तुत किया है। मानव-मन अनेक मनोविकारो से आक्रान्त रहता है जिनमें करुणा (शोक) और भय—ये दो मनोवेग—मूलत दु खद हैं। त्रासदी रगमच पर अवास्तविक परिस्थितियो के द्वारा इन्हे अतिरजित रूप में प्रस्तुत कर कृत्रिम अत निर्दोष उपायो से प्रेक्षक के मन में वासना-रूप से स्थित इन मनोवेगो के दश का निराकरण और उसके फलस्वरूप मानसिक सामजस्य का स्थापन करती है, अतएव विरेचन का नीति-परक अर्थ हुआ विकारो की उत्तेजना द्वारा सपन्न **अन्तर्वृत्तियों का समंजन अथवा मन की शांति एवं परिष्कृति—मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।** वर्तमान मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र इस अर्थ को पुष्ट करते हैं। हमारे मनोवेग प्राय कुठित होकर अवचेतन मे जाकर आश्रय लेते है और वहाँ से अव्यक्त रूप मे मन को दशित करते रहते हैं। इस मानसिक रुग्णता का उपचार यह है कि उनको उद्‌वुद्ध कर उचित रूप से परितुष्ट किया जाये। अभुक्त मनोवेग मनोग्रन्थि में परिणत हो जाता है और सम्यक् रीति से परितृप्त मनोवेग मानसिक स्वास्थ्य और सामजस्य प्रदान करता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र में प्रतिपादित उन्मुक्त-विचार-प्रवाह-प्रणाली द्वारा मानसिक रोगो का उपचार इसी सिद्धान्त पर आधृत है। इसमे सन्देह नही कि अरस्तू इस प्रणाली से परिचित नही थे, परन्तु उनकी क्रान्तदर्शी प्रतिभा में जीवन के मूलभूत सत्यो का साक्षात्कार करने की सहज शक्ति थी, अत यह मानना असगत न होगा कि मनोविश्लेपण-शास्त्र की आधुनिक प्रणाली से अपरिचित होते हुए भी वे उसके आधारभूत सत्य से अवगत थे। मानसिक स्वास्थ्य की साधक होने के कारण यह पद्धति नैतिक मानी गई है। यूरोप में शताब्दियो तक इसी नीति-परक अर्थ का प्राधान्य रहा, कारनेई, रेसीन आदि ने अपने-अपने ढग से इसी को प्रतिपादित किया है।

(३) **कला-परक अर्थ**—कला-परक अर्थ के सकेत गेटे तथा अगरेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचको में मिलते हैं। बाद में अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० बुचर ने इस अर्थ का अत्यन्त आग्रह के साथ प्रकाशन किया है—

"किन्तु इस शब्द का, जिस रूप में कि अरस्तू ने इसे अपनी कला की शब्दावली में ग्रहण किया है, और भी अधिक अर्थ है। यह केवल मनोविज्ञान अथवा निदान-शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला-सिद्धान्त का अभिव्यजक है .

इस प्रकार त्रासदी का कर्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नही है, किन्तु इन्हे एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है, इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।"[१] प्रो० बुचर का आशय सर्वथा स्पष्ट है उनके अनुसार विरेचन का केवल चिकित्सा-शास्त्रीय अर्थ करना अरस्तू के अभिप्राय को सीमित कर देना है। 'राजनीति' के उद्धरण में तो उसका केवल उतना ही अर्थ माना जा सकता है, परन्तु काव्य-शास्त्र में कला-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तो के प्रकाश में उसका अर्थ व्यापक है—मानसिक सतुलन उसका पूर्वभाग मात्र है, उसकी परिणति है कलात्मक परिष्कार, जिसके बिना त्रासदी के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नही होता।

अरस्तू का अभिप्राय—अरस्तू का वास्तविक अभिप्राय क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर अनुमान और तर्क के आधार पर ही दिया जा सकता है , क्योकि प्रस्तुत प्रसग से सम्बद्ध उनका अपना विवेचन अत्यन्त अपर्याप्त है।

अपने अनुकरण-सिद्धान्त की भाँति अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन भी प्लेटो के आक्षेप के प्रतिवाद-रूप में ही किया है। प्लेटो ने काव्य पर यह दोपारोप किया था कि "कविता हमारी वासनाओ का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है"—(गणराज्य) । अरस्तू ने अपने समय मे प्रचलित चिकित्सा-पद्धति से सकेत ग्रहण कर, विरेचन के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा, इसी आक्षेप का उत्तर दिया है—त्रासदी में "करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विरेचन किया जाता है।" उनके इस वाक्य में वस्तुत क्या और कितना अर्थ निहित है, इसका अनुसधान करना है।

विरेचन शब्द के उपरि-लिखित तीनो अर्थों में निश्चय ही सत्य का अश

१—अरिस्टोटिल्स थिअरी ऑफ पोइट्री एड फाइन आर्ट, पृ० २३६

वर्तमान है। फिर भी हमारी धारणा है कि कदाचित् कुछ व्याख्याकारो ने उसमें अभिप्रेत से अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए प्रो० गिल्बर्ट मरे का ही अर्थ लीजिए। उनकी दृष्टि यूनानी भाषा और पुरा-विद्या के ज्ञान से इतनी आक्रान्त प्रतीत होती है कि सिद्धान्त-पक्ष उसके नीचे दब जाता है। उनकी भूमिका का पूर्वार्ध—जिसमें उन्होंने काव्य-शास्त्र के शुद्ध अनुवाद का नमूना दिया है—इसका प्रमाण है। यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध-स्थापन कदाचित् उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसमे सन्देह नही कि अपने युग की परिस्थितियो से अरस्तू ने निश्चय ही प्रभाव ग्रहण किया होगा और, सम्भव है, विरेचन-सिद्धान्त की परिकल्पना पर उपर्युक्त प्रथा अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य प्रथा या घटना का प्रभाव रहा हो, परन्तु वह प्रभाव सर्वथा अप्रत्यक्ष ही माना जा सकता है—दोनो में कोई सीधा सम्बन्ध स्थापित करना अनावश्यक है।

इसी प्रकार प्रो० बुचर का अर्थ भी विचारणीय है। उनके अनुसार विरेचन के अर्थ के दो पक्ष है—एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। मनोवेगो के उत्तेजन और तत्पश्चात् उनके शमन से उत्पन्न मन शान्ति उसका अभावात्मक पक्ष है, इसके उपरान्त कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। यह भावात्मक पक्ष कदाचित् अरस्तू के शब्दो की परिधि से बाहर है। अरस्तू मन के सामजस्य और तज्जन्य विशदता को ही त्रासदी का प्रयोजन मानते है। इस प्रकार का सामजस्य परिणामत भावनाओ की शुद्धि और परिष्करण भी करता है, यह भी ग्राह्य है, परन्तु उसके उपरान्त कला-जन्य आस्वाद भी अरस्तू के विरेचन शब्द में अन्तर्भूत है—यह मानने में कठिनाई हो सकती है। कलागत आस्वाद से वे अपरिचित नही थे—काव्य-शास्त्र के आरम्भ मे ही उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में अनुकरण-जन्य इस कलास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण किया है। त्रासदी भी अनुकरण-मूलक कला है, वरन् अरस्तू के मत से कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है, अत कलास्वाद या बुचर के शब्दो में 'कलात्मक परितोष' की उपलब्धि त्रासदी के द्वारा निश्चित रूप में होती है और अन्य कला-भेदो से अधिक होती है, परन्तु क्या यह आस्वाद 'विरेचन' के अन्तर्गत आता है? हमारा मत है कि विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य ह—समजित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कलास्वाद का सहज अन्तर्भाव नही है, अतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित् न्याय्य नही है, यह व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारो के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मन-

शान्ति तक ही सीमित है, 'विरेचन' शब्द से मन की यह विशदता ही अभिप्रेत है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने 'अन्तर्वृत्तियों के समजन' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

विरेचन-सिद्धान्त और आनन्द

इस प्रकार अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त अपने ढग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। त्रास और करुणा दोनो ही कटु भाव है—अरस्तू की अपनी परिभाषा के अनुसार दोनो ही दुःखद अनुभूति के भेद है। त्रास में किसी आसन्न, घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति रहती है और करुणा में किसी निर्दोष व्यक्ति के घातक अनिष्ट के साक्षात्कार से—और इन दोनो में ही अपने अनिष्ट की भावना भी प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहती है।[1] मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता अथवा दश नष्ट हो जाता है और प्रेक्षक एक प्रकार की मनःशान्ति का उपभोग करता है। विरेचन के द्वारा उत्तेजना समाहित हो जाती है और मन सर्वथा विशद हो जाता है। यह मनःस्थिति कटु विकारो से मुक्त होने के कारण निश्चय ही सुखद होती है—पीडा या कटुता का अभाव भी अपने आप में सुख है।

प्रो० वुचर ने 'दुःख में सुख' की इस समस्या के समाधान में अरस्तू के विवेचन के आधार पर दो और प्रमुख कारण दिये है। त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुःखद अनुभूतियाँ है, परन्तु त्रासदी में वे वैयक्तिक दश से मुक्त, साधारणीकृत रूप मे उपस्थित होती है। 'स्व' की भौतिक सीमा में वद्ध वे कटु अनुभूतियाँ है, परन्तु 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्त होकर उनकी कटुता नष्ट हो जाती है। 'स्व' का यह विस्तार अथवा उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति है। दूसरा कारण है कलात्मक प्रक्रिया। कला की प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त है समजन—अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना ही अरूप को रूप देना है, यही कलात्मक सृजन है जो सुखद है। इस प्रक्रिया में पडकर त्रास और करुणा का दश नष्ट हो जाता है, दुःख सुख में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त दोनो कारण विरेचन-प्रक्रिया से सम्बद्ध होते हुए भी उसके

१—अरस्तू : भाषण-शास्त्र (भाग २, अ० ४, १३८२ अ–२०) और भाग २, अ० ७, १३८५ व–१२–१६ (दी वेसिक वर्क्स ऑफ ऐरिस्टोटिल-रिचर्ड मेकिओन)

अगभूत नही है।(विरेचन मे न तो 'स्व' का उन्नयन अन्तर्भूत है और न कला का आनन्द।)अरस्तू इन दोनो तत्त्वो से सर्वथा अवगत थे, और इन दोनो का सक्षिप्त विवेचन भी उन्होने किया है, परन्तु यह विवेचन विरेचन-सिद्धान्त का अग नही है, अतएव विरेचन-सिद्धान्त में सुख का केवल अभावात्मक रूप ही प्रतिपादित है—मन शाति, विशदता, या राहत से आगे वह नही जाता। यह अनुभव भी निश्चय ही सुखद है, परन्तु यह सुख ऋणात्मक है, धनात्मक नही है—भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द की भूमिका है, आनन्द नही है।

विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार

अनेक आलोचको को त्रासदी द्वारा विरेचन की प्रक्रिया का अस्तित्व ही मान्य नही है—उनका आक्षेप है कि वास्तविक अनुभव मे इस प्रकार का विरेचन नही होता। हमारे करुणा, भय आदि मनोवेग उद्‌बुद्ध तो हो जाते है परन्तु उनके रेचन से मन शान्ति सर्वदा नही होती—अनेक नाटक केवल भावो को क्षुब्ध कर ही रह जाते है। इसके विपरीत कभी-कभी हम केवल कला का आस्वादन ही करते हैं, अवास्तविक होने के कारण त्रासदी मे प्रदर्शित भाव हमारे भावो को उत्तेजित ही नही करते, अत विरेचन का प्रश्न ही नही उठता। हमारे विचार में ये दोनो आक्षेप असगत हैं। त्रासदी से प्रेक्षक को केवल कवि तथा नट की कला का चमत्कार ही प्राप्त होता है, उस पर रागात्मक प्रभाव नही पडता—यह मानना त्रासदी के महत्त्व का घोर अवमूल्यन करना है। काव्य के किसी भी रूप का और विशेपत त्रासदी का चमत्कार तो मूलत रागात्मक ही होता है, अन्यथा वह काव्य न रहकर शिल्प मात्र रह जाता है। और, जब त्रासदी का रागात्मक प्रभाव असदिग्ध है तब उसके प्रेक्षण या श्रवण-पाठ से सहृदय के भावो की उद्‌बुद्धि स्वत सिद्ध है। भावो की उद्‌बुद्धि आनन्द नही है, उनका समजन आनन्द है, और यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि त्रासदी केवल भावो को विक्षुब्ध कर छोड देती है। कोई भी सफल त्रासदी ऐसा नही करती—यह सारभूत समजनकारी प्रभाव ही तो उसकी सफलता का कारण है, इसी के लिए प्रेक्षक समय और रुपया खर्च करता है। अत यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है—अनुभव से असिद्ध है।

वास्तव मे विरेचन-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा पुष्ट है। पहले तो मनोविज्ञान ही इस प्रक्रिया को आरम्भ से स्वीकार करता आया है और अब मनोविश्लेषण-शास्त्र ने तो इसे अपने आधारभूत सिद्धान्तो में ग्रहण कर लिया है। मनोविश्लेषक भावनाओ की अतृप्ति या दमन को मानसिक

रोगो का प्रमुख कारण मानता है—अतः इनका उपचार वह भावों की उचित अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा ही करता है। प्राय सभी भाव, जो मूलत प्रवृत्तियो पर आश्रित रहते हैं, हमारे अवचेतन मन में स्थित रहते हैं। जीवन में उनको यदि उचित अभिव्यक्ति तथा परितोष न मिले तो उनसे अनेक प्रकार के रोग और ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती है, अत मन को स्वस्थ रखने के लिए यह अनिवार्य है कि चेतन अनुभव का विषय बनाकर उनको तृप्त किया जाये। इस प्रकार मन की ग्रन्थियाँ खुल जाती है, घुमड़न दूर हो जाती है और चित्त विशद हो जाता है। जैसा कि मैंने पूर्व प्रसग में कहा है मनोविश्लेषण-शास्त्र की उन्मुक्त-विचार-प्रवाह-पद्धति का आधार वस्तुत यही है और फ्रायड आदि ने अनेक स्थलो पर अरस्तू के वाक्यो से समर्थन प्राप्त किया है।

विरेचन-सिद्धान्त और करुण रस

अरस्तू-प्रतिपादित त्रासद प्रभाव का भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस मे पर्याप्त साम्य है। त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग हैं करुणा और त्रास और इन दोनो में ही पीडा की अनुभूति का प्राधान्य है। उधर करुण रस का स्थायी भाव है शोक जिसके कुछ प्रतिनिधि लक्षण इस प्रकार है —

(१) शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धनदु खानुभवनादिभिर्विभावैस्समुपजायते ।

अर्थात्—शोक नाम का भाव इष्ट-वियोग, विभव-नाश, वध, कैद तथा दु खानुभूति आदि विभावो (कारणो) से उत्पन्न होता है। (नाट्य-शास्त्र)।

(२) इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्य शोकशब्दभाक् ।

अर्थात्—इष्ट के नाश आदि से उत्पन्न चित्त के क्लेश का नाम शोक है।
(साहित्य-दर्पण)।

(३) मृते त्वेकत्र यत्रान्य प्रलपेच्छोक एव स ।

एक के मरने पर जहाँ दूसरा विलाप करे वहाँ शोक होता है। (दशरूपक)

इन सभी लक्षणो में शोक के अन्तर्गत करुणा का प्राधान्य तो है ही, किन्तु वध, बन्धन आदि के कारण त्रास का भी सद्भाव है, अत करुण रस के परिपाक में शोक स्थायीभाव के अन्तर्गत भारतीय काव्य-शास्त्र भी करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इष्टनाश अथवा विपत्ति शोक का कारण है—और इससे करुणा और त्रास दोनो की ही उद्भूति होती है करुणा की वास्तविक विपत्ति के साक्षात्कार से और त्रास की वैसी ही विपत्ति की पुनरावृत्ति की आशका से , परन्तु अरस्तू और भारतीय

आचार्य के दृष्टिकोण में कदाचित् एक मौलिक अन्तर यह है कि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक प्रकार का मिश्र भाव है, परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र का शोक स्थायी भाव मूलत अमिश्र ही रहता है। यहाँ भयानक एक पृथक् रस माना गया है। वह करुण का मित्र रस है और अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर प्राय उसका सवर्द्धन करता है। किन्तु ऐसी स्थिति में वह करुण का उद्दीपक एव सचारी बन जाता है, उसके सयोग से किसी मिश्र रस अथवा भाव को उद्बुद्ध नही करता। और, फिर उपरिलिखित अनेक कारण ऐसे भी है जो त्रास उत्पन्न नही करते। जहाँ तक इष्टजन के वध का सम्बन्ध है उसमे तो त्रास अनिवार्य है, किन्तु करुण के लिए वध तो अनिवार्य नही है—केवल मृत्यु ही अनिवार्य है, जो त्रास उत्पन्न किए बिना भी घटित हो सकती है। उदाहरण के लिए सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का स्पर्श नही है। अरस्तू भी ऐसी स्थिति से अनभिज्ञ नही है, परन्तु वे त्रासहीन करुण प्रसग को आदर्श त्रासद स्थिति नही मानते। भारतीय आचार्य इस विषय मे उनसे सहमत नहीं है क्योकि उसकी दृष्टि में सीता की कथा से अधिक 'करुण' प्रसग कदाचित् और कोई नहीं है। इस अन्तर के लिए दोनो के देश-काल और तज्जन्य सस्कार उत्तरदायी हो सकते हैं।

करुण रस का आस्वाद

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रतिनिधि मत तो यही है कि करुण रस का आस्वाद भी शृगार आदि की भाँति ही सुखात्मक होता है। करुण के साथ रस शब्द का प्रयोग ही उसके आनन्द का द्योतक है। रसवादी आचार्यों ने इस प्रश्न को प्राय स्वत सिद्ध मानकर अधिक तर्क-वितर्क नही किया—मानो करुण का रसत्व ही अपने आप में इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर हो। फिर भी उनके पास इस विषमता का निश्चित समाधान था, इसमें सन्देह नही हो सकता। इस समाधान के प्राय तीन रूप है —

(१) काव्य-रस अलौकिक होता है, अत लौकिक कार्य-कारण-सम्बन्ध उसके लिए अनिवार्य नही है। दुख से दुख की उत्पत्ति तो लौकिक नियम है, किन्तु कवि की अलौकिक प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दुख से सुख की उत्पत्ति भी सम्भव हो जाती है—यही काव्य की अलौकिकता है।

(२) दूसरा समाधान अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। भट्टनायक की स्थापना के अनुसार काव्य में प्रत्येक भाव साधारणीकृत होकर अन्तत भोग्य बन जाता है। इस प्रकार भाव की विशिष्टता नष्ट हो जाती है। व्यक्ति-

सम्वन्व से मुक्त हो जाने पर उसके स्थूल लौकिक सम्वन्ध नष्ट हो जाते है, अर्थात्—उसका रूप सामान्य जीवनगत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त और अवदात हो जाता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में व्यक्तिवद्ध 'अल्प' की चेतना मे सुख नही है, किन्तु व्यक्ति की सीमाओ से मुक्त 'भूमा' की चेतना में परम सुख की उपलब्धि है। इसी न्याय से काव्य मे शोक आदि अप्रिय भाव भी सावारणीकृत होकर व्यक्ति-सम्वन्व-जन्य दोपो से मुक्त रसमय वन जाते है। स्वर्गीय प० केशवप्रसाद मिश्र ने योग की 'मधुमती भूमिका' के आधार पर इसे काव्य की 'रसवती भूमिका' कहा है।

(३) तीसरा समावान अभिव्यक्तिवादियो की ओर से प्रस्तुत किया गया है। इनका कहना है कि रस की उत्पत्ति नही होती, अभिव्यक्ति होती है। यदि उत्पत्ति होती, तव तो शोक से शोक की उत्पत्ति का तर्क काव्य पर लागू हो सकता था, किन्तु रस की तो अभिव्यक्ति होती है अर्थात् काव्य-नाट्य-गुणो के प्रभाव से प्रेक्षक की आत्मा में रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव और सतोगुण का उद्रेक हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसका आत्मानन्द 'रस-' रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। सत्व का उद्रेक और रजोगुण-तमोगुण का तिरोभाव आनन्द की स्थिति है जिसमें दूसरा भाव विद्यमान नही रह सकता, अत रसत्व को प्राप्त होने पर, सत्त्व के पूर्ण उद्रेक तथा रजोगुण-तमोगुण के नाश के कारण, शोक आदि की कटुता स्वत नष्ट हो जाती है और आनन्दमयी चेतना शेप रह जाती है।

सस्कृत के प्रतिनिधि आचार्यों ने सारत ये ही तीन समाधान प्रस्तुत या व्यजित किये है, किन्तु कुछ स्वतत्रचेता आचार्य अपवाद भी है। उदाहरणार्थ (४) शारदातनय ने शैव दर्शन के ही आधार पर एक चौथा समावान प्रस्तुत किया है। उनका तर्क यह है यद्यपि यह ससार दुःखमोहादि से कलुषित है, फिर भी जीवात्मा राग, विद्या और कला—अपने इन तीन तत्त्वो के द्वारा उसका भोग करता है। इनमे राग सुखत्व का अभिमान है, विद्या राग का वह उपादान है जिसके द्वारा अविद्या से आच्छन्न चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है, और कला आत्मा को अभिज्वलित (प्रदीप्त) करने वाला हेतु है। इसी न्याय से प्रेक्षक भी शोक, भय, ग्लानि आदि से निष्पन्न करुण, भयानक, वीभत्स आदि रसो का अपने आत्मस्थ तीन तत्त्वो—राग, विद्या और कला के द्वारा 'चर्वण' करता है—

रागविद्याकलासज्ञै पुसस्तत्त्वैस्त्रिभि स्वत ।
प्रवृत्तिगोचरोत्पन्ना बुद्धयादिकरणैरसौ ॥

भोग निष्पाद्य निष्पाद्य वासनात्मैव तिष्ठति ।
दु खमोहादिकलुषमपि भोग्य प्रतीयते ॥
यत्सुखत्वाभिमानेन स राग इति कथ्यते ।
विद्या नामेति तत्त्व यद्रागोपादानमुच्यते ॥
तयाऽभिव्यज्यते ज्ञान पुरुषस्य विपश्चित ।
चैतन्यस्य मलेनैव सरुद्धस्य स्वभावत ॥
अभिज्वलनहेतुर्या सा कलेत्यभिधीयते ।
सुखदु खात्मिका बुद्धेर्वृत्तिर्गोचर उच्यते ॥
एव परम्पराप्राप्तैर्भावैर्विषयता गतै ।
बुद्ध्यादिकरणैर्भोगाननुभुक्ते रसात्मना ॥

—(भावप्रकाशन, पृ० ५३)

शारदातनय तो अन्ततोगत्वा भाववादियो की परिधि में ही रहे हैं, परन्तु रुद्रभट्ट और उनसे भी अधिक नाट्यदर्पण के लेखकद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध अत्यन्त निर्भीक शब्दो में यह स्थापना की है—'सुखदु खात्मको रस' (नाट्यदर्पण, श्लोक १०९, पृ० १५८)—अर्थात् रस की अनुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही न होकर दु खात्मक भी होती है। इनके अनुसार 'तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तय शृगार-हास्य-वीराद्भुत-शान्ता पचसुखात्मनोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मान करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दु खात्मान' (नाट्यदर्पण पृ०, १०९)। अर्थात् शृगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त (इष्ट विभावादि पर आश्रित रहने के कारण) सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक (अनिष्ट विभावादि से उपनीत होने के कारण) दु खात्मक है।—तब फिर प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में सामाजिक करुण आदि का प्रेक्षण या श्रवण क्यो करता है? नाट्य-दर्पण में इसका विस्तृत उत्तर दिया गया है—

यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थित-वस्तुप्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन । विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिन । अनेनैव च सर्वागाह्लादकेन कवि-नट-शक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धा. परमानन्दरूपतां दु खात्मकेष्वपि करु-णादिषु सुमेधस. प्रतिजानते । एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते । कवयस्तु सुख-दु खात्मकससारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्त सुख-दु.खा-

त्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति । पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति ।

(नाट्यदर्पण, पृ० १९)

इसका सारांश यह है कि करुण, रौद्र आदि के द्वारा भी जो चमत्कार की प्रतीति होती है उसका कारण है यथार्थ वस्तु-प्रदर्शन में निपुण कवि और नट का कौशल। शौर्यगर्वित वीर शत्रु के शिरश्छेदकारी प्रहार-कौशल को देखकर भी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। प्रेक्षक इसी चमत्कार के लोभ से करुणादि के दृश्यों को देखता है—इस चमत्कार से ही प्रवंचित होकर वह दुःखात्मक दृश्यों में आनन्द की प्रतीति करता है। उधर कवि भी सुख-दुःखात्मक संसार के अनुरूप रामादि के चरित्र को सुखदुःखात्मक रस से अनुविद्ध प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार मिर्च आदि के संयोग से पानक[1] के स्वाद में चमत्कार आ जाता है इसी प्रकार दुःख के तीक्ष्ण आस्वाद से सुख और भी आस्वाद्य हो जाता है।

इस विवेचन से पूर्वोक्त चार समाधानों के अतिरिक्त दो और समाधान उपलब्ध होते हैं—

(५) करुण रस से प्राप्त आनन्द (चमत्कार) काव्य-कौशल अथवा काव्य तथा नाट्य दोनों के समवेत कौशल पर आधृत रहता है। प्रेक्षक या श्रोता करुण रस में आनंदानुभूति नहीं करता, वरन् उसकी अभिव्यंजना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कला-नैपुण्य से चमत्कृत होता है। इस चमत्कार से ही करुण रस में आनन्द की भ्रान्ति अथवा आभास हो जाता है।

(६) जीवन में अपार वैविध्य है। षट् रसों में जहाँ मधुर रस है, वहाँ तिक्त और अम्ल रस भी—विपरीत स्वाद होने पर भी सभी को 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है और प्रपानक आदि में रसना-रसिक इनका 'रस' लेते हैं। इसी प्रकार नव रस में एक ओर रतिमूलक शृंगार है तो दूसरी ओर शोकमूलक करुण भी। अनुभूत्यात्मक रूप सर्वथा विपरीत होने पर भी शास्त्र में इनका नाम 'रस' ही है। और काव्य के 'प्रपानक' में सहृदय इन सभी का आस्वादन करते हैं।

इस प्रकार 'दुःख में सुख' की इस विषम समस्या के भारतीय काव्य-शास्त्र छह मौलिक समाधान प्रस्तुत करता है —

१—सोंठ की चटनी, आदि ।

(१) काव्य की सृष्टि अलौकिक है, वह नियतिकृत नियमो से रहित नाना-चमत्कारमयी है , अत लोकानुभव से भिन्न दुख से सुख की उद्भूति उसमें सहज-सम्भव है। यह मूलत वही तर्क है जिसको कलावादियो ने—ब्रैडले, क्लाइव बैल आदि ने बीसवी शती के आरम्भ में नवीन रूप में पुन प्रस्तुत किया है—"पहले तो यह अनुभव अपना उद्देश्य आप ही है, अपने ही लिए इसकी स्पृहा की जा सकती है, इसका अपना निजी मूल्य है। दूसरे, काव्य की दृष्टि से इसके इस निजी मूल्य का ही महत्त्व है। क्योकि सामान्य अर्थ में वस्तु-जगत का एक अग होना या उसकी अनुकृति होना इसका स्वभाव नही है, यह तो अपने आप में ही एक दुनिया है—स्वतत्र, स्वत पूर्ण और स्वायत्त।"[१]

(२) रस की अनुभूति साधारणीकृत अनुभूति होने के कारण व्यक्तिबद्ध राग-द्वेष से मुक्त होती है—अत करुण आदि रसो मे शोकादि का दश नष्ट हो जाता है, शुद्ध भाव 'आस्वाद'-रूप मे शेष रह जाता है। इस तर्क का सकेत वास्तव में अरस्तू मे भी मिल जाता है , किन्तु वह अत्यन्त अविकसित रूप में है—प्रो० बुचर ने जिस शब्दावली में उसे प्रस्तुत किया है, वह यूरोप के विकासशील आलोचना-शास्त्र से प्राप्त आधुनिक शब्दावली है। इस दृष्टि से भारतीय आचार्य भट्टनायक का महत्त्व अक्षुण्ण है—उन्होने अत्यन्त तर्क-सगत तथा तात्त्विक शब्दो में साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा 'करुण' आदि के भोग का प्रतिपादन किया है।

भट्टनायक के सिद्धान्त से एक और समाधान का सकेत मिलता है—काव्य-निबद्ध अनुभव प्रत्यक्ष न होकर भावित अनुभव होते है, अत कटु अनुभवो की प्रत्यक्ष अनुभूत कटुता उनमें नही रह जाती, वरन् कल्पना के चमत्कार का समावेश हो जाता है जिससे शोक भी आस्वाद्य बन जाता है। पश्चिम के आलोचना-शास्त्र में यह मत काफी प्रचलित रहा है।

(३) रस का परिपाक सत्त्व के उद्रेक की अवस्था मे ही होता है , अर्थात्—ऐसी अवस्था में होता है, जब रजोगुण और तमोगुण तिरोभूत हो जाते है और सहृदय की चेतना सतोगुण से परिव्याप्त हो जाती है। यह अवस्था सुख की अवस्था है, इसमें तमोगुण से उत्पन्न (मोह-विकारी) शोक की कटु अनुभूति सम्भव नही है। यह शब्दावली भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी पारि-भाषिक शब्दावली है, वर्तमान यूरोप का मनोविज्ञान अथवा प्राचीन-नवीन आलोचना-शास्त्र इससे परिचित नही है , परन्तु शब्द-भेद को हटा देने से उपर्युक्त

१—ब्रैडले—ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स, पृ० ५

मत अधिक अपरिचित नही रह जाता। अभिनव का 'सत्त्वोद्रेक' वास्तव में अरस्तू के 'विरेचन', रिचर्ड्स के 'अन्तर्वृत्तियों के सामजस्य' और शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित 'हृदय की मुक्तावस्था' मे बहुत भिन्न नहीं है। भेद केवल विचार-पद्धति का है और मात्रा का भी है—अरस्तू ने चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति और शब्दावली ग्रहण की है, रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की, शुक्ल जी ने आलोचना-शास्त्र की और अभिनव आदि ने दर्शन (अधिमानस-शास्त्र)[1] की। तमोगुण और रजोगुण के तिरोभाव के उपरान्त सत्त्व का शेप रहना अरस्तू के शब्दों में 'कटु भावो का रेचन और तज्जन्य मन शान्ति' ही तो है। अन्तर केवल 'उद्रेक' शब्द पर आश्रित है जिसका विवेचन आगे करेंगे।

५ शारदातनय का समाधान इसी का विकास है। उसका आधार यह है कि आत्मा नित्य आनन्दरूप है। उसकी आनन्दमयी प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वह ससार के दु ख-मोहादि मायाजन्य कलुषो पर अनिवार्यत विजय प्राप्तकर उन्हे भोग्य बना लेती है। करुण रस के आस्वाद्य होने का मूल कारण आत्मा की यही आनन्दमयी प्रवृत्ति है। यह समाधान शुद्ध भारतीय आनन्दवाद पर आवृत है—करुणा-प्रधान मसीही दर्शन पर आश्रित परवर्ती पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में इसकी प्रतिध्वनि भी प्राय नही मिलती।

(५) कला का सौन्दर्य करुण के उद्वेग को चमत्कार में परिणत कर देता है। कला का आधारभूत सिद्धान्त है सामजस्य—अनेकता में एकता की स्थापना। अन्तर्वृत्तियो का समन्वय करने के कारण यह प्रक्रिया अपने आप में सुखद होती है—इसे ही कला-सृजन या सौन्दर्य की सृष्टि का आनन्द कहते है। कला-सृजन के समय कवि तथा कलानुभूति के समय सहृदय का चित्त इस प्रक्रिया द्वारा समाहित होकर उक्त आनन्द का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त समृद्ध अभिव्यजना, विशिष्ट पद-रचना, सगीत-गुण तथा नाटक में नाट्य-प्रसाधन आदि 'काव्यालकार'-जन्य आह्लाद भी करुण की कटुता को नष्ट करने में सहायक होता है।

यूरोप के आलोचना-शास्त्र में भी कुछ आलोचको ने इसी मत की स्थापना की है—वहाँ इसे 'काव्यरूप-सिद्धान्त' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्यरूप के सौन्दर्य से करुण रस की कटुता नष्ट हो जाती है और सहृदय का चित्त चमत्कार का अनुभव करता है।

(६) अन्तिम समाधान उपर्युक्त समाधानो की अपेक्षा अधिक दार्शनिक

१—मेटाफ़िज़िक्स ।

है—मानव-प्रकृति त्रिगुणात्मक है, मधुर और कटु दोनो प्रकार की अनुभूतियाँ जीवन का अग है। मानव जीवन के वैविध्य में रस लेता है, अत करुण आदि के प्रदर्शन या अभिव्यजन मे उसकी अभिरुचि होना कोई आश्चर्य की बात नही है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र का 'अभिरुचि-सिद्धान्त' भी इससे मिलता-जुलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव को मानव-जीवन के सभी अनुभवो में अभिरुचि है—वह जहाँ विवाह आदि मगल-उत्सवो में रस लेता है, वहाँ मृत्यु आदि से सम्बद्ध दुर्घटनाओ में भी उसको कम रुचि नही है—वर-यात्रा और शव-यात्रा दोनो में मानव का उत्साह द्रष्टव्य है। इसी न्याय से कामद और त्रासद दोनो प्रकार के दृश्यो में प्रेक्षक की दिलचस्पी होती है।

इन छह समाधानो के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के दु खवाद पर आधृत एक और भी समाधान भारतीय शास्त्र की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार दु ख प्रथम आर्य सत्य है। इसका सम्यक् ज्ञान जीवन की प्रथम सिद्धि है, जिस पर अन्य सिद्धियाँ आश्रित है , अत करुण रस जीवन का आद्य रस है। सत्य की उपलब्धि मे जो आनन्द निहित रहता है, वही आनन्द जीवन में करुण का अगित्व प्रतिपादन करने वाले काव्य से प्राप्त होता है। भारत में दु खवाद का प्रतिपादन प्रधानत बौद्ध दर्शन में ही हुआ है, अतः करुण रस का यह दु खवादी समाधान केवल वही से उपलब्ध हो सकता है।

यूरोप के दर्शन तथा आलोचना-शास्त्र मे दु खवादियो ने प्रस्तुत समस्या के प्राय. इसी प्रकार के समाधान उपस्थित किये हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध दु ख-वादी दार्शनिक शोपेनहोर का तर्क है कि त्रासदी जीवन के गम्भीर और दु खमय पक्ष को महत्त्व देती है, जीवन की व्यर्थता एव जगत्-प्रपच की असारता को व्यक्त कर चरम सत्य का उद्घाटन उसका प्रयोजन है। सत्य की यही उपलब्धि प्रेक्षक के आनन्द का कारण है। श्लेगेल का तर्क इससे थोडा भिन्न है —उसके अनुसार त्रासदी के द्वारा हमारे मन में इस चेतना का उदय होता है कि पार्थिव जीवन का सचालन किसी अदृष्ट शक्ति (नियति) के हाथ में है, जिसके समक्ष मानव का समस्त वल-वैभव तुच्छ है। यह विचार एक ओर अहकार का शमन करता है और दूसरी ओर दु ख मे हमें धैर्य प्रदान करता है। जीवन के इस अलौकिक विधान की अनुभूति निश्चय ही एक उदात्त एव सुखद भाव है और यही 'त्रासद आनन्द' का रहस्य है। प्रो० बुचर ने अरस्तू के विवेचन में इस सिद्धान्त का भी अनुसन्धान कर लिया है। यहाँ भी हमारा मत यही है कि अरस्तू के त्रासदी-प्रकरण में इसका बीज मात्र

मिलता है, उसका विकास प्रो० बुचर ने परवर्ती शोधो के आवार पर किया है—जिस विकसित रूप में बुचर ने उसे प्रस्तुत किया है वह अरस्तू में निश्चय ही उपलब्ध नही है। भारतीय चिन्तक के लिए यह धारणा अज्ञात नही है—साहित्य में इस 'नियतिवाद' की शत-शत मार्मिक व्यजनाएँ मिलती हैं। रामायण, महाभारत, पुराण, भक्ति-काव्य और आधुनिक साहित्य में इसकी अनुगूज स्थान-स्थान पर मिलती है। न जाने कब से भारतीय मन यह गा-गाकर अपने को धीरज देता चला आ रहा है —

करम गति टारे नाँहि टरी।
मुनि वसिष्ठ से पडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता-हरन मरन दशरथ को वन में विपत परी॥

परन्तु अन्तर केवल यही है कि इस धारणा ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त का रूप कभी धारण नही किया।

क्यो?—भारतीय काव्य-शास्त्र के प्राण रस-सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त-भारत के रस-सिद्धान्त से वहुत भिन्न नही है—यह कहना कदाचित् असगत न होगा कि भारतीय रस-सिद्धान्त में प्रकारान्तर से विरेचन-सिद्धान्त अन्तर्भूत है। विरेचन-प्रक्रिया के दो अग है—(१) अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगो का शमन और (२) तज्जन्य मन शान्ति। मनोवेगो की अतिशय उत्तेजना रस-सिद्धान्त के अगभूत स्थायी भावो के चरम उद्बोध के समानान्तर है। मन-शान्ति रस-सिद्धान्त की 'समाहिति' की अवस्था है, जब सहृदय श्रोता का मनोमुकुर भौतिक विकार-जन्य मलिनता से मुक्त सर्वथा निर्मल हो जाता है। रस की स्फुरणा के समय कवि का मन और रस के आस्वाद के समय सहृदय का मन व्यक्ति-सम्बन्धो से मुक्त होकर अनिवार्यत समाहिति की अवस्था को प्राप्त करता है। तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव और सत्व की परि-व्याप्ति की स्थिति यही है, परन्तु इसके आगे भेद हो जाता है। अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त यही रुक जाता है—यदि प्रो० बुचर के आख्यान को स्वीकार कर लें, तो भी अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि इस समाहिति की स्थिति में प्रेक्षक या श्रोता का मन कला के आनन्द का आस्वाद करने

में तत्पर हो जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि त्रासदी का आनन्द या तो मन शान्ति की सुखद स्थिति-मात्र है जिसमें भावो के परिष्करण की सुखद अनुभूति का भी समावेश है, या फिर वह कला के आनन्द से (जो पर्याप्त मात्रा में बौद्धिक होता है) एकात्म है, अर्थात्—अरस्तू के अनुसार त्रासदी के आस्वाद के तीन तत्त्व हैं—

(१) उद्वेग के शमन से उत्पन्न मन शान्ति।

(२) भावो के परिष्कार की अनुभूति।

(३) कला-जन्य चमत्कार।

भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस और उपर्युक्त आस्वाद में मौलिक अन्तर यह है कि करुण रस उद्वेग का शमन (राहत) मात्र न होकर उसका भोग है। भावो का परिष्कार यहाँ भी यथावत् मान्य है—भाव के साधारणीकरण में उसका परिष्कार स्वत सिद्ध है। तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव मे उद्वेग का शमन भी निहित है, परन्तु रस इनसे अतिरिक्त है। रस तो भौतिक रागद्वेष से मुक्त आत्मा द्वारा 'अस्मिता' का भोग है—उसके लिए तमोगुण और रजोगुण का तिरोभाव ही पर्याप्त नही है, उसके लिए तो आनन्दरूप आत्मा से सत्त्व का प्रचुर उद्रेक अनिवार्य है—यहाँ हम वास्तव में भारतीय दर्शन की सीमा में प्रवेश कर जाते है। भारत में आनन्द के विषय में भावात्मक और अभावात्मक दोनो सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है। न्याय, वैशेषिक, साख्य आदि में आनन्द का स्वरूप अभावात्मक माना गया है—उनकी स्थापना है कि दु ख का अत्यन्त विमोक्ष ही अपवर्ग है—तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग (न्याय-मजरी—१।१।२२) किन्तु इसके विपरीत मीमासा, वेदान्त आदि मे आनन्द के भावात्मक रूप की अत्यन्त प्रबल शब्दो में प्रतिष्ठा की गई है —

दु खात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिन'
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलै ।

अर्थात्—'कुमारिल के अनुसार दु ख का नितान्त समुच्छेद हो जाने पर आत्मा में स्थित नित्य सुख का मनसा उपभोग ही मुक्ति है।' इन वेदान्ती, मीमासक आदि आचार्यो, शैवो और वैष्णवो ने न्याय-वैशेषिक-प्रतिपादित अभावात्मक अपवर्ग का उपहास किया है। और, वास्तव में अपवर्ग की भावात्मक कल्पना ही भारतीय दर्शन का प्रतिनिधि सिद्धान्त है जिसके अनुसार आनन्द दु ख का अभाव मात्र नही है—वह शुद्ध-बुद्ध आत्मा का 'आत्म-भोग' है।

भारत का रस-सिद्धान्त, जैसा कि प्रसादजी ने स्पष्ट किया है, शैव दर्शन पर आधृत है, अत उसका स्वरूप भी तदनुकूल आत्मानन्द-प्रधान ही

है। भारतीय काव्य-शास्त्र का शैवाचार्य अभिनव-प्रतिपादित प्राय सर्वमान्य अभिव्यक्तिवाद-सिद्धान्त अत्यन्त भावात्मक 'रस' की ही स्थापना करता है। यह रस शोकादि भावो के उन्नयन मे भी आगे आत्मानन्द का भोग है—यह शान्ति-रूप नही है, भोग-रूप है। कलाजन्य चमत्कार, भावो की परिष्कृति आदि उसकी सहायक अथवा आनुषगिक उपलब्धियाँ हैं—वह स्वय उनसे कही ऊपर है।

भारत के अन्य प्रमुख सिद्धान्तो की भाँति, उसका रस-सिद्धान्त भी अध्यात्म-वाद पर आवृत है—उसको यथावत् ग्रहण करने के लिए आत्मा की स्थिति और उसकी सहज आनन्द-रूपता में विश्वास करना आवश्यक है। आधुनिक आलोचक को इसमें कठिनाई हो सकती है, परन्तु उपर्युक्त स्थापना विज्ञान के विरुद्ध नही है, मनोविज्ञान भी उसको पुष्टि करता है। दुःख और सुख भावो के ये दो अनुभूत्यात्मक रूप हैं। इच्छा की (प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष) विफलता की अनुभूति दुःखात्मक होती है और इच्छा की पूर्ति या सफलता की अनुभूति सुखात्मक। अब प्रश्न यह है कि दुःख और सुख का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? कुछ विचारक दुःख के अभाव को ही सुख मानते हैं—उनके अनुसार दुःख की स्थिति भावात्मक है और सुख की अभावात्मक। उनका तर्क यह है कि व्यावहारिक जीवन में विभिन्न प्रकार की बाधाओ के कारण हमें दुःख की अनुभूति होती है और उनके निराकरण से सुख की, अतः दुःख का अभाव ही सुख है। यह तर्क सामान्यतः ग्राह्य प्रतीत होता है, परन्तु इसमें एक सूक्ष्म हेत्वाभास विद्यमान है। उदाहरण के लिए शिरःशूल दुःख का कारण है, उसके शमन से हमें राहत मिलती है—प्रायः प्रसन्नता भी होती है। तो क्या शिरःशूल का अभाव ही आनन्द है ? नही। वास्तव में रोग-विशेष की शान्ति से हमने स्वास्थ्य का लाभ किया—इससे मन क्लेश-मुक्त तथा विशद हो गया। यह तो रोग-शांति का तर्क-सम्मत परिणाम है, परन्तु इसके आगे जो प्रसन्नता होती है उसका कारण रोग-शान्ति नही है, वरन् यह आश्वासन है कि अब हम जीवन के भोग मे समर्थ हैं, जिसके पीछे कदाचित् अपनी विजय का भाव भी लगा हुआ है। ऋण-शोध मे आत्मा प्रायः अत्यन्त विशद हो जाती है, किन्तु एक तो यह विशदता सर्वथा अनिवार्य नही है—कभी-कभी ऋण-शोध के उपरान्त मन में एक प्रकार की ग्लानि और आतंक-सा भी शेष रह जाता है, दूसरे इसमें और लाभ-जन्य आनन्द में स्पष्ट अन्तर है। एक ऋणात्मक है, दूसरा धनात्मक। ऋण-शोध के पश्चात् भी प्रसन्नता का अनुभव हो सकता है, परन्तु उसका कारण ऋण-मुक्ति न होकर यह विश्वास है कि अब मेरे लिए लाभ का मार्ग

प्रशस्त हो गया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अक में कालिदास की पार-दर्शिनी प्रतिभा ने इन दोनो मनोदशाओ का भेद स्पष्ट किया है—शकुन्तला को विदा करने के पश्चात् गौतम को जो अनुभव होता है, उसे कालिदास आनन्द की सज्ञा नहीं देते, वह तो आत्मा का वैशद्य मात्र है जो न्यास के भार से मुक्त होने पर या ऋण-मोक्ष के उपरान्त प्राप्त होता है —

जातो ममाय विशद प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ अक में ही एक और प्रकरण है शकुन्तला के इस कातर प्रश्न के उत्तर में कि "अब मैं तात के दर्शन कब करूँगी ?" कण्व कहते है —

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथ तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्ध
शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन् ।४।२०।

अर्थात्—

बनि तिय बहुत दिवस भूपति की । सौतिनि चारकौन वसुमति की ।।
करिकै व्याह सुवन समरथ को । मारग रुकै न जाके रथ को ।।
दैकै ताहि कुटुम की भारा । तजि कै राजकाज व्यवहारा ।।
पति तेरो तुहि संग लै ऐहै । या आश्रम तब तू पग दैहै ।।

(लक्ष्मणसिंह)

कण्व के जीवन मे यह प्रसग आया या नही, इसके विषय में शाकुन्तलम् मौन है और महाभारत भी, परन्तु उनकी यह मनोदशा आत्मा का वैशद्य मात्र न होकर आनन्दरूपिणी होगी, इसमें सन्देह नही किया जा सकता। सहृदय पाठक कल्पनात्मक तादात्म्य के द्वारा दोनो के अन्तर का स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं। कन्या की विदा और पुत्रवधू के आगमन के समय गृहस्थ की दो भिन्न मनोवृत्तियाँ मेरे कथन को पुष्ट करेंगी।

सुख का अर्थ है सु + ख = आत्मा की वृद्धि और दु ख का अर्थ है दु + ख = आत्मा की क्षति। मनोविज्ञान के शब्दो में सुख को चेतना का उत्कर्ष और दु ख को चेतना का अपकर्ष कह सकते हैं, अत दु ख के अभाव का अर्थ हुआ आत्मा की क्षति की पूर्ति—अथवा चेतना के अपकर्ष का निराकरण। यह स्थिति भी निश्चय ही अनुकूल है, परन्तु आत्मा की वृद्धि अथवा चेतना के उत्कर्ष के समकक्ष तो वह नही हो सकती। अरस्तू-प्रतिपादित विरेचन-जन्य

प्रभाव तथा भट्टनायक-अभिनव के रस में यही अन्तर है और यह अन्तर साधारण नही है—'क्षतिपूर्ति' और 'लाभ' का अन्तर है।

साधारणत यह प्रसग यही समाप्त हो जाना चाहिए, किन्तु मेरे जिज्ञासु मन का परितोष अभी नही हुआ और मेरी भाँति कदाचित् अन्य जिज्ञासुओ के मन में भी अभी यह शका विद्यमान हो सकती है—मान लिया कि भारतीय करुण रस की स्थिति अरस्तू के त्रासद-करुण प्रभाव से अधिक उदात्त है, परन्तु क्या वह अधिक सत्य भी है? इस शका का समाधान शास्त्र की दृष्टि से ऊपर किया जा चुका है। यहाँ हम शास्त्र का आश्रय न लेकर सहृदय के अनुभव को ही प्रमाण मानकर चलना चाहते है। करुणरस-प्रधान नाटक या काव्य का प्रेक्षण-श्रवण सहृदय किसलिए करता है? इसका एक सीधा उत्तर है—आनन्द के लिए। आनन्द-उपलब्धि की प्रक्रिया और आनन्द के आधार के विषय में मतभेद हो सकता है, परन्तु आनन्द की प्रयोजनता असदिग्ध है। यदि यह उत्तर स्वीकार्य है, तब तो शका निश्शेष हो जाती है। किन्तु हम यह देख चुके हैं कि यह उत्तर सर्वमान्य नही है—रामचन्द्र-गुणचन्द्र, आई० ए० रिचर्ड्स, रामचन्द्र शुक्ल जैसे तत्त्वविद् इसे स्वीकार नही करते। आनन्द के विकल्प दो हैं—(१) मनोरागो का समजन और परिष्कार . त्रासदी आदि के प्रेक्षण से हमारी अन्तर्वृत्तियो का समजन और परिष्कार होता है, यही उसकी सिद्धि है—इसी के लिए हमें उसके प्रति आग्रह है। (२) जीवन में अनुराग . हमें जीवन के प्रति अनुराग है, अत उसके हर्ष-विषादमय सभी रूपो के प्रति हमारी अभिरुचि है, वर-यात्रा में भी हमें उत्साह है और शव-यात्रा में भी। इनमें से पहला विकल्प अर्थात् अन्तर्वृत्तियो का समजन और परिष्करण तो निश्चय ही एक उपलब्धि है—अन्तर्वृत्तियो के परिष्कार से हमारी चेतना का उत्कर्ष—अथवा आत्मा की वृद्धि होती है। दूसरा विकल्प भी अधिक भिन्न नहीं है—स्थूल भौतिक अर्थ में नहीं, वरन् तात्त्विक अर्थ मे। जीवन के प्रति अनुराग या आस्था का नाम ही आस्तिक भाव है—जीवन की मूल वृत्ति यही है और जीवन के भोग (आनन्द) का आधार भी यही है, इसका विचलन क्लेश है और अविचल भाव आनन्द। शव-यात्रा में सहृदय का उत्साह दु खमूलक नही होता, उनमें एक ओर दिवगत व्यक्ति के जीवित सम्बन्धियो के प्रति कर्तव्य का आनन्द और दूसरी ओर मृत्यु की बाधा से अनवरुद्ध जीवन-प्रवाह में आस्था का आनन्द विद्यमान रहता है, इसलिए मै इन दोनो विकल्पो को केवल दृष्टि-भेद मानता हूँ। वास्तव में ये विकल्प आनन्द के स्वरूप की अशुद्ध धारणा पर आवृत हैं—आनन्द की परिकल्पना

हमारे यहाँ बडे गम्भीर रूप मे की गई है—वह मनोरजन, लज्जत या प्लेजर का पर्याय नही है। इसीलिए भारतीय दर्शन मे उसकी उपमा समुद्र से दी गई है—जीवन के सुख-दुख जिसकी लहरो के समान है। जिम प्रकार असख्य लहरो को अपने वक्ष पर खिलाती हुई समुद्र की अन्तर्धारा आत्मस्थ वहती रहती है, इसी प्रकार अनेक करुण-मधुर अनुभूतियो से खेलती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित रहती है। उदात्त काव्य—वह चाहे शृगार-मूलक हो या करुण-मूलक, सहृदय के मन को शृगार और करुण की लौकिक अनुभूति से नीचे इसी अन्तर्धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है। इसी अर्थ में रस अखण्ड है और उसमे आस्वाद-भेद नही है।

त्रासदी के संगठन-सम्बन्धी अंग

कथा-वस्तु आदि उपर्युक्त छह अगो के अतिरिक्त अरस्तू ने त्रासदी के चार अन्य अगो का उल्लेख भी किया है जो उसके सगठन पर आश्रित है। ये चार अग है—(१) प्रस्तावना, (२) उपाख्यान, (३) उपसहार, और (४) वृन्दगान। सगठन से अभिप्राय यहाँ रचना-विधान से है और ये चार अग वस्तुत उसी के अग है।

(१) **प्रस्तावना**—अरस्तू के शब्दो में 'प्रस्तावना त्रासदी का वह सपूर्ण भाग है, जो गायक-वृन्द के पूर्वगान से पहले रहता है।' (का० शा० पृ० ३१)। वास्तव में प्रस्तावना त्रासदी के उस आरम्भिक भाग का नाम है जो त्रासदी के लिए—विशेपत उसकी कथा-वस्तु के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है।

(२) **उपाख्यान**—'उपाख्यान वह समग्र अश है, जो पूर्ण वृन्दगानो के बीच विद्यमान रहता है।' (काव्य-शास्त्र, पृ० २३)। यूनानी त्रासदी मे प्राय तीन उपाख्यान रहते है। स्पष्टत उपाख्यान का अर्थ उस भाग से है जो कथा-वस्तु का अग होता हुआ भी अपने आप में पूर्ण-सा प्रतीत होता है। यह कदाचित् वह भाग है जिसमे कार्य का एक अग पूरा हो जाता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में कथा-वस्तु के आधिकारिक तथा प्रासगिक दो भेद माने गये है, फिर प्रासगिक के भी दो भेद है—पताका और प्रकरी। किन्तु अरस्तू की परिभाषा और यूनानी नाटको के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उपाख्यान' में आधिकारिक और प्रासगिक का भेद नही है—उसका सम्बन्ध मुख्य कथा-वस्तु से ही है।

(३) **उपसहार**—'उपसहार त्रासदी का वह पूरा अश है, जिसके वाद कोई वृन्दगान नही होता' (काव्य-शास्त्र, पृ० ३२)। यूरोप के परवर्ती नाटकों

में इसी का 'अतिम घटना' या 'कैटेस्ट्रोफी' में रूपान्तर हो गया है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में कार्य या फलागम को इसके समानान्तर माना जा सकता है, किन्तु वास्तव मे इन सव की अपेक्षा 'उपमहार' का सम्वन्ध रचना-विवान से ही अविक है, जव कि ये सव त्रासदी के आन्तरिक तत्त्व है।

(४) वृन्दगान—वृन्दगान के दो भाग है पूर्वगान और उत्तरगान। 'पूर्वगान गायकवृन्द का पहला ममवेत उच्चार है' और 'उत्तरगान गायक-वृन्द का वह सम्वोध-गीत है जिसमें मगण अथवा गुरु-लघु-द्विवर्णिक चतुष्पदी का प्रयोग न हो।' स्पष्ट शब्दो में पूर्वगान पहला वृन्दगान है और उत्तरगान कदाचित् अन्तिम।

वृन्दगान यूनानी नाट्य-माहित्य का एक विशिष्ट एव विचित्र अग है। वृन्दगान से अभिप्राय अनेक गायको के उम नृत्ययुक्त मामूहिक गान से है जिसमें त्रासदी की घटनावली को प्राय भावात्मक समीक्षा रहती है। ये गायक सख्या में अनेक होने पर भी व्यवहार में एक मामूहिक व्यक्तित्व वारण कर लेते है—इमीलिए अरस्तू आदि में एक पात्र के रूप में ही 'कोरस' का उल्लेख मिलता है।

जैसा कि मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है, इसका उद्देश्य कार्य-व्यापार की प्रत्येक अवस्था में प्रेक्षक के मन पर नाटक से उत्पन्न प्रभाव-प्रतिविम्वो का सकलन और सतुलन करना है। यह एक प्रकार से आदर्श प्रेक्षक का प्रतीक रूप होता है जो अतीत घटनाओ के स्मरण और अनागत घटनाओं के सकेत द्वारा वास्तविक प्रेक्षक के मन में उत्पन्न प्रभाव को और गहरा करने में सहायता देता है। 'रगमच पर प्रस्तुत दृश्यो के द्वारा उद्वुद्ध प्रेक्षक के मनोभावो को सकलित, समन्वित और गहन करना—यह यूनानी त्रामदी का एक भव्य प्रभाव था।' (मेरोपे की भूमिका, पृ० ४२–४३) इम प्रकार वृन्दगान के द्वारा त्रासदी में प्रगीत तत्त्व का समावेश भी होता था। वास्तव मे वृन्दगान नाटक का सहज अग न होकर एक अत्यन्त अस्वाभाविक अग होता है। नाटक की मूल कथा से इसका कोई सहज सम्वन्व नही रहता, वह प्राय उसके विकास-क्रम में वाधा ही डालता है। फिर भी यूनान का कोई भी श्रेष्ठ नाटककार उसका त्याग न कर मका और हम देखते है कि उत्तम-मे-उत्तम कलाकृति में वृन्दगान अपने पूर्ण महत्त्व के साथ प्रतिष्ठित है। इमका कारण यह है कि यूनानी नाटक का जन्म ही वस्तुत दिओन्युमम देवता के मदिर में होने वाले वृन्दगीतो से हुआ था, अत नाटक के इम पूर्व-रूप का अस्तित्व अन्त तक वना रहा। यूनानी प्रेक्षक-समाज इसका इतना अभ्यस्त हो गया था

कि इसके विना वह नाटक को पूर्ण मान ही नही सकता था। इसीलिए अरस्तू ने इसे अनिवार्य रूप मे स्वीकार किया है और इसकी अस्वाभाविकना को कम करने के लिए यह व्यवस्था की है कि वृन्दगान को यथा-सम्भव कथा-वस्तु का अभिन्न अग होना चाहिए।

भारतीय काव्य-शास्त्र में वृन्दगान का समानान्तर कोई रूप नही मिलता, किन्तु यहाँ कुछ ऐसे नाट्याग अवश्य है जो प्रकारान्तर से वृन्दगान के आंशिक उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। यूनानी नाट्य-साहित्य के वृन्दगीतो का विश्लेषण करने पर भावात्मक समीक्षा के अतिरिक्त एक और प्रयोजन भी निरपवाद रूप से उनमें निहित मिलता है और वह है अनभिनीत प्रसगो की सूचना। भारतीय नाट्य-शास्त्र में इनको 'सूच्य' प्रसग कहते है जो दृश्य प्रसगो के अतिरिक्त होते है। इन सूच्य प्रसगो के लिए हमारे नाटक मे विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अकास्य आदि अर्थोपक्षेपको का प्रयोग किया जाता है, किन्तु अशत उद्देश्य-साम्य होने पर भी वृन्दगान और अर्थोपक्षेपक में किसी प्रकार का भी रूप-साम्य नही मिलता। हमारे नाट्य-शास्त्र के अर्थोपक्षेपक सर्वथा गद्यमय और शुद्ध इतिवृत्त-प्रधान होते हैं जब कि वृन्दगान, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, गीत, नृत्य आदि से समृद्ध होता है।

नाट्य-रचना के इन चार अगो के अतिरिक्त अरस्तू ने 'रगमच से अभिनेताओ के गायन' और 'समविलाप' नामक दो अन्य अगो का भी सकेत किया है, परन्तु वे सर्वथा ऐच्छिक है। वास्तव में उपर्युक्त अगो का सम्बन्ध त्रासदी की वाह्य रचना-मात्र से है, उसके अन्तरग से नही है, और इस दृष्टि से इनका महत्त्व सर्वथा गौण है। कदाचित् इसी कारण से एटकिन्स आदि प्राचीन काव्य-शास्त्र, मर्मज्ञो ने इस समस्त प्रसग को ही क्षेपक माना है।

त्रासदी में चरित्र-चित्रण

कथा-वस्तु के उपरान्त दूसरा स्थान है चरित्र-चित्रण का। चरित्र-चित्रण का मूल आधार है पात्रों का चारित्र्य।

चारित्र्य का अर्थ—(१) "चारित्र्य वह है जिसके वल पर हम अभिकर्ताओ में कुछ गुणो का आरोप करते है।" (पृ० २०)

(२) "चारित्र्य उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे।" (पृ० २२)

अरस्तू के चारित्र्य (ऐथोस) शब्द के वास्तविक अर्थ के विषय में यूरोप के विद्वानो में वडा मतभेद रहा है। एक ओर वोसाके आदि तत्त्ववेत्ताओ की

धारणा है कि चारित्र्य का अर्थ 'वर्गगत और सामान्य' है, अर्थात् 'वह केवल व्यक्ति की भद्रता-अभद्रता का द्योतन करता है।' उधर, प्रो० बुचर का मत है कि इस में व्यक्ति के नैतिक गुण-दोष पर बल अवश्य है, परन्तु साथ ही व्यक्ति-वैशिष्ट्य का अभाव नही है। चरित्र का वह अतिवैयक्तिक रूप जो शेक्सपियर या थैकरे की रचनाओ में उपलब्ध होता है अरस्तू की परिभाषा से बाहर पड सकता है; परन्तु 'विशिष्ट व्यक्तित्व' का द्योतन वह अवश्य करती है—अर्थात्—व्यक्तित्व की निविडताएँ चाहे उसमें अन्तर्भूत न हो किन्तु सरल और सामान्य भेदक विशेषताओ का उसमें अभाव नही है।[1]—वास्तव में बुचर का मत ही शुद्ध है। अरस्तू के उपर्युक्त उद्धरणो में भी, पात्रो के नैतिक गुण-दोष के अतिरिक्त, 'रुचि-विरुचि' का स्पष्ट उल्लेख इसकी पुष्टि करता है।

चरित्र-चित्रण के आधारभूत सिद्धान्त—अरस्तू ने चरित्र-चित्रण में छह आधारभूत सिद्धान्तो का निर्देश किया है—चार का प्रारम्भ में और फिर दो का उमी प्रमग में आगे चलकर।

(१) "पहली और मवसे महत्त्वपूर्ण वात यह है कि वह भद्र हो। नैतिक उद्देश्य का द्योतन करने वाला कोई भी वक्तव्य या कार्य-व्यापार चरित्र का व्यजक होगा—यदि उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण प्रत्येक वर्ग में सम्भव है। स्त्री भी भद्र हो सकती है, दास भी—यद्यपि स्त्री को कुछ निम्न स्तर का प्राणी कह सकने है और दास तो विल्कुल ही निकृष्ट जीव होता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ३९।)

इम सिद्धान्त के अनुसार त्रासदी में भद्रता चारित्र्य का मूल आधार होना चाहिए—अरस्तू ने आरम्भ में ही यह स्थापना की है कि त्रासदी में 'मानव का भव्यतर चित्रण होता है।' इसका अर्थ यह है कि कथा-वस्तु की भाँति त्रासदी का चरित्र-चित्रण भी ऐसा होना चाहिए जो मानव की नैतिक भावना को तुष्ट कर सके। त्रासदी के मुख्य पात्र भद्र होने चाहिए, अन्यथा उनकी विपत्ति हमारे मन में सहानुभूति का उदय न कर सकेगी—यह एक स्वतःसिद्ध तथ्य है जिसकी प्रतिष्ठा कथा-वस्तु के प्रसग में की जा चुकी है। भद्रता किसी वर्ग-विशेष तक ही सीमित नही रहती—सभी वर्ग के व्यक्ति इस गुण के भागी हो सकते है। इसी-लिए अरस्तू स्त्री तथा दास आदि में भी भद्रता का अभाव नही मानते—यद्यपि अपने युग की विचारधारा के अनुसार उनकी भी यही धारणा है कि 'स्त्री को कुछ निम्न स्तर का प्राणी कह सकते है और दास तो विल्कुल ही निकृष्ट जीव

१—एरिस्टोटिल्स थिअरी ऑफ पोइट्री एड फाइन आर्ट्स, पृ० ३१६

होता है।' स्पष्टत भद्रता को वे एक नैतिक गुण ही मानते हैं, जो वर्ग-भेद, मामाजिक स्थिति आदि से प्रभावित होने पर भी मूलत निरपेक्ष होता है।

(२) "दूसरी वात ध्यान रखने की है औचित्य। पुरुप मे एक विशेप प्रकार का शौर्य होता है, परन्तु नारी-चरित्र मे शौर्य या नैतिक-विवेक-शून्य चातुर्य का समावेश अनुचित होगा।" (पृ० ४०)

इसका तात्पर्य यह है कि किसी पात्र के चरित्र-चित्रण मे उमकी प्रकृति, जाति या वर्गगत विशेपताओ का ध्यान रखना चाहिए। शौर्य पुरुपोचित गुण है, स्त्री में प्रकृत्या उसका सद्भाव नही होता, इमी प्रकार प्रकृति से भावुक स्त्री धूर्तता आदि मे दक्ष नही होती। चरित्र-चित्रण मे इन नियमो का पालन करना ही औचित्य है। नव्य-शास्त्रवादियो के हाथ में पडकर अरस्तू के इम सिद्धान्त का वडा अनर्थ हुआ—इसके आधार पर एक ओर वर्ग-चित्रण को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर 'मिथ्या आडम्वर' की भावना का नाटक मे प्रचार हो गया, परन्तु अरस्तू का अभिप्राय यह कदापि नही था—जातिगत विशेपताओ का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी वे व्यक्ति की विशिष्टता का निपेध नही करना चाहते थे।

(३) "तीसरे, चरित्र जीवन के अनुरूप होना चाहिए—यह गुण पूर्वोक्त 'भद्रता' और 'औचित्य' से भिन्न है।" (पृ० ४०) इसका एक अर्थ तो यह हो सकता है कि त्रासदी के पात्र जीवन्त होने चाहिए—वे इस प्रकार के जीते-जागते, चलते-फिरते नर-नारी होने चाहिए जैसे कि जीवन में होते है। दूसरा अर्थ यह है कि पात्रो का चरित्र-चित्रण उनके वास्तविक जीवन या तत्सम्वन्धी परम्परागत धारणाओ के अनुकूल ही होना चाहिए—उनसे भिन्न नही। उदाहरण के लिए युधिष्ठिर का दम्भी और द्रौपदी का विनीत-कोमल रूप में चरित्राकन नही करना चाहिए। एटकिन्स आदि ने यह दूसरा अर्थ ही ग्रहण किया है।

(४) "चौथी वात यह है कि चरित्र मे एकरूपता होनी चाहिए। हो सकता है कि मूल अनुकार्य के चरित्र में ही अनेकरूपता हो किन्तु फिर भी, यह अनेकरूपता ही एकरूप होनी चाहिए।" (पृ० ४०) यह वक्तव्य अरस्तू की तत्त्वदर्शी प्रतिभा का द्योतक है। चरित्र-चित्रण मे एकरूपता का निर्वाह आवश्मक है, चरित्र में नही—चरित्र में अस्थिरता हो सकती है और प्राय होती है, परन्तु फिर यह अस्थिरता ही उसका व्यावर्तक धर्म हो जाती है और इसका यथावत् निर्वाह होना चाहिए। यहाँ यह शका हो सकती है कि क्या चरित्र में परिवर्तन सम्भव नही है? क्या एक कठोर व्यक्ति आगे चलकर मृदु नही

हो सकता—अस्थिर-स्वभाव स्थिर नही वन सकता ? अरस्तू परिवर्तन की सभावना का निषेध नही करते, किन्तु उसे 'मूल प्रकृति' की परिधि के भीतर ही ग्रहण करते है, वडे-से-वडा परिवर्तन मनुष्य के चरित्र में सम्भव है, किन्तु उसको ग्राह्य वनाने के लिए पात्र की प्रकृति में कुछ सस्कार अवश्य वर्तमान रहने चाहिए—उसमें परिवर्तनशीलता का धर्म अवश्य होना चाहिए। अत अरस्तू यहाँ न चारित्रिक विचित्रता का तिरस्कार करते है और न परिवर्तन की सम्भावना का निषेध, वे केवल इस वात पर वल देते है कि चरित्र-चित्रण मे कवि की दृष्टि सुस्थिर एव निभ्रान्त होनी चाहिए और उसकी अकन-विधि विवेक-सम्मत होनी चाहिए।

(५) "कथानक के सगठन की भाँति चरित्र-चित्रण में भी कवि को सदैव अवश्यम्भावी या सम्भाव्य को ही अपना लक्ष्य वनाना चाहिए । जैसे आवश्यक या सम्भाव्य पूर्वापर–क्रम से एक के वाद दूसरी घटना आती है, वैसे ही आवश्यकता या सम्भावना-नियम के अधीन विशिष्ट चरित्र के व्यक्ति को अपने विशिष्ट ढग से ही वोलना या काम करना चाहिए।" (पृ० ४१)। इस सिद्धान्त से यह भ्रम निराकृत हो जाता है कि अरस्तू के लिए चरित्र का अर्थ केवल वर्गगत नैतिक गुण-दोष है—यहाँ वे स्पष्ट शब्दो मे आवश्यकता या सम्भावना-नियम के अनुसार व्यक्ति के विशिष्ट ढग से वोलने और काम करने की अनिवार्यता पर वल देते है, जो निश्चित रूप से व्यक्ति-वैशिष्टच की स्वीकृति है।

(६) "चूकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियो की अनुकृति रहती है, जो सामान्य स्तर से ऊँचे होते है, अत उसमें श्रेष्ठ चित्रकारो का आदर्श सामने रखना चाहिए। ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते है जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कही अधिक सुन्दर भी होती है।" (पृ० ४१)। अभिप्राय यह है कि त्रासदी के चरित्र-चित्रण में यथार्थ और आदर्श का कलात्मक समन्वय रहना चाहिए—सामान्य रूप से चरित्र का अकन यथार्थवत् होना चाहिए, किन्तु साथ ही कलाकार को कल्पना और भावना के रगो से उसमें एक ऐसे सौन्दर्य की उद्भावना कर देनी चाहिए जो यथार्थ के अनुरूप होता हुआ भी उसमें एक नवीन आकर्षण उत्पन्न कर दे। अर्थात्—त्रासदी के पात्रो का चरित्र-चित्रण यथार्थ तो अवश्य होना चाहिए किन्तु साधारण नही हो जाना चाहिए—उसमें अपना एक भव्य आकर्षण होना चाहिए।

त्रासदी का नायक

यह पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का अत्यन्त मनोरजक विषय रहा है, जिसका

बडे-बडे विद्वानो और कलाकारो ने अपने-अपने ढग से व्याख्यान किया है। अरस्तू के काव्य-शास्त्र में प्रस्तुत प्रसग का विवेचन इस प्रकार है --

"एक तो इससे यह स्पष्ट है कि भाग्य-परिवर्तन के अकन में किसी सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखाया जाये--इससे न तो करुणा की उद्बुद्धि होगी, न त्रास की, इससे तो हमे आघात ही पहुँचेगा। साथ ही उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सपत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नही रहना चाहिए क्योकि त्रासदी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नही हो सकती। इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नही है। इमसे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्बुद्धि ही। किसी अत्यन्त खलपात्र का पतन दिखाना भी सगत नही है--इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोप तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नही हो सकेगा क्योकि करुणा तो किसी निर्दोप व्यक्ति की विपत्ति से ही जागृत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से, अत ऐसी घटना से न करुणा उत्पन्न होगी, न त्राम। अव, इन दो सीमान्तो के बीच का चरित्र रह जाता है--ऐसा व्यक्ति, जो अत्यन्त मच्चरित्र और न्यायपरायण तो नही है, फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नही, वरन् किसी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एव समृद्ध होना चाहिए, जैसे--ओइदिपूस, थ्युएस्तेस अथवा ऐसा ही कोई अन्य यशस्वी कुलीन पुरुष।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ३३)

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार अरस्तू के मत का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है —

(१) त्रासदी का नायक कैसा नहीं होना चाहिए—

(क) वह खल पात्र नही होना चाहिए क्योकि खल नायक का पतन हमारे मन में न त्रास उद्बुद्ध करता है और न करुणा, वरन् न्याय की भावना को ही पुष्ट करता है।

(ख) वह सर्वथा निर्दोष, नितान्त सज्जन भी नही होना चाहिए क्योकि इस प्रकार के व्यक्ति के पतन से हमारी न्याय-भावना को इतना भीषण आघात पहुँचता है कि करुणा और त्रास के भाव उसमें लुप्त हो जाते है। दोष से सर्वथा मुक्त सत्पात्र के प्रति हमारे मन में श्रद्धा और आदर का भाव रहता है, उसके साथ अपनी दुर्बलता के ज्ञान के कारण, हम तादात्म्य स्थापित नही कर सकते , अत उसकी विपत्ति हमारे मन में न समानुभूति-जन्य त्रास उत्पन्न करती है और न सहानुभूति-जन्य करुणा।

(२) त्रासदी का नायक कैसा होना चाहिए—

(क) वह हम-जैसा ही होना चाहिए। इसका अर्थ यह नही कि वह सामान्य बल-बुद्धि वाला, साधारण जन मात्र होना चाहिए। 'हम-जैसा' का अर्थ है—सहज मानव-भावनाओ से युक्त जिसके साथ प्रेक्षक का तादात्म्य हो सके, किन्तु यह साम्य प्रकृति का ही है, मात्रा का नही है। नायक और प्रेक्षक दोनो में मानव-स्वभाव का साम्य होना चाहिए, मानव-प्रकृति के आधार-भूत गुण ही दोनो में समान रहने चाहिए, इसके आगे मात्रा का कोई साम्य नही हो सकता। त्रासदी के नायक में तो ये गुण असाधारण मात्रा में वर्तमान रहने चाहिए—जनसाधारण से इस विषय में उसकी क्या तुलना!

(ख) वह अत्यन्त वैभवशाली, यशस्वी एव कुलीन पुरुष होना चाहिए। प्राय राज-परिवार अथवा सामन्त-परिवार के व्यक्ति ही त्रासदी-नायक हो सकते है। यह उपबन्ध प्रभाव-विस्तार की दृष्टि से रखा गया है—इसका मूल आशय यही है कि त्रासदी का नायक प्रभावशाली व्यक्ति होना चाहिए जिसकी सम्पत्ति-विपत्ति अपने तक ही सीमित न रहकर व्यापक जन-समाज को प्रभावित करने में समर्थ हो। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी इसीलिए कुलीन और प्रख्यात नायक का ही विधान है।

(क) और (ख) में कोई असगति नही है। (क) मानव-स्वभाव की साधारणता का द्योतक है, और (ख) सामाजिक स्थिति की असाधारणता का। एक ही व्यक्ति प्रकृति में 'हम-जैसा' होकर भी प्रभाव आदि की दृष्टि से विख्यात और महान् हो सकता है।

(ग) उसके चरित्र में सत् के साथ असत् का भी कुछ-न-कुछ अश होना चाहिए। वह मूलत सज्जन होने पर भी सर्वथा निर्दोष नही होना चाहिए—दुष्टता अथवा पाप तो नही, किन्तु उसके स्वभाव में कोई-न-कोई कमजोरी या भूल करने की प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए· अर्थात्—अपनी विपत्ति के उत्तरदायित्व से वह सर्वथा निर्दोष नही हो सकता—अपने किसी-न-किसी स्वभाव-दोष या भूल के कारण ही वह दुर्भाग्य का शिकार बनता है। नायक की विपत्ति के पाँच कारण हो सकते हैं—(१) दैव अथवा भाग्य का कोप—जिसकी कोई जिम्मेदारी इन्सान पर नही हो सकती। (२) पाप—मनुष्य इच्छापूर्वक अपने चारित्रिक दुर्गुण के कारण अपराध करता है और फलत उसके दण्ड का भागी बनता है। (३) स्वभाव-दोष—मनुष्य इच्छापूर्वक अपराध नही करता, वरन् अपने किसी स्वभाव-दोष आदि के कारण अपराध करता है, अपराध का ज्ञान उसे होता है, परन्तु वह विवश हो जाता है। (४)

अज्ञान—मनुष्य वस्तु-स्थिति के अज्ञान के कारण अपराध कर उसका दण्ड भोगता है। (५) निर्णय-सम्बन्वी भूल—जब वह किसी कारण से निर्णय करने में भूल करता है और इस प्रकार अपराध कर बैठता है।

अरस्तू ने प्रथम दो कारणो को त्रासदी के उपयुक्त नही माना, अतएव (१) दैव-कोप के कारण विपत्ति का भागी होने वाला, अथवा (२) अपने चारित्रिक दुर्गुण-जन्य अपराध (पाप) का दण्ड भोगने वाला पुरुष त्रासदी का सफल नायक नही हो सकता। (३) केवल अज्ञानवश अपराध कर उसका दण्ड भोगने वाला व्यक्ति भी, कम-से-कम यदि वह अन्यथा निर्दोष है तो, आदर्श नायक नही होता, क्योकि निर्दोष व्यक्ति का अपकर्ष प्रत्येक स्थिति में हमारी न्याय-सम्बन्वी आस्था को आघात पहुँचाकर त्रासदी के प्रभाव में यत्किंचित् बाधक अवश्य बन जाता है। परन्तु, इसे अनुपयुक्त वे नही मानते—त्रासदी की प्रेरक स्थितियो में इस प्रकार की स्थिति को उन्होने निश्चय ही 'उत्कृष्ट' माना है। (देखिए भूमिका, पृ० ७७) त्रासदी का आदर्श नायक वह है जो या तो स्वभाव-दोष से—किसी मानवोचित दुर्बलता—आवेश, त्वरा आदि के कारण, स्वभाव से लाचार होकर, या फिर निर्णय-सम्बन्धी भूल के कारण अपराध करता हुआ दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। इस व्यक्ति का दोष अत्यन्त साधारण होता है—कोई सहज मानव-दुर्बलता या निर्णय-सम्बन्वी भूल, जो प्रेक्षक मे भी यथावत् होने के कारण क्षोभ नही, वरन् समानुभूति ही उत्पन्न करती है। (चूकि इसकी विपत्ति इसके दोष की अपेक्षा अनुपात से कही अधिक होती है, इसलिए वह निश्चय ही प्रेक्षक के मन में करुणा और त्रास का सम्यक् उद्‌बोध तो करती है,) परन्तु सर्वथा अन्याय्य न होने के कारण नैतिक भावना को विक्षुब्ध नही करती। इस प्रकार का नायक निश्चय ही क्षोभ आदि से मुक्त शुद्ध करुण-त्रासद प्रभाव उत्पन्न करता है, अत यही त्रासदी का आदर्श नायक है।

इस विषय में अरस्तू के व्याख्याताओ मे काफी मतभेद रहा है—नायक अपने जिस दोष के कारण विपत्ति-भाजन बनता है, उसके लिए 'काव्य-शास्त्र' में 'हमरतिआ' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसके प्राय तीन भिन्न अर्थ किए गये है—(१) परिस्थितियो के अपर्याप्त ज्ञान के कारण होने वाली भूल—ये परिस्थितियाँ इस प्रकार की होती है कि सतर्क होने पर इनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था, अत कर्त्ता अपने अज्ञान के लिए नैतिक उत्तर-दायित्व से सर्वथा मुक्त नही होता। (२) ऐसा अपराध या भूल जो सचेत होकर तो की जाती है किन्तु आयोजित एव सुविचारित नही होती—उदा-

हरणार्थ—तात्कालिक क्रोध या आवेश में होने वाले कृत्य। (३) चरित्र-दोष जो एक ओर गलती या भूल से भिन्न होता है और दूसरी ओर दुर्वृत्ति-जन्य पाप से।[१] इनमें बूचर को तीसरा अर्थ ही सबसे अधिक मान्य है, किन्तु एटकिन्स के अनुसार 'हमरतिआ' का अर्थ है 'निर्णय-सम्बन्धी भूल' जो पहले अर्थ से मिलता-जुलता है। वास्तव में इस विषय में अरस्तू की टिप्पणी इतनी सक्षिप्त है कि सर्वथा असदिग्ध निर्णय देना कदाचित् सम्भव नही है , परन्तु उनके समस्त विवेचन को दृष्टि में रखकर बूचर और एटकिन्स दोनो की धारणाओ का समजन करना कठिन नही है—कदाचित् अरस्तू को स्वभाव-दोष और निर्णय-सम्बन्धी भूल दोनो ही अभिप्रेत हैं। अपराध निर्णय-सम्बन्धी भूल के कारण होता है , परन्तु इस भूल के लिए नायक के स्वभाव का कोई दोष—आवेश की प्रधानता, त्वरा की प्रवृत्ति, सदेहशीलता, महत्त्वाकाक्षा या अतिशय विश्वास, अथवा कोई अन्य दोष—उत्तरदायी होता है। उपर्युक्त दोनो धारणाएँ वास्तव में परस्पर विरोधी न होकर, पूरक ही हैं।

अरस्तू का सिद्धान्त सर्वथा पूर्ण नही है—उसकी परिधि में त्रासदी-नायक के सभी प्ररूप नही आते। उदाहरण के लिए राम के जीवन की ट्रेजेडी का अन्तर्भाव इसमें किस प्रकार हो सकता है ? क्या प्रजा-रजन को राम का चरित्र-दोष माना जाये ? और सीता की ट्रेजेडी का अन्तर्भाव तो इसमें किसी प्रकार सम्भव ही नही है। इसी प्रकार बूचर ने एक ऐसे खलनायक का उदाहरण दिया है, जो केवल अपनी दानवीय शक्ति के कारण—प्रबल इच्छा-शक्ति के बल पर—प्रेक्षक के मन में कुछ ऐसा भय-मिश्रित आदर-भाव उत्पन्न कर देता है कि उसके पतन से प्रेक्षक के मन में करुण-त्रासद प्रभाव की उद्‌बुद्धि हुए बिना नहीं रहती—जैसे शेक्सपियर का रिचर्ड तृतीय। इन आक्षेपो के अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि अरस्तू के सामने जो लक्ष्य साहित्य का था उसमें इस प्रकार के पात्र नही थे। दूसरे यह कि अरस्तू इनकी सत्ता का निषेध नही करते , परन्तु इन्हे आदर्श नायक नही मानते। तीसरे यह कि उपर्युक्त दोनो अपवाद अरस्तू के सिद्धान्त का खण्डन नही कर सकते—वे ही वस्तुत त्रासद-करुण प्रभाव की दृष्टि से सदोष है। राम अपने लोक-पावन चरित्र के कारण हमारी करुणा का विषय नही बनते, प्रत्येक स्थिति में सम्भ्रम और श्रद्धा के ही पात्र बने रहते हैं, और उधर रिचर्ड के पतन पर

१—देखिये—एरिस्टोटिल्स थिअरी ऑफ पोइट्री एड फाइन आर्ट्‌स, पृ० २९५–९७

भी हमारे मन में जो भाव उत्पन्न होता है, वह शुद्ध करुण-त्रासद प्रभाव नही होता। वास्तव में ये तीनो ही उत्तर किसी सीमा तक ठीक है, किन्तु इस सीमा के बाहर भी बहुत-कुछ रह जाता है, और उसी अश में अरस्तू के सिद्धान्त का सत्य भी सीमित हो जाता है।

पूर्ण सत्य की उपलब्धि का दावा न अरस्तू कर सकते थे और न उनके व्याख्याता कर सकते हैं, किन्तु इससे उनका गौरव कम नही होता—प्रो० बुचर के शब्दो में उपर्युक्त सिद्धान्त का महत्त्व तो यह है कि इसमें एक गहन सत्य निहित है, और (उससे भी अधिक) प्रयोक्ता के तात्कालिक आशय से आगे अर्थ-विस्तार की सम्भावना निहित है।

विचार-तत्त्व

त्रासदी के आधारभूत तत्त्वो में महत्त्व की दृष्टि से तीसरा स्थान विचार का है। अरस्तू के शब्दो में विचार का अर्थ है प्रस्तुत परिस्थिति में जो सम्भव और सगत हो उसके प्रतिपादन की क्षमता। "विचार वहाँ विद्यमान रहता है जहाँ किसी वस्तु का भाव या अभाव सिद्ध किया जाता है, या किसी सामान्य सत्य की व्यजक सूक्ति का आख्यान होता है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० २२)

"विचार की आवश्यकता तब पडती है जब किसी वक्तव्य को सिद्ध किया जाता है या सामान्य सत्य का आख्यान किया जाता है।" (पृ० २०)

"विचार के अन्तर्गत ऐसा प्रत्येक प्रभाव आ जाता है जो वाणी द्वारा उत्पन्न होता हो, इसके उपविभाग है—प्रमाण और प्रतिवाद, करुणा, त्रास, क्रोध की उद्‌बुद्धि, अतिमूल्यन और अवमूल्यन।" (पृ० ५१)

इस प्रसग में दो प्रश्न उठते है—एक तो यह कि विचार-तत्त्व का वास्तविक अर्थ क्या है? उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि अरस्तू का आशय बुद्धि-तत्त्व से ही है—किसी वस्तु के भाव-अभाव की सिद्धि, सामान्य सत्य की व्यजक सूक्ति का आख्यान, प्रमाण और प्रतिवाद, तर्कणा-शक्ति या बुद्धि के ही कर्तव्य-कर्म है किन्तु इसके साथ ही भाव-तत्त्व का भी अन्तर्भाव कदाचित् विचार के अन्तर्गत ही किया गया है क्योंकि, 'करुणा, त्रास, क्रोध की उद्‌बुद्धि' बुद्धि-तत्त्व के अन्तर्गत नही मानी जा सकती। अरस्तू ने 'भाव-तत्त्व' जैसे प्रमुख अग का स्वतन्त्र विवेचन नही किया—यह भी इस बात का प्रमाण है।

दूसरा प्रश्न यह है, कि विचार-तत्त्व से अभिप्राय यहाँ लेखक के विचारो

से है या पात्रो के। एक तो समस्त त्रासदी का आधारभूत विचार होता है जो लेखक का प्रतिपाद्य होता है, और दूसरे पात्रो के अपने-अपने विचार होते है जिनका प्रतिपादन वे नाटक की भिन्न-भिन्न स्थितियो में आवश्यकतानुकूल करते हैं। उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि अरस्तू का अभिप्राय पात्रो के विचारो से ही है। यूनान में उस समय वक्तृत्व-कला का बडा महत्त्व था, जिसकी प्रतिध्वनि नाटको में भी गूँजती थी—अत त्रासदी आदि के पात्रो में भी स्वभावत तर्क की प्रवृत्ति विद्यमान थी। अरस्तू ने स्पष्ट लिखा है-- "जहाँ तक विचार का प्रश्न है, हम उन्ही स्थापनाओं को स्वीकार कर सकते है जो मैं भाषण-शास्त्र में कर चुका हूँ। इस विषय का सम्बन्ध वस्तुत उसी से है।"—(पृ० ३८)। किन्तु पात्रो के विचारो का पृथक् महत्त्व तो नही होता, वे तो समवेत रूप से लेखक के 'प्रतिपाद्य' के ही अग होते है—समवेत रूप से ही, पृथक् रूप से नही। विभिन्न पात्रो के विचार मानो तर्क-वितर्क है जिनके द्वारा लेखक अपने विचार का प्रतिपादन करता है, अत समग्रत पात्रो के विचारो से अभिप्राय लेखक के विचार का ही है। लेखक के विचार का प्रतिपादन पात्रो के सम्भाषण आदि के अतिरिक्त कथा की गति-विधि के द्वारा भी होता है—घटनाओ के नियोजन में भी एक विचार निहित रहता है। अरस्तू इस तथ्य से भी अनवगत नही हैं। उनका स्पष्ट मत है कि "जब कवि का उद्देश्य करुणा, त्रास, महत्ता अथवा सम्भाव्यता की भावना जागृत करना हो, तो नाट्य-घटनाओ के प्रति भी वही दृष्टिकोण होना चाहिए जो नाट्य-सम्भाषणो के प्रति। भेद केवल इतना है कि घटनाओ को बिना शाब्दिक व्याख्या के मुखर होना चाहिए ।" (पृ० ५१)

साराश यह है कि विचार-तत्त्व का अर्थ व्यापक है—इसमें बुद्धि-तत्व का प्राधान्य होते हुए भी भाव-तत्त्व का अन्तर्भाव है, और इसके दो रूप हैं (१) वस्तुगत रूप—जिसमें लेखक अपने पात्रो के द्वारा उनके विचारो का प्रतिपादन प्रस्तुत करता है, (२) आत्मगत रूप—जो उसके अपने विचारो का प्रतिफलन होता है—जिसका प्रतिपादन वह समस्त नाटक अर्थात् उसके समस्त अगो—कथा-विधान, चरित्र-चित्रण, विचार-प्रतिपादन, भावाभिव्यक्ति, दृश्य-योजना आदि के द्वारा करता है। अरस्तू ने प्रस्तुत प्रसग में यद्यपि पहले रूप पर ही बल दिया है, किन्तु दूसरा रूप भी उपेक्षित नही है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में 'विचार-तत्त्व' का पृथक् विवेचन नही है। कारण कदाचित् यह है कि वस्तु, नायक और रस तीनो नाट्य-तत्वो में ही इसका अन्तर्भाव रहता है—वस्तु-विधान में निहित विचार वस्तु का अंग है, नायक

के विचार उसके व्यक्तित्व के अग हैं और सारभूत विचार रस-परिपाक का अग है। वैसे नाटक में बुद्धि-तत्त्व की स्वीकृति यहाँ स्पष्ट शब्दो में की गयी है—

नाटक का क्षेत्र

न तज्ज्ञान, न तच्छिल्प, न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

(नाट्य-शास्त्र, १।११७)

नाटक का प्रयोजन

धर्म्यं यशस्यमायुष्य हित बुद्धि-विवर्धनम् ।
लोकोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

(नाट्य-शास्त्र, १।११५)

भरत के इन उद्धरणो मे ज्ञान, बुद्धि-विवर्धन तथा लोकोपदेश तीनो में ही बुद्धि-तत्त्व का प्रत्यक्ष समावेश है। वामन ने विद्या को दूसरा काव्य-हेतु माना है जिसके अन्तर्गत दण्डनीति (राजनीति) आदि के रूप में विचार-तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। परन्तु विधान-रूप मे हमारे यहाँ बुद्धि-तत्त्व को साध्य न मानकर रस-परिपाक का साधन मात्र माना गया है और उसी के अधिकृत रखा गया है, इसीलिए यहाँ इसका स्वतत्र विवेचन नही हुआ।

त्रासदी की पदावली (भाषा)

पदावली से अभिप्राय है 'शब्दो द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति'।—अर्थात् 'अर्थ-प्रतिपादक शब्द'—या सक्षेप में 'शब्दार्थ'। "त्रासदी का माध्यम. अलकृत भाषा होती है। .'अलकृत भाषा' से मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमे लय, सामजस्य और गीत का समावेश होता है"। (पृ० १९) सामान्यत 'भाषा का प्राण-तत्त्व गद्य और पद्य दोनो म एक-सा रहता है'—फिर भी त्रासदी के भव्य वातावरण के लिए पद्य अर्थात् 'शब्दो का छन्दोबद्ध विन्यास' ही उपयुक्त रहता है। अरस्तू ने त्रासदी की भाषा का विस्तृत विवेचन किया है जिसका साराश यह है कि वह प्रसन्न हो किन्तु क्षुद्र न हो, समृद्ध और उदात्त हो परन्तु वागाडम्बर से मुक्त हो। अर्थात् त्रासदी की भाषा में अल-कृति, गरिमा और औचित्य का सहज समन्वय होना चाहिए। अपनी विषय वस्तु और भव्य उद्देश्य के अनुरूप ही उसकी भाषा भी भव्य होनी चाहिए।

गीत

यूनानी त्रासदी में गीत को एक प्रकार के 'आभरण' के रूप में ग्रहण किया गया है। वृन्दगान के अन्तर्गत प्राय स्वतन्त्र रूप से उसका प्रयोग होता था परन्तु गीत के विषय में भी अरस्तू का यही मत है कि वह त्रासदी का अभिन्न अग होना चाहिए।

दृश्य-विधान

दृश्य-विधान का आधार है रगमच के साधनो का कुशल प्रयोग। स्वभावत. यह एक बाह्य प्रसाधन है और इसमें एक प्रकार का बाह्य ऐन्द्रिय आकर्षण रहता है। अरस्तू के मत से त्रासदी के विविध अगो में सबसे कम कलात्मक यही है—क्योंकि एक तो यह "कवि की अपेक्षा मच-शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर रहता है" और दूसरे "इससे स्वतत्र भी त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति होती है, यह निश्चित है"—अर्थात् त्रासदी के मूल प्रभाव के लिए यह सर्वथा अनिवार्य नही है। अरस्तू का यह निर्णय भी वस्तुत उनकी मर्मभेदी दृष्टि का परिचायक है। काव्य की आत्मा के विषय में उनका ज्ञान जितना निभ्रान्त था—उतना ही कला और शिल्प के भेद के विषय में भी।

उपर्युक्त विवेचन से दो महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं —(१) काव्य कला है, रग-विधान शिल्प है—अरस्तू के समय में ये शब्द उपलब्ध नही थे किन्तु उच्चतर या ललित कला और निम्नतर या उपयोगी कला के भेद के विषय में वे सर्वथा निभ्रान्त थे।

(२) नाटक मूलत काव्य है, रग-कौशल से उसके आकर्षण में वृद्धि अवश्य होती है किन्तु मूल प्रभाव के लिए वह अनिवार्य नही है। अर्थात् नाटक और रगमच का उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु अनिवार्य सम्बन्ध नही है। यह प्रश्न वास्तव में अत्यन्त विवादास्पद है, फिर भी अरस्तू के मत का प्रतिवाद महज नही है देश-विदेश के श्रव्य नाटको की परम्परा उनके पक्ष में है।

त्रासदी के भेद :

त्रासदी के चार प्रमुख भेद हैं १—जटिल, जो पूर्णत स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान पर निर्भर होती है, २—करुण (भाव-प्रधान), जिसका प्रेरक-हेतु आवेग होता है, ३—नैतिक, जहाँ प्रेरक हेतु नैतिक होता है, ४—सरल। एक पाँचवाँ प्रकार शुद्ध दृश्यात्मक भी है, परन्तु अरस्तू ने उसकी गणना प्रमुख भेदो में नही की। वास्तव में यह वर्ग-विभाजन अधिक सगत नही है—

इनमें दो भेद सघटना पर आधृत हैं, दो उद्देश्य अथवा प्रभाव पर और एक का आधार सर्वथा बहिरग तत्त्व पर आश्रित है। वर्ग-विभाजन का आधार दृढ होना चाहिए—प्रत्येक वर्ग की सीमा-रेखा स्पष्ट होनी चाहिए। परन्तु उपर्युक्त विभाजन ऐसा नही है। जटिल त्रासदी करुण भी हो सकती है और नैतिक भी, सरल त्रासदी के लिए भी यही कहा जा सकता है। नैतिक और करुण (भाव-प्रधान) की सीमा-रेखा भी सर्वथा अलघ्य नही है—करुण त्रासदी भी नैतिक हो सकती है और नैतिक त्रासदी में भी आवेग का प्राधान्य हो सकता है, परन्तु ऐसा सयोग प्राय दुर्लभ ही होता है। नैतिक प्रभाव और करुण प्रभाव निश्चय ही एक दूसरे से भिन्न है—एक में सयम का प्राधान्य और दूसरे में उसका प्राय अभाव रहता है।

त्रासदी का विवेचन यहाँ समाप्त हो जाता है। काव्य-शास्त्र का अधिकाश वास्तव में इसी को समर्पित है, और अरस्तू की प्रतिभा का उत्कर्ष भी सबसे अधिक इसी प्रसग में मिलता है। त्रासदी को कला का आदर्श रूप मानकर उसके निमित्त से उन्होने वास्तव में कला के ही मूल सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।

भारतीय काव्य-शास्त्र और त्रासदी

सामान्यत स्वदेश-विदेश के विद्वानो की यही धारणा है कि भारतीय काव्य में त्रासदी का अभाव है और कदाचित् इसीलिए काव्य-शास्त्र मे त्रासदी का विवेचन भी नही मिलता। कार्यकारण-क्रम इसके विपरीत भी हो सकता है—सस्कृत काव्य में त्रासदी का अभाव इसलिए है कि काव्य-शास्त्र मे त्रासद तत्त्व की वर्जना है। यह धारणा प्राय शुद्ध तो है—किन्तु कदाचित् सर्वथा शुद्ध नही है।

त्रासदी के पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि वह प्राय शोकान्त ही होती है किन्तु यह उसका अनिवार्य लक्षण नही है—अरस्तू ने सशोक अन्त को स्पृहणीय तो माना है किन्तु अनिवार्य नही। उसमे त्रास और करुणा के यथावत् परिपाक के लिए यातना के दृश्यो का विधान आवश्यक है—यातना से अभिप्राय घोर शारीरिक और मानसिक कष्टो का है जिनमें मृत्यु भी निश्चित रूप से सम्मिलित है। किन्तु यह सब होने पर भी त्रासदी का प्राण-तत्त्व त्रासद-करुण प्रभाव ही है। सक्षेप में अरस्तू का मत यही है।

इस कसौटी पर कसने से सस्कृत काव्य में कतिपय नाटक ऐसे उपलब्ध हो जाते है जिनमें त्रासद तत्त्व निश्चय ही वर्तमान है। भास के नाटको में—

'प्रतिमा' में दशरथ की और 'उरुभग' मे दुर्योधन की—मृत्यु सूच्य रूप मे नही वरन् दृश्य रूप में प्रस्तुत की गई है। अभिषेक नाटक में वालि-वध का दृश्य है। इनके अतिरिक्त मृत्यु के सीमातवर्ती दृश्य भी अनेक नाटको में विद्यमान है—जैसे मृच्छकटिक में शकार द्वारा वसन्तसेना की हत्या का प्रयत्न, रत्नावली में सागरिका का आत्महत्या का प्रयत्न आदि। मानसिक यातना की दृष्टि से उत्तररामचरित का प्रतियोगी नाटक मिलना कठिन है, उधर शाकुन्तलम् के भी अनेक दृश्यो में करुणा का गहरा परिपाक है। त्रासद-करुण परिस्थितियो की भी सस्कृत नाटको मे कमी नही है—स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान, सवृति और विवृति आदि का अविकाश प्रमुख नाटको मे सुन्दर नियोजन है। अत त्रासद-करुण तत्त्वो का अभाव सस्कृत नाट्य-साहित्य मे नही है, यह असदिग्ध है। सशोक अन्त वास्तव में दुर्लभ है—कदाचित् एक ही नाटक उरुभंग का अन्त शोकमय होता है और वहाँ भी यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रेक्षक का तादात्म्य दुर्योधन के विपक्ष से होने के कारण 'शोक' स्थायी भाव नही है। अव रह जाता है सारभूत त्रासद-करुण प्रभाव जो वस्तुत त्रासदी की आत्मा है। मुझे इसमें सन्देह है कि सस्कृत के किसी नाटक का सारभूत प्रभाव वैसा त्रासद-करुण होता है जैसा कि किसी यूनानी त्रासदी का। 'एको रस करुण एव' का प्रतिपादक उत्तररामचरित नाटक भी सुखान्त है—राम-सीता का वह मिलन उतना ही आनन्दमय है जितनी तपस्या के उपरान्त अभीष्ट वर-प्राप्ति। शाकुन्तलम् के विषय मे तो यह और भी सत्य है उसके अन्त में तो भारतीय रस अथवा आनन्द की परिकल्पना मानो साकार हो गयी है—जो उसकी सुखान्तता मे सदेह करते है वे रस अथवा आनन्द और हर्ष का भेद नही जानते।

भारतीय काव्य-शास्त्र का विवेचन भी इसी के अनुरूप है। काव्य ने शास्त्र का अनुसरण किया या शास्त्र ने काव्य का? इस प्रश्न का उत्तर भी कठिन नही है—प्रारम्भ में शास्त्र काव्य का अनुवर्ती होता है और आगे चलकर पथ-प्रदर्शक वन जाता है। भारतीय काव्य-शास्त्र का आदि (उपलब्ध) ग्रन्थ भरत का नाट्य-शास्त्र है। उसमें करुण रस के परिपाक के लिए निर्वेद, चिन्ता, दैन्य और ग्लानि आदि मानसिक यातनाओ का और अश्रुपात, जडता, व्याधि और मरण—इन शारीरिक यातनाओ का स्पष्ट विधान है —

निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यग्लान्यस्त्रमेव च
जडता मरण चैव व्याधिश्च करुणे स्मृता ॥

(ना० शा०, ७।१११)

ये निश्चित रूप से त्रासदी के उपकरण है और इनका केन्द्र है मरण जो करुण रस के परिपाक का मूल आधार है। भरत मुनि ने भाव-व्यजन नामक सप्तम अध्याय में इन सबके अभिनय का विस्तार से निर्देशन किया है। मरण-विषयक सकेतो से यह स्पष्ट है कि उसका भी मुक्त भाव से अभिनय किया जाता था अर्थात् वह भी 'दृश्य' हो सकता था। परन्तु परवर्ती आचार्यों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में उसका निषेध किया है,—

दूराह्वान बधो युद्ध राज्यदेशादिविप्लव
विवाहो भोजन शापोत्सर्गौ मृत्यू रत तथा ॥

(सा० द० ६।२८१ क)

यहाँ मरण के रोगजन्य और आघातजन्य दोनो रूपो की स्पष्ट वर्जना है। वास्तव में स्वय भरत ने ही अपने ग्रन्थ में यह व्यवस्था दे दी है कि मृत्यु का प्रवेशक आदि के द्वारा अप्रत्यक्ष अभिनय करना चाहिए—बाद के आचार्यों ने इसी के आधार पर लोकरुचि और भारतीय रस-कल्पना को प्रमाण मानकर दृश्य-रूप में मरण का पूर्ण निषेध कर दिया। इस प्रसग मे, जैसा कि श्री वशीधर विद्यालकार का अनुमान है, हमारा मत भी यही है कि आरम्भ में कदाचित् मरण वर्जित नही था किन्तु बाद मे चलकर ज्यो-ज्यो रस-कल्पना अधिक स्पष्ट और नाट्य-कला अधिक विकसित होती गई, मरण का नितान्त वर्जन कर दिया गया। इसी आधार पर करुण को नाटक का प्रधान रस नही माना गया।

'एक एव भवेदगी शृगारो वीर एव वा।' सा० द० ६।२८० ज। किन्तु अगभूत रस के रूप मे करुण की व्यवस्था की गयी है

अन्यमगे रसा सर्वे । . . (वही)

नाटक का कलेवर 'सुखदु खसमुद्भूतिनानारसनिरन्तरम्' माना गया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि भारतीय काव्य-शास्त्र त्रासद तत्त्वो को तो नाटक में स्वीकार करता है, किन्तु सारभूत प्रभाव के रूप में त्रासद-करुण भाव को ग्रहण नही करता। नाटक में त्रास और करुणा का समावेश वर्जित नही है किन्तु उनका आनन्द में समाहार अनिवार्यत हो जाना चाहिए, यह भारतीय काव्य-शास्त्र का निभ्रान्ति निर्णय है जो अरस्तू आदि के निर्णय से निश्चय ही भिन्न है। आरम्भ में, सम्भव है, यह मत उतना दृढ नही था—भरत का मरण-विवेचन और भास द्वारा वध आदि के

दृश्यो का नियोजन इस तथ्य का सकेत करते हैं—परन्तु रस-सिद्धान्त का सम्यक् परिपोष हो जाने पर इसमें दृढता आ गयी। इसके दो मुख्य कारण है —

(१) भारतीय नाटक और रगमच का आरम्भ एव विकास प्राय शैव धर्म से सम्बद्ध रहा है— कालिदास आदि कवि, गुप्त सम्राट्, भरत और अभिनव आदि आचार्य सभी शैव थे। शैव दर्शन में द्वैत से मुक्त अखड आनन्द की कल्पना का प्राधान्य है जिसमें शोक की स्वतत्र सत्ता अमान्य है। अत नाटक का प्राण-तत्त्व रस माना गया जिसमें दुख का एकान्त अभाव है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि नाटक में त्रासद-करुण तत्त्वो को प्रोत्साहन नही मिला। भारतीय काव्य में त्रास और करुणा की न्यूनता नही है—रामायण मे अधिक करुणा और महाभारत से अधिक त्रास अन्यत्र दुर्लभ है; परन्तु नाटक में इनको प्रोत्साहन नही मिला।

(२) नाटक की प्रत्यक्षता भी त्रासदी के विकास में बाधक हुई। श्रव्य काव्य के श्रवण मे शोकादि का रसमय भावन तो सरल था, किन्तु रगमच पर शोक और त्रास के दृश्यो का प्रत्यक्ष प्रेक्षण निश्चित रूप से उनकी चर्वणा में बाधक रहा होगा। प्रत्यक्षता के कारण नाटक का प्रभाव अधिक गोचर होता है, इसलिए नाटक में यह आशका अधिक रहती है कि कही इन कटु भावो का ऐन्द्रिय रूप न उभर आए, जो रस की सबसे बडी बाधा है।

आधुनिक प्रमाता यहां यह प्रश्न कर सकता है कि क्या जीवन वास्तव में इतना रसमय और शुद्ध है? क्या जीवन का यह एकागी रूप अपूर्ण जीवन-दर्शन का द्योतक नही है? क्या जीवन का समग्र सत्य—अपने विष और अमृत से पुष्ट—स्वय रसमय नही है?

इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक युग अपनी दृष्टि से जीवन की आदर्श कल्पना—रसमयी कल्पना करता रहा है। प्राचीन भारत ने भी अपनी दृष्टि से यह कल्पना की जो उनके नाट्य-साहित्य में प्रतिफलित हुई। उनका अपना महत्त्व है।

कामदी का विवेचन

कामदी काव्य का तीसरा प्रमुख रूप है। कदाचित् 'काव्य-शास्त्र' के दूसरे भाग में इसका विस्तार से विवेचन किया गया था। 'काव्य-शास्त्र' के आरम्भ में, और उधर 'भाषण-शास्त्र' में, कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह प्राय निश्चित हो जाता है कि अरस्तू ने कामदी पर भी सम्यक् प्रकाश डाला था, परन्तु वह भाग उपलब्ध नही है, अत कामदी के विषय में अरस्तू की धारणाओ का प्रामाणिक प्रतिपादन आज सम्भव नही है। 'काव्य-शास्त्र' के आरम्भ में बिखरे हुए केवल तीन सकेतो के आधार पर ही कतिपय मौलिक सिद्धान्तो का निर्माण किया जा सकता है। ये तीन सकेत इस प्रकार है —

(१) "त्रासदी और कामदी मे भी यही भेद है—कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण, और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ११)

(२) "कामदी (या प्रहसन) में, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, निम्नतर कोटि के पात्रो का अनुकरण रहता है—यहाँ 'निम्न' शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नही है जो 'दुष्ट' का होता है, क्योकि अभिहस्य तो 'कुरूप' का एक उपभाग मात्र है—उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या अमगलकारी नही होता। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिए—प्रहसन में प्रयुक्त छद्ममुख विरूप और भद्दा तो होता है, पर क्लेश का कारण नही।" (काव्य-शास्त्र, पृ० १७)

(३) "इनका कथन है कि सीमान्तवर्ती गाँवो को ये '**कोमे**' और अथेन्स-वासी '**देमोस**' कहते हैं, अत ये मान लेते है कि कामदी के रचयिताओ या अभिनेताओ का यह नामकरण '**कोमेद्‌जाइन**' अर्थात् 'रागरग मचाना' शब्द के आधार पर नही हुआ, वरन् इसलिए हुआ है कि अपमानपूर्वक नगर से बहिष्कृत होकर वे एक गाँव से दूसरे गाँव भटकते फिरते थे।" (काव्य-शास्त्र, पृष्ठ १३)

१—कामदी का मूल भाव

(अ) कामदी का मूल भाव हास्य है, हर्ष नही है—परवर्ती रोमानी सुखान्त (कामद) नाटक अरस्तू की परिभाषा में नहीं आते। इस दृष्टि

से कॉमेडी के लिए प्रयुक्त हमारा पर्याय 'कामदी' वास्तव मे उसके स्वरूप से दूर है, परन्तु हमने इसका प्रयोग अर्थ-साम्य की अपेक्षा ध्वनि-साम्य के आधार पर रूढ रूप में किया है।

कामदी के मूल भाव का विषय कोई ऐसा दोष—शारीरिक तथा चारित्रिक विकृति—होती है जो क्लेशप्रद या अमगलकारी न हो, अर्थात्—यह दोष गम्भीर नही होना चाहिए जिससे प्रेक्षक के मन में किसी प्रकार का क्लेश हो, या जिससे हानि की सम्भावना हो, या जो त्रासदायक अथवा अमगलकारी हो।

२—कामदी का विषय

(अ) कामदी में यथार्थ अथवा सामान्य से हीनतर जीवन का चित्रण रहता है।

(आ) कामदी का विषय व्यक्तिगत न होकर प्राय वर्गगत या सार्वजनीन ही होता है—इस दृष्टि से अवगीति से कामदी भिन्न होती है, क्योंकि अवगीति का लक्ष्य जहाँ व्यक्तिगत दोष होते है, वहाँ कामदी का लक्ष्य प्राय. सार्वजनीन दोष होते है। इसीलिए अवगीति की गणना कला—उत्कृष्ट कला—के अन्तर्गत नही होती जब कि कामदी साधारणीकरण की क्षमता के कारण निश्चय ही काव्य-कला का मान्य रूप है। अतएव, कामदी की कथा-वस्तु प्रसिद्ध न होकर प्राय काल्पनिक या उत्पाद्य ही होती है।

३—कामदी के पात्र

(अ) उनके पात्र भी स्वभावत सामान्य से निम्नतर कोटि के होते है।

(आ) निम्नतर का अर्थ खल या दुष्ट का नही है, केवल अभिहस्य का है जो कुरूप या विकृत का एक उपभाग मात्र है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य त्रासदी के विवेचन से भी प्राप्त हो सकते हैं। जिस प्रकार महाकाव्य और त्रासदी के अनेक अग और उनके स्वरूप प्राय समान हैं इसी प्रकार दृश्य-काव्य के इन दोनो भेदो—त्रासदी और कामदी—में भी निश्चय ही अनेक समानताएँ है।

४—कामदी का कथानक

वस्तु-सघटना के प्रायः सभी गुण—आदि, मध्य और अवसान से युक्त पूर्णता, एकान्विति, पूर्वापर-क्रम, सम्भाव्यता, कुतूहल आदि—न्यूनाधिक मात्रा

में कामदी के लिए भी आवश्यक है। आवश्यक इसलिए है कि इनके बिना कामदी का कला-रूप ही सम्भव नही हो सकता, और न्यूनाधिक मात्रा में इसलिए कि इनका थोडा-बहुत अभाव और उससे उत्पन्न वस्तु-सगठन की विकृति त्रासदी के गम्भीर प्रभाव के लिए जितनी घातक हो सकती है उतनी कामदी के लिए नही जिसका आधार ही विकृति-मूलक होता है। इसी प्रकार अरस्तू द्वारा अनुमोदित कथानक के दोनो चमत्कारक अग—स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान—तथा उनसे सम्बद्ध विवृति और सवृति की उपादेयता भी कामदी के लिए स्वत सिद्ध है—भ्रम का जितना उपयोग त्रासदी के लिए अभीष्ट है, उतना ही कदाचित् कामदी के लिए भी माना जा सकता है, क्योकि गम्भीर भ्रान्ति जितनी भयकर और करुणोत्पादक होती है, साधारण भ्रान्ति उतनी ही हास्यमय हो सकती है।

५—कामदी का प्रभाव

एटकिन्स के अनुसार अरस्तू कदाचित् विरेचन को भी कामदी के लिए उतना ही आवश्यक मानते थे। यह विरेचन ईर्ष्या, क्रोध आदि कटु विकारो का हो सकता था या स्वय हास्य का ही। इस प्रसग में अरस्तू का कोई वाक्य प्रमाण-रूप मे उपलब्ध नही है, अत निश्चयपूर्वक कुछ कहना सम्भव नही है।

महाकाव्य

त्रासदी के उपरान्त काव्य-शास्त्र के भाग २२, २३ और २४ में अरस्तू ने महाकाव्य का विवेचन किया है। यह विवेचन उतना विस्तृत तो नही है जितना त्रासदी का, फिर भी इससे महाकाव्य के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश पडता है।

महाकाव्य की परिभाषा और स्वरूप—त्रासदी की भाँति अरस्तू ने महाकाव्य की परिभाषा नही की, किन्तु उनके ही वाक्यो के आधार पर उसका निर्माण कठिन नही है। "महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमें उच्चतर कोटि के पात्रो की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।" (पृ० १८)

"जहाँ तक ऐसी काव्यानुकृति का प्रश्न है जिसका रूप समाख्यानात्मक हो और जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो " (काव्य-शास्त्र, पृ० ६१)।

"महाकाव्य में एक बडी—एक विशिष्ट क्षमता होती है अपनी सीमाओ का विस्तार करने की ।" (पृ० ६३)

"किन्तु महाकाव्य में, उसके समाख्यानात्मक रूप के कारण, एक ही समय में घटित होने वाली अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती है और यदि ये विषय-सगत हो तो इनसे काव्य को घनत्व और गरिमा प्राप्त होती है।" (पृ० ६३)

इन तीन उद्धरणो का समजन कर महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है महाकाव्य काव्यानुकृति का वह भेद है, जिसका रूप समाख्यानात्मक हो, जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो, जिसमें उच्चतर कोटि के व्यक्तियो का चरित्र-वर्णन हो, जिसकी सीमाएँ विस्तृत हो और जो अनेक घटनाओ के उचित समावेश के कारण घनत्व और गरिमा से युक्त हो।

अर्थात्— महाकाव्य काव्य का एक भेद है,
इसका रूप समाख्यानात्मक होता है,
इसमें उच्चतर चरित्रो का वर्णन रहता है,
इसका आकार विपुल होता है,
इसके वस्तु-सगठन में घनत्व और गरिमा होती है,
इसमें एक छन्द का ही प्रयोग होता है।

इस प्रकार, दृश्य-काव्य से भिन्न, महाकाव्य एक वृहदाकार समाख्यान-काव्य

है जिसमें उच्चतर चरित्रो का वर्णन रहता है और जिसके कथा-प्रवाह में घनत्व और गरिमा होती है।

महाकाव्य के मूल तत्त्व—"गीत एव दृश्य-विधान के अतिरिक्त (महाकाव्य और त्रासदी) दोनो के अग भी समान ही है"—पृ० ६२। अर्थात्—महाकाव्य के मूल तत्त्व चार है—कथा-वस्तु, चरित्र, विचार-तत्त्व और पदावली (भाषा)।

कथा-वस्तु—महाकाव्य की कथा-वस्तु मूलत त्रासदी के समान ही होती है। उसमें यथार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठतर जीवन का चित्रण रहता है। एक ओर वह शुद्ध ऐतिहासिक रचनाओ से भिन्न होता है, और दूसरी ओर सर्वथा काल्पनिक भी नही होता—त्रासदी की भाँति प्राय जातीय दतकथाएँ ही उसका आधार होती हैं। महाकाव्य की कथा-वस्तु का आयाम अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होता है—"महाकाव्य और त्रासदी में आकार और छद का भेद होता है" (पृ० ६३)। उसमें "अपनी सीमाओ का विस्तार करने की बडी क्षमता होती है", क्योंकि त्रासदी की भाँति वह रगमच की देशकाल-सम्बन्धी सीमाओ में परिबद्ध नहीं होता। उसमें एक ही समय घटित होने वाली अनेक घटनाओ का सहज समावेश हो सकता है जिससे काव्य को घनत्व और गरिमा प्राप्त होती है और उधर अनेक उपाख्यानो के नियोजन के कारण रोचक वैविध्य उत्पन्न हो जाता है, परन्तु फिर भी यह विस्तार अनियन्त्रित नही होना चाहिए—उस पर भी वही नियन्त्रण होना चाहिए जो त्रासदी के कथानक पर होता है, उसका आयाम भी "इतना ही होना चाहिए कि आदि और अवसान एक ही दृष्टि की परिधि में आ सकें।" आकार की विपुलता और घटनाओ की बहुलता के रहते हुए भी महाकाव्य का आधार आदि-मध्य-अवसान-युक्त एक ही समग्र एव पूर्ण कार्य होना चाहिए। इतिहास और महाकाव्य में यही तो मूल अन्तर है। इतिहास एक काल-खण्ड को और उस काल-खण्ड में एक या अनेक व्यक्तियो से सम्बद्ध सभी घटनाओ को उपस्थित करता है—ये घटनाएँ परस्पर असम्बद्ध हो सकती है और इनके परिणाम भिन्न हो सकते हैं। परन्तु, महाकाव्य सभी घटनाओ को ग्रहण नही करता, वह ऐसी ही घटनाओ को ग्रहण करता है जो परस्पर सम्बद्ध हो और जिनका परिणाम एक हो। कुशल महाकाव्यकार एक प्रमुख कार्य को लेकर अनेक सम्बद्ध घटनाओ को उपाख्यानो के रूप में उसमें गुम्फित कर देता है जिससे कथानक की अनेकता में एकता स्थापित हो जाती है। विविधता और व्यापकता महाकाव्य के कथानक के प्रमुख गुण है किन्तु एकान्विति उसका प्राण-तन्तु है, अत जिन महाकाव्यो में अनेक कार्य होते हैं वे सफल नही माने जा सकते।

इसके अतिरिक्त त्रासदी के वस्तु-सगठन के अन्य गुण—पूर्वापरक्रम, सम्भाव्यता, तथा कुतूहल—भी महाकाव्य में यथावत् विद्यमान रहते हैं। सम्भाव्यता की परिधि यहाँ अपेक्षाकृत व्यापक हो जाती है, उसमें प्रत्यक्ष प्रस्तुति के अभाव तथा आधार-फलक के विस्तार के कारण अतिप्राकृत तत्त्व के लिए अधिक अवकाश रहता है। त्रासदी में तो अतिप्राकृत तत्त्व को रगमच के भौतिक उपकरणों में बाँधना दुष्कर है, किन्तु महाकाव्य की दिगतमापी कल्पना में वह सहज ही बँध सकता है। और, यदि सम्भव भी हो गया, तो अतिप्राकृत या असगत घटना का दोष त्रासदी में तो तुरन्त उभरकर सामने आ जाता है, किन्तु महाकाव्य के विपुल समाख्यान-प्रवाह में वह सहज ही अदृश्य हो जाता है, अतएव कुतूहल के लिए महाकाव्य में स्वभावत अधिक अवकाश रहता है और कथानक के सभी कुतूहल-वर्धक अग, जैसे—स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान, सवृति और विवृति, महाकाव्य का भी उत्कर्ष करते हैं।

अरस्तू के अनुसार महाकाव्य के कथानक की मूल विशेषताएँ सक्षेप में इस प्रकार है, ये प्राय सभी भारतीय महाकाव्य के लक्षणो से मिलती-जुलती हैं—

अरस्तू का काव्य-शास्त्र	भारतीय काव्य-शास्त्र
(१) वह प्रख्यात (जातीय दन्तकथाओ पर आश्रित) होना चाहिए। और, उसमें यथार्थ से श्रेष्ठतर जीवन का अकन होना चाहिए।	(१) इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्—(दण्डी). अर्थात् महाकाव्य की कथा इतिहास से उद्भूत और सत् पर आश्रित होती है। भारतीय मत से इतिहास में पुराण तथा जातीय दतकथाओं आदि का अन्तर्भाव हो जाता है।
(२) उसका आयाम विस्तृत होना चाहिए जिसके अन्तर्गत विविध उपाख्यानो का समावेश हो सके।	(२) नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनै . . अलकृतैरसक्षिप्त. . . . सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेत लोकरजनम्। (दण्डी)—अर्थात् महाकाव्य नाना प्रकार के वर्णनो से अलकृत विपुलाकार... और सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तो से युक्त लोकरजनकारी होता है।

(३) उसमे एक ही कार्य होना चाहिए जो आदि-मध्य-अवसान से युक्त अपने आप में पूर्ण हो। समस्त उपाख्यान इसी मूल सूत्र में गुफित होने चाहिए।	(३) प्रवन्धस्यैकदेशाना फलवन्धानुवन्धवान् । उपकार्योपकर्तृत्वपरिस्पन्द परिस्फुरन् ॥५॥ असामान्यसमुल्लेखप्रतिभाप्रतिभासिन । सूते नूतनवक्रत्वरहस्य कस्यचित्कवे ॥६॥ अर्थात् (फलवन्ध) प्रधान कार्य का अनुसधान करने वाला प्रवन्ध के प्रकरणो का उपकार्योपकारक भाव असाधारण समुन्लेखवाली प्रतिभा से प्रतिभासित किसी कवि के (काव्यादि) मे अभिनव सौन्दर्य के तत्त्व को उत्पन्न कर देता है । व० जी० ४।५-६ ।
(४) नाटक (त्रासदी) के वस्तु-सगठन के सभी अन्तरग गुण और प्रमख अग महाकाव्य में भी यथावत् होने चाहिए।	(४) सर्वे नाटकसधय । (विश्वनाथ)—अर्थात् महाकाव्य के कथानक मे सभी नाट्यसधियाँ रहती है । नाट्यसधियाँ वास्तव में वस्तु-सगठन का मूल आधार है—उनके सद्भाव में अर्थ-प्रकृतियो और अवस्थाओ का भी सद्भाव निहित है । इस प्रकार नाट्यसधियो से युक्त होने का अर्थ नाट्यागो से युक्त होना ही है ।

कथा-वर्णन की शैली

महाकाव्य समाख्यान-काव्य है, अत उसकी कथावर्णन-शैली मूलत समाख्यानात्मक ही होती है, जिसमे कवि कथा का अपनी ओर से अप्रत्यक्ष शैली में वर्णन करता है , परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि कवि स्वय बराबर हमारे सामने बना रहे और सब कुछ अपनी ओर से ही कहे। होमर जैसे कुशल कवि

"प्रस्तावना के रूप में कुछ शब्द कहकर तुरन्त ही किसी स्त्री, पुरुष या अन्य पात्र को मच पर ले आते है" और इस प्रकार सच्चे अर्थ में काव्यानुकरण प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् कथा-वर्णन की दो प्रमुख शैलियाँ है—एक परोक्ष समाख्यान-शैली और दूसरी प्रत्यक्ष नाटकीय शैली। महाकाव्य में सामान्य रूप से पहली का और विशेष रूप से दूसरी का प्रयोग होता है। महाकाव्य में भी अरस्तू प्रत्यक्ष नाटकीय शैली को अधिक रोचक एवं उपयुक्त मानते है। इसका कारण स्पष्ट है। परोक्ष समाख्यान-शैली में शीघ्र ही एकरसता उत्पन्न हो जाती है जबकि नाटकीय शैली में दृश्यात्मकता के साथ-साथ भिन्न-भिन्न पात्रो के अपने-अपने व्यक्तित्व के कारण वैचित्र्य का सहज समावेश रहता है। इसमें सदेह नही कि अरस्तू का तर्क अपने आप में स्पष्ट है, परन्तु महाकाव्य मूलत. समाख्यान-काव्य है, यह नही भूलना चाहिए—समाख्यान-शैली में एक दुर्दम नद-प्रवाह होता है जो अपने वेग-मात्र से श्रोता को अभिभूत कर लेता है। वास्तव में, शैली की सफलता है अभिभूत करने में—नाट्य-शैली जहाँ अपनी जीवंत प्रत्यक्षता के द्वारा प्रेक्षक के मन को अभिभूत करती है, वहाँ समाख्यान-शैली अपने दुर्धर्ष वेग के द्वारा श्रोता की चेतना को वशीभूत कर लेती है, अत दोनो का अपना महत्व है और दोनो का सहयोग भी महाकाव्य के लिए निश्चय ही मूल्यवान् है। किन्तु अरस्तू के मन पर नाटक का प्रभाव इतना अधिक था कि वे नाटकीय शैली के प्रति भी अपने पक्षपात का गोपन नही कर सके।

महाकाव्य का प्रयोजन और प्रभाव

अरस्तू ने महाकाव्य के केवल भेदक धर्मो का ही विवेचन किया है—शेप वातो के लिए उन्होने स्पष्ट लिख दिया है "महाकाव्य और त्रासदी के घटक अगो में से कुछ तो दोनो मे ही समान रूप से होते है—कुछ केवल त्रासदी में ही, अत जो त्रासदी के गुण-दोष का विवेचन कर सकता है उसे महाकाव्य के विपय में भी ज्ञान होता है"—(पृ० १९)। इस वक्तव्य के अनुसार महाकाव्य का प्रयोजन और प्रभाव त्रासदी के प्रयोजन और प्रभाव के समान ही होना चाहिए ; अर्थात्—मनोवेगो का विरेचन उसका प्रयोजन और तज्जन्य मन शान्ति उसका प्रभाव होना चाहिए , परन्तु हमारा अपना मत है कि यह निष्कर्ष पर्याप्त नही है। जहाँ तक प्रयोजन का सम्बन्ध है, महाकाव्य में श्रोता के मनोवेग स्पष्टत इतने उत्तेजित नहीं हो पाते जितने त्रासदी में, अत उसमे विरेचन की प्रक्रिया भी उतनी सफल नहीं हो सकती। अरस्तू का उत्तर है—तभी तो महाकाव्य का कलात्मक मूल्य त्रासदी की अपेक्षा कम है , किन्तु यह तो एक पक्ष हुआ—महा-

काव्य के विस्तार में आत्मा का विस्तार और उदात्तीकरण करने की जो क्षमता है उसका मूल्याकन भी तो होना चाहिए। अरस्तू ने इस पक्ष की उपेक्षा की है। दोनो के प्रभाव में भी अन्तर स्पष्ट है—अपनी एकाग्रता में त्रासदी का प्रभाव जितना तीव्र होता है, उतना महाकाव्य का नही हो सकता , किन्तु महाकाव्य के विस्तार में जो गरिमा और भव्यता है वह त्रासदी में नही है, अत उसके प्रभाव में भी ये गुण अपेक्षाकृत अधिक है। अरस्तू ने इस तथ्य को स्वीकार किया है—"महाकाव्य को यह बडा लाभ है, जिससे उसकी प्रभाव-गरिमा की वृद्धि होती है।"—(पृ० ६२)। इसके अतिरिक्त अद्‌भुत तत्त्व का समावेश भी महाकाव्य मे अपेक्षाकृत अधिक है, क्योकि असगत (असम्भाव्य) के लिए, जो अद्‌भुत के प्रभाव का मूल आधार होता है, महाकाव्य में अधिक अवकाश रहता है . और जो अद्‌भुत है वह आह्लादित भी करता है।"—(पृ० ६५)। इसका अभिप्राय यह हुआ कि त्रासदी के प्रभाव की अपेक्षा महाकाव्य में विस्मय और तज्जन्य आह्लाद की मात्रा अधिक रहती है।

साराश यह है कि (१) अरस्तू के मतानुसार महाकाव्य का प्रयोजन त्रासदी के प्रयोजन से और इस दृष्टि से काव्य-मात्र के प्रयोजन से मूलत भिन्न नही है—मानव-मन का विरेचन या परिशुद्धि ही उसका मूल प्रयोजन है , किन्तु महाकाव्य की विरेचन-प्रक्रिया त्रासदी की अपेक्षा मन्थर और उसी मात्रा में कम सफल होती है। (२) महाकाव्य का प्रभाव भी अन्तत मन शान्ति के रूप में ही होता है , परन्तु उसके परिपाक की प्रक्रिया में तीव्रता अपेक्षाकृत कम और गरिमा तथा विस्मय का तत्त्व अधिक रहता है।

विवेचन

अरस्तू के ये मन्तव्य समग्र रूप में ग्राह्य नही हो सकते और इनसे विरेचन-सिद्धान्त की अपूर्णता भी सिद्ध हो जाती है। पहले प्रयोजन को ही लीजिए। क्या मन का विरेचन-मात्र महाकाव्य का प्रयोजन है—क्या ईलिअद, पैराडाइस लॉस्ट, रामायण, महाभारत अथवा रघुवश का प्रयोजन हृदय की विशदता मात्र ही है, हृदय का विस्तार या चित्त का ऊर्ध्व विकास नही है ? हृदय की विशदता तो सभी काव्य-रूपो द्वारा उपलब्ध होती है। महाकाव्य में भी मनोवेगों की उद्‌बुद्धि और तत्पश्चात् उनका समजन अनिवार्यत होता है , परन्तु उसके प्रभाव की इति यही नही होती—महाकाव्य के अध्ययन से श्रोता या पाठक का मन उदात्त हो जाता है, और यही उसका वास्तविक प्रयोजन है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इसीलिए जीवन के परम पुरुषार्थों की सिद्धि को महाकाव्य का प्रयो-

जन माना गया है। सामान्यत चतुर्वर्गफलप्राप्ति काव्य-मात्र का प्रयोजन है ; परन्तु महाकाव्य के लिए तो वह सर्वथा अनिवार्य है—'चतुर्वर्गफलायत्त धीरोदात्तनायकम्' (दण्डी)। जीवन के पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि वास्तव में महाकाव्य के उदात्त स्वरूप और गरिमा की द्योतक है जिससे पाठक का मन गरिमाभिभूत और उदात्त हो जाता है। इस प्रकार के काव्य का प्रभाव केवल मन-शान्ति नहीं हो सकता—हृदय के विस्तार अथवा मन के ऊर्ध्व विकास की अनुभूति उदात्त आनन्द के रूप में ही होती है। भारतीय काव्य-शास्त्र इसी पर वल देता आया है, किन्तु अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का परिधि-विस्तार यहाँ तक नही है।

महाकाव्य के पात्र

महाकाव्य के पात्रो के विषय में अरस्तू ने केवल एक वाक्य लिखा है—"महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रो की पद्य-वद्ध अनुकृति रहती है।" (पृ० १८)। अतएव प्रस्तुत प्रसग में भी लेखक के इस तर्क के आधार पर कि 'जो त्रासदी के गुण-दोष का विवेचन कर सकता है, उसे महाकाव्य के विषय में भी ज्ञान होता है', हमें त्रासदीगत पात्रो के विवेचन से निष्कर्ष ग्रहण करने पडेंगे। उनके अनुसार महाकाव्य के पात्र—

१—भद्र होने चाहिए।

२—वैभवशाली, यशस्वी और कुलीन होने चाहिए।

३—सहज मानव-गुणो (गुण-दोषो) से विभूषित होने चाहिए—जिनके सुख-दु ख के साथ सहृदय का तादात्म्य हो सके। और,

४—सव मिलाकर उच्चतर कोटि के, अर्थात्—उदात्त होने चाहिए।

—यह विवेचन युक्तिसगत ही है। महाकाव्य के पात्र उसके कथानक और उद्देश्य के अनुरूप उदात्त ही होने चाहिए। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी ऐसा ही विधान है —

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक. सुर. ।
सद्वंश. क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणान्वित. ॥

—(विश्वनाथ)

अर्थात्—महाकाव्य का नायक देवता, अथवा कुलीन क्षत्रिय होता है और वह धीरोदात्त गुणो से युक्त होता है। धीरोदात्त नायक के गुण इस प्रकार हैं :—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष. प्रियंवदः
रक्तलोक. शुचिर्वाग्मी रूढवंश. स्थिरो युवा ॥ २।१ ॥

बुध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वित ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥ २१२ ॥

(धनजय, दशरूपक)

—विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, लोकप्रिय, शुचि, वाग्मी, रूढवश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, उत्साहवान्, स्मृतिवान्, प्रज्ञावान्, कलासमन्वित, मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु और धार्मिक । इस लम्बी विशेषण-सूची का साराश यह है कि महाकाव्य अथवा नाटक का नेता शरीर, हृदय और मस्तिष्क के समस्त गुणो से सम्पन्न, चारित्र्यवान्, तेजस्वी-पराक्रमी और वैभवशाली होना चाहिए। नायक शब्द यहाँ उपलक्षणमात्र है, नायक के सहयोगी प्रमुख पात्रो मे ये ही गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होने चाहिए ।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसग में भी अरस्तू और भारतीय आचार्यों के मत प्राय समान ही हैं। त्रासदी के नायक के विषय में अरस्तू का यह विचार भी दृढ है कि वह सर्वथा निर्दोष नही होना चाहिए—उसके व्यक्तित्व में कुछ-न-कुछ स्वभाव-दोष भी अवश्य रहना चाहिए । यह धारणा त्रासदी की शोकान्त प्रकृति के तो एकान्त अनुकूल है, परन्तु क्या महाकाव्य के नायक के विषय में भी यह उतनी ही सत्य हो सकती है ? अरस्तू ने यो तो महाकाव्य में भी त्रासद तत्त्व को कम महत्त्व नही दिया, फिर भी यह मानना असगत होगा कि त्रासदी और महाकाव्य दोनो में यह तत्त्व सर्वथा समान होता है । जैसा कि अभी हमने प्रयोजन और प्रभाव के विषय में सिद्ध किया है, त्रासदी और महाकाव्य में पूर्ण साम्य नही है। इसी तर्क से दोनो के प्रमुख पात्रो के चरित्र भी नितान्त अभिन्न नही हो सकते—अर्थात् महाकाव्य के प्रमुख चरित्रो में असत् का मिश्रण उतना आवश्यक नही है जितना त्रासदी के नायक मे होता है। अरस्तू ने इस तथ्य को स्पष्ट नही किया , परन्तु उनका मत यही हो सकता था, इसमें सदेह नही है। यह तो मान्य है कि महा-काव्य का नायक भी उनके मत से सर्वथा निर्दोष नही हो सकता—और इस दृष्टि से अरस्तू और भारतीय आचार्य की धारणाओ में थोडा भेद है, क्योकि धनजय के लक्षण के अनुसार तो महाकाव्य और नाटक का नायक सर्वथा निर्दोष ही होना चाहिए , किन्तु यह भारतीय आचार्य की आदर्श-निरूपिणी दृष्टि और यवना-चार्य की वस्तु-निरूपिणी दृष्टि का मौलिक भेद है। वैसे व्यवहार में भारत के न तो किसी भी प्रमुख नाटक का नायक और न किसी महाकाव्य का नायक ही सर्वथा निर्दोष है—राम और कृष्ण भी मानव-दुर्बलताओ से मुक्त नही हैं—हो ही नही सकते थे, भेद केवल इतना है कि इन दुर्बलताओ का अन्त में उन्नयन अवश्य कर दिया गया है ।

महाकाव्य की भाषा-शैली और छन्द

सक्षेप में, महाकाव्य की शैली का भी "पूर्ण उत्कर्ष यह है कि वह प्रसन्न हो; किन्तु क्षुद्र न हो।" अर्थात्—गरिमा और प्रसाद गुण ये दो उसके मूल तत्त्व हैं। गरिमा का आधार है असामान्यता। असामान्यता शब्द-प्रयोग में, वाक्य-रचना में और मुहावरे आदि सभी में हो सकती है—"इसके विपरीत वह शैली उदात्त/असाधारण (लोकातिक्रान्त) होती है, जिसमें असामान्य शब्दो का प्रयोग रहता है। 'असामान्य' से मेरा अभिप्राय है अपरिचित (या कम प्रचलित), औपचारिक, व्याकुचित आदि का—सक्षेप में उन शब्दो का जो साधारण मुहावरे से भिन्न हो।" (पृ० ५७)। इन प्रयोगो से निश्चय ही भाषा-शैली का धरातल ऊँचा उठ जाता है. "· · · यदि हम कोई अपरिचित (या अप्रचलित) शब्द अथवा लाक्षणिक प्रयोग या अभिव्यजना का कोई और ऐसा ही रूप ले और उसके स्थान पर प्रचलित या उपयुक्त शब्द रख दे तो हमारे कथन की सत्यता स्पष्ट हो जायेगी।" (पृ० ५९)। किन्तु केवल असामान्यता पर्याप्त नही है—वह तो शब्द-जाल या प्रहेलिका का गुण है। प्रचलित एव उपयुक्त शब्दो का भी अपना मूल्य है—महाकाव्य में उनका प्रयोग सर्वत्र नही हो सकता, किन्तु इनका बहिष्कार भी सम्भव नही है क्योकि प्रसाद गुण के मूल आधार ये ही शब्द है। अरस्तू के मत से शब्दो के छह भेद होते हैं—(१) प्रचलित, (२) अपरिचित या असामान्य, (३) लाक्षणिक, (४) आलकारिक, (५) नव-निर्मित, (६) व्याकुचित, सकुचित या परिवर्तित। इनमें से सामान्यत "समस्त शब्द रौद्र-स्तोत्र के लिए, अप्रचलित वीर-काव्य के लिए और औपचारिक द्विमात्रिक वृत्त के लिए सबसे उपयुक्त होते है।" (परन्तु) "वीर काव्य में वैसे ये सभी प्रकार के शब्द काम दे सकते है।" (पृ० ६१)।

साराश यह है कि अरस्तू के मत मे महाकाव्य की भाषा-शैली त्रासदी की करुण-मधुर अलकृत शैली से भिन्न, लोकातिक्रान्त प्रयोगो से कलात्मक, उदात्त एव गरिमा-वरिष्ठ होनी चाहिए,

साथ ही प्रसन्न होनी चाहिए,

उसका आधार अत्यन्त व्यापक होना चाहिए जिसमें सभी प्रकार की शब्दा-वली और प्रयोगो आदि का समावेश हो सके।

महाकाव्य के छद के विषय में अरस्तू का मत सर्वथा निर्भ्रान्त है —

"जहाँ तक छन्द का प्रश्न है, वीर छद अनुभव की कसौटी पर अपनी उप-युक्तता सिद्ध कर चुका है। यदि अब कोई, किसी अन्य छन्द में या अनेक छन्दों में समाख्यानात्मक काव्य लिखे, तो वह असगत होगा। वृत्तो में वीर-वृत्त सबसे

अधिक भव्य एव गरिमामय होता है, अप्रचलित एव लाक्षणिक शब्द उसमें बडी सरलता से रम जाते है। अनुकरण का समाख्यानात्मक रूप इस दृष्टि से अपनी अलग विशिष्टता रखता है। दूसरी ओर, द्विमात्रिक और गुरु-लघु-द्विवर्णिक चतुष्पद वृत्तो में हृदय को आन्दोलित करने की क्षमता होती है—पहला कार्य-व्यापार का व्यजक है, दूसरा नृत्य के अनुरूप है। खैरेमोन की तरह कई वृत्तो का मिश्रण कर देना तो इससे भी अधिक अयुक्त है। इसीलिए किसी ने भी वृहद् काव्य की रचना वीर-छद के अतिरिक्त अन्य छन्द में नही की। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, (वस्तु की) प्रकृति ही स्वानुरूप छन्द का चयन करा लेती है।" (पृ० ६४)।

अर्थात्—(१) महाकाव्य में केवल एक ही छद का प्रयोग आरम्भ से अन्त तक होना चाहिए, क्योकि इससे समाख्यान के अविच्छिन्न प्रवाह की रक्षा होती है। अनेक छन्दो का मिश्रण इस प्रवाह को खण्डित कर देता है जिससे महाकाव्य की गरिमा की हानि होती है।

(२) वृत्तो में षट्पद वीरवृत्त सबसे अधिक भव्य एव गरिमामय होता है, अत काव्य के सबसे अधिक भव्य और गरिमामय रूप—महाकाव्य—के लिए वही सर्वाधिक उपयुक्त है। उसकी लय इतनी भव्य और उदात्त होती है कि असाधारण शब्द उसमें सहज ही रम जाते हैं। द्विमात्रिक आदि अन्य छन्द अभिनय आदि के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त है, परन्तु वीर-काव्योचित गरिमा उनमें नही है।

(३) वृत्त का चयन किसी शास्त्रीय नियम के अनुसार, प्रयत्नपूर्वक नही किया जाता, काव्य-वस्तु की प्रकृति ही स्वानुरूप छद का चयन करा लेती है।

छन्द के विषय में भारतीय मत और अरस्तू के मत में स्पष्ट अन्तर है। अरस्तू जहाँ विविध छद-प्रयोग को महाकाव्य के अनुपयुक्त मानते है, वहाँ दडी और विश्वनाथ दोनो ने अनेक वृत्तो की शुभाशसा की है एक वृत्त का प्रयोग उन्होने केवल एक सर्ग के लिए ही आवश्यक माना है—और कही-कही एक सर्ग के लिए भी नही —

दण्डी— सर्गैरनतिविस्तीर्णै· श्रव्यवृत्तै सुसन्धिभि ।

अर्थात्—मधुर छन्दो में रचित अनतिविस्तीर्ण सर्गो से युक्त ...।

विश्वनाथ— एकवृत्तमयै पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकै

* * *

नानावृत्तमय क्वापि सर्ग कश्चन दृश्यते ।

अर्थात्—सर्ग में एक वृत्त में रचित पद्य रहते हैं और अन्त में वृत्त बदल जाता है। . कही-कही एक सर्ग में भी नाना वृत्त होते हैं।

इन दोनो विभिन्न मतो में अरस्तू का मत ही अधिक मान्य है। भारत के प्राचीन महाकाव्यो में भी एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है और वास्तव में महाकाव्य के सिन्धु-प्रवाह के लिए वही उचित है।

महाकाव्य के भेद

"महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार होने चाहिए और हैं, जितने त्रासदी के, अर्थात्—सरल, जटिल, नैतिक और करुण।" (पृ० ६२)। जैसा कि मैंने त्रासदी के प्रसग में कहा है यह वर्ग-विभाजन दोषपूर्ण है, क्योकि इसका आधार एकरूप नही है। अरस्तू को स्वय इसका ज्ञान था—इसीलिए उन्होंने होमर के महाकाव्यो को द्विविधरूप माना है—"ईलिअद सरल भी है और करुण भी, ओद्युस्सेइआ जटिल भी है (क्योकि उसमें अभिज्ञान-दृश्य बराबर आते रहते हैं) और साथ ही नैतिक भी।" (पृ० ६३)

त्रासदी और महाकाव्य की तुलना

त्रासदी और महाकाव्य दोनो काव्य-कला के उत्कृष्ट रूप है। अरस्तू ने बडे मनोयोग से दोनो के साम्य, वैषम्य और अन्त में तारतम्य का विवेचन किया है।

साम्य

१ दोनो काव्यानुकरण के श्रेष्ठ रूप हैं—दोनो की आत्मा प्राय समान है।

२ दोनो के प्रयोजन और प्रभाव भी प्राय समान है, अर्थात्—विरेचन द्वारा मानव-मन का परिष्कार दोनो का प्रयोजन है और तज्जन्य मन शान्ति दोनो का प्रभाव।

३ गीत और दृश्य-विधान के अतिरिक्त दोनो के अग प्राय समान है—केवल अगो के भेद ही नही, वरन् उनके आन्तरिक स्वरूप भी। दोनो के कथानक प्रख्यात और यथार्थ जीवन की अपेक्षा अधिक उदात्त, दोनो के पात्र सामान्य से उच्चतर कोटि के होते है, दोनो में विचार-गरिमा होती है और पदावली भी दोनो की कलात्मक होती है।

किन्तु इन व्यापक समानताओ के साथ ही दोनो काव्य-रूपो में आन्तरिक भेद भी स्पष्ट है।

वैषम्य

१ पहला स्पष्ट भेद शैली का है—त्रासदी की रचना नाट्य-शैली में और महाकाव्य की समाख्यान-शैली में होती है, अत त्रासदी मे गीत और दृश्य-विधान—ये दो अतिरिक्त तत्त्व होते हैं।

२ त्रासदी में द्विमात्रिक वृत्त तथा अन्य कई छदो का प्रयोग होता है, किन्तु महाकाव्य में केवल एक—षट्पद वीरवृत्त का ही निरन्तर प्रयोग रहता है।

३ तीसरा भेद है आकार का—"त्रासदी की अपेक्षा महाकाव्य में सीमा-विस्तार करने की कही अधिक क्षमता होती है।" "त्रासदी में (जहाँ) हम एक ही समय में प्रवाहित कार्य की अनेक धाराओ का अनुकरण नही कर सकते (क्योकि) हमें मच पर निष्पादित कार्य और अभिनेताओ के क्रिया-कलाप तक ही अपने आप को सीमित रखना पड़ता है, (वहाँ) महाकाव्य में उसके समाख्यानात्मक रूप के कारण एक ही समय घटित होने वाली अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।" (पृ० ६३) "त्रासदी को यथासम्भव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार में काल की सीमा का कोई बन्धन नही है।" (पृ० १८)

तारतम्य

अरस्तू ने काव्य-शास्त्र के कई स्थलो पर त्रासदी और महाकाव्य के कलात्मक तारतम्य का विवेचन किया है। उन्होने यद्यपि महाकाव्य के महत्त्व की भी उपेक्षा नही की, फिर भी उनका निर्णय त्रासदी के पक्ष में ही है।

महाकाव्य के पक्ष में तीन बाते हैं, १—विस्तार, २—वैविध्य और ३—प्रभाव-गरिमा। देश-काल के बन्धन से मुक्त होने के कारण महाकाव्य की परिधि मे जीवन का अपार विस्तार समा जाता है—यह विस्तार अपने आप में एक महान् उपलब्धि है। इसी प्रकार वैविध्य के लिए महाकाव्य में कही अधिक अवकाश है। त्रासदी में घटना-ऐक्य का इतनी कठोरता के साथ पालन किया जाता है कि विविधता के लिए वहाँ कोई स्थान ही नही रहता, परन्तु महाकाव्य के विस्तार मे उपाख्यानो की विविधता और विचित्रता पर कोई प्रतिबन्ध नही है। इसीलिए महाकाव्य में अतिप्राकृत वर्णनो तथा उन पर आश्रित अद्भुत तत्त्व का सरलता से समावेश हो सकता है, और इस प्रकार रोचकता और विस्मय के आह्लाद के लिए उसमें अधिक अवकाश है। अन्त में, विस्तार और वैविध्य के फलस्वरूप महाकाव्य को एक प्रकार की प्रभाव-गरिमा प्राप्त हो जाती है जो त्रासदी में, कम-से-कम इस रूप में, उपलब्ध नही होती।

त्रासदी का पक्ष और भी प्रबल है, १ "उसमे महाकाव्य के सभी तत्त्व विद्यमान रहते है—उसके छन्द तक का प्रयोग त्रासदी में हो सकता है।" २. "उधर सगीत और रग-प्रभाव उसके अपने अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व

है जिससे सर्वाधिक प्रत्यक्ष आनन्द की सृष्टि होती है।" ३ "पाठ और अभिनय दोनो मे ही उसका प्रभाव बडा विशद होता है।" ४ "महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी की अन्विति अधिक दृढ होती है, क्योंकि विस्तार में अन्विति की कुछ-न-कुछ हानि अवश्यम्भावी है।" ५ "महाकाव्य के विस्तृत काल-पट पर बिखरे हुए तरल प्रभाव की अपेक्षा त्रासदी का सुसहित सघन प्रभाव अधिक आह्लादकारी होता है।" ६ "महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी कला के रूप में अपने लक्ष्य की पूर्ति—अर्थात् विशिष्ट कलागत आनन्द की सृष्टि—अधिक सफलता से करती है ; अत महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी उत्कृष्ट कला है।"

विवेचन

अरस्तू की यह स्थापना मतभेद से मुक्त नही है। यूरोप के परवर्ती काव्य-शास्त्र में इस विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है। यद्यपि त्रासदी के समर्थको की सख्या ही अधिक रही है, फिर भी महाकाव्य का पक्ष भी दुर्बल नही रहा—उदाहरण के लिए, पुनर्जागरण-काल में त्रासदी के प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा महाकाव्य के उदात्त प्रभाव को अधिक महत्त्व दिया गया। इधर वर्तमान आलोचको में डा० रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के प्रकाश में अत्यन्त निभ्रन्ति शब्दो मे त्रासदी की श्रेष्ठता सिद्ध की है। उनके तर्क का साराश इस प्रकार है—कला की सिद्धि है अन्तर्वृत्तियो का सामजस्य। कला-मूल्यो का निर्धारण इसी की न्यूनाधिक मात्रा पर आधारित रहता है, अर्थात्—जो कला-रूप हमारी अन्तर्वृत्तियो में जितना अधिक सामजस्य स्थापित करता है उतना ही अधिक वह मूल्यवान है। इस कसौटी पर त्रासदी सबसे खरी उतरती है क्योकि वह दो सर्वथा विपरीत अन्तर्वृत्तियो को—करुणा को जो आकर्पित करती है और त्रास को जो विकर्पित करता है—समजित करती है। यह समजन सबसे अधिक दुष्कर, और सिद्ध होने पर सबसे अधिक पूर्ण एव मूल्यवान् होता है, अत त्रासदी काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है। इधर भारतीय काव्य-शास्त्र में भी आरम्भ से ही नाटक के प्रति पक्षपात व्यक्त किया गया है। आद्याचार्य भरत का स्पष्ट मत है —

न तत् ज्ञानं, न तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

(नाट्य-शास्त्र १।११७)

उधर आठवी शती के लगभग आचार्य वामन ने अधिक तार्किक रीति से इस पूर्व प्रचलित मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है :—

"संदर्भेषु दशरूपकं श्रेय.। १,३,३०

कस्मात् तदाह—तद्धि चित्र चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्" । १,३,३१
अर्थात्—"प्रबन्ध-काव्यो में नाटकादि दशरूपक श्रेष्ठ होते है।

ऐसा क्यो है, यह बताते हैं—वह अर्थात् ये नाटकादि चित्रपट के समान समस्त विशेषताओ अर्थात् दृश्य-विधान, गीत आदि रग-प्रसाधनो से युक्त होने के कारण चित्ररूप (आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक) होते हैं।"

यह मत अन्त तक मान्य रहा और 'काव्येपु नाटक रम्यम्' की ध्वनि भारतीय काव्य-शास्त्र में निरन्तर गूजती रही। इसका कारण स्पष्ट था। हमारे यहाँ काव्य की आत्मा रस मानी गई है और रस का मूल सम्वन्ध नाटक से ही रहा है, क्योकि विभाव, अनुभाव की जितनी प्रत्यक्ष प्रस्तुति नाटक में सम्भव है उतनी श्रव्य-काव्य में नही हो सकती, अत रस के सम्वन्ध से नाटक की श्रेष्ठता भारत में अन्त तक अक्षुण्ण रही।

इन समस्त आप्त वाक्यो और इनमें निहित तर्कों को हृद्गत करने पर भी मेरा मन इस विषय में आश्वस्त नही होता। अरस्तू और वामन आदि का यह तर्क तो अत्यन्त स्थूल है कि त्रासदी (नाटक) में सगीत और रग-प्रभाव—ये दो अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व है। इनका अपना प्रभाव है और नाटक की प्रभाव-वृद्धि भी इनके द्वारा निश्चय ही होती है, परन्तु जैसा कि अरस्तू ने कहा है—ये केवल बाह्य प्रसाधन है, काव्य के अतरग तत्त्व नही हैं, अत इनकी दुहाई देना उचित नही है—अनुभव प्रमाण है कि कभी-कभी इनसे काव्य-रस की हानि भी हो जाती है। अभी गत वर्ष दिल्ली में सगीत-नाटक-एकादेमी द्वारा आयोजित नाट्य-पर्व में मराठी रगमच का सगीत अभिज्ञानशाकुन्तलम् के रस-मर्मज्ञो को निश्चित रूप से अरुचिकर प्रतीत हुआ था। वास्तव में, काव्य के विभिन्न रूपो का तारतम्य निर्धारित करना बडा कठिन है—काव्य के विभिन्न रूप तो माध्यम मात्र हैं, लक्ष्य तो आनन्द ही है। स्थूलत काव्य के तीन प्रतिनिधि रूप है—प्रगीत, नाटक और महाकाव्य। इन तीनो का मूल प्रभाव तो एक ही है—आनन्द। आनन्द के आस्वाद में तो भेद नही हो सकता, किन्तु उसकी मात्रा और स्थायित्व में अन्तर अवश्य हो सकता है और उसी के आधार पर काव्य-रूपो के तारतम्य का निर्धारण करने का प्रयत्न किया जा सकता है। इस दृष्टि से त्रासदी और महाकाव्य का भेद सघन-तीव्र आनन्द और स्थायी-उदात्त आनन्द का भेद है। इन दोनो में से एक का चयन रुचि-सापेक्ष्य हो सकता है, किन्तु हम अपना मत-दान निश्चय ही स्थायी-उदात्त आनन्द और उसके माध्यम महाकाव्य के पक्ष में ही करेंगे। भारतीय काव्य-शास्त्र में चतुर्वर्गफलप्राप्ति और अतश्चमत्कार का वितान

काव्य के ये दो चरम प्रयोजन माने गये हैं—और इनमें भी अन्तश्चमत्कार को अधिक काम्य माना गया है। अन्तश्चमत्कार और चतुर्वर्ग का यह प्रतिद्वन्द्व अपने मूर्तरूप में नाटक और महाकाव्य का प्रतिद्वन्द्व है—और इसी को प्रमाण मान कर भारतीय मत नाटक के पक्ष में रहा है, परन्तु क्या महाकाव्य में इन दोनो की युगपद् सिद्धि के लिए अधिक अवकाश नही है ? उसका अन्तश्चमत्कार उतना तीखा न सही ; किन्तु कहीं अधिक प्रचुर और स्थायी है। इसी प्रकार रिचर्ड्स का तर्क भी महाकाव्य के प्रतिकूल नही पड़ता, क्योंकि त्रासदी जहाँ केवल दो विपरीत वृत्तियों का समजन करती है वहाँ महाकाव्य मानव-मन की समस्त सम-विषम वृत्तियो को समजित करता है, अत महाकाव्य द्वारा स्थापित सामजस्य ही अधिक पूर्ण और स्थायी हो सकता है।

काव्य-भाषा और शैली

अरस्तू ने काव्य-भाषा और शैली का विवेचन अपने दो ग्रथो—'काव्य-शास्त्र' और 'भाषण-शास्त्र' में किया है। भाषा से अभिप्राय है 'शब्दो द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति'। भाषा के तीन पक्ष हैं—एक का सम्बन्ध उच्चारण से है, दूसरे का व्याकरण से और तीसरे का भाव की अभिव्यजना से। अरस्तू ने उच्चारण-पक्ष का विवेचन नही किया—वह भाषण-कला और भाषण का अग है। शेष दोनो पक्षो का—व्याकरण और अभिव्यजना का—उन्होने सक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है।

व्याकरण की दृष्टि से भाषा के अग है—वर्ण, मात्रा, सयोजक शब्द, सज्ञा, क्रिया, विभक्ति या कारक, वाक्य अथवा पदोच्चय।

'वर्ण उस अविभाज्य ध्वनि का नाम है जो किसी सार्थक ध्वनि-समूह का अग बन सके।' 'मात्रा स्पर्श और स्वर से मिलकर बनी हुई अर्थहीन ध्वनि है।' वर्ण और मात्रा का विवेचन पिगल-शास्त्र के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार सयोजक शब्द, सज्ञा, क्रिया, पदोच्चय अथवा वाक्य का सम्बन्ध व्याकरण-शास्त्र से है।

काव्य-भाषा

काव्य-शास्त्र की परिधि में मूलत भाषा का केवल एक ही पक्ष आता है—अभिव्यजना-पक्ष। भाषा का यही रूप काव्य-भाषा नाम से अभिहित किया जाता है। अरस्तू के मत से काव्य-भाषा और सामान्य भाषा मे स्पष्ट भेद है। उन्होने कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भी निश्चित अन्तर माना है—"गद्य की भाषा कविता की भाषा से भिन्न है।"[1] "काव्य-भाषा में भाषा-शिल्प का प्रयोग होता है, उसमें ललित कल्पना की क्रीडा होती है जो श्रोता के मन का अनुरजन करती है। इस प्रकार की भाषा का अपना वास्तविक किन्तु सीमित महत्त्व है।"[2]

काव्य-भाषा का सामान्य भाषा से प्रमुख भेद यही है कि उसमें असाधारण प्रयोग होते है। सबसे पहले शब्दो को ही लीजिए।

१—'भाषण-शास्त्र' भाग ३, अध्याय १, १४०४ ए ।२८, बेसिक वर्क्स ऑफ एरिस्टोटिल, पृ० १४३६

२—वही।

शब्दों के प्रकार—अरस्तू के अनुसार शब्द छह प्रकार के होते हैं :—

"शब्द या तो (१) प्रचलित होता है, या (२) अपरिचित अथवा (३) लाक्षणिक, (४) आलंकारिक, (५) नवनिर्मित, (६) व्याकुंचित, संकुचित या परिवर्तित।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ५५)।

(१) "प्रचलित अथवा प्रामाणिक शब्द वह है जो किसी प्रदेश में सामान्यत प्रयुक्त किया जाता हो, अपरिचित शब्द वह जो किसी अन्य देश मे प्रयुक्त होता हो।" इसका अभिप्राय यह है कि अपरिचितता एक सापेक्षिक गुण है—"एक ही शब्द एक साथ प्रचलित और अपरिचित दोनो प्रकार का होता है, किन्तु एक ही प्रदेश के निवासियो के लिए नही।"

अरस्तू का लक्षणा-विवेचन

(३) लाक्षणिक शब्द—'लक्षणा (उपचार) किसी वस्तु पर इतर संज्ञा का आरोप है, जो जाति (सामान्य) से प्रजाति (भेद), प्रजाति से जाति, प्रजाति से प्रजाति पर, या साम्य अर्थात् समानुपात के आधार पर हो सकता है।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ५५)

ये प्रयोग निश्चय ही भारतीय काव्य-शास्त्र की लक्षणा वृत्ति के अन्तर्गत आते है। अरस्तू ने इस प्रसंग मे आरोप शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है, अत यहाँ केवल सारोपा लक्षणा का भ्रम नही होना चाहिए—अरस्तू के उदाहरणो से स्पष्ट है कि उनका आशय व्यापक ही है। लक्षणा उस शक्ति का नाम है जिसके द्वारा मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन के कारण मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित होता है। अर्थात्—लक्षणा की सिद्धि के लिए तीन बाते आवश्यक है—(१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध और (३) रूढि अथवा प्रयोजन-रूप कारण। अरस्तू भी लगभग यही कहना चाहते है। प्रचलित अर्थ से इतर अर्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ का बाध स्वभावत निहित है। 'जाति से प्रजाति, प्रजाति से जाति' आदि से उनका तात्पर्य 'सम्बन्ध' का ही है, वे यही कहना चाहते है कि लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए अन्यथा उसका आरोप अनर्गल और चमत्कारहीन हो जायेगा। इस प्रकार पहले दोनो उपबन्धो की व्यवस्था अरस्तू ने भी की है। भारतीय आचार्य एक पग और आगे बढकर लाक्षणिक प्रयोग के कारण का भी स्पष्टीकरण कर देता है जो अरस्तू ने नही किया।

अब भेदो को लीजिए

१ **जाति का प्रजाति पर आरोप**—'मेरा जहाज वहाँ खडा है।' इस वाक्य में 'खडा है' का प्रयोग लाक्षणिक है क्योकि जहाज साधारण रूप में खडा नही हो सकता—वह तो लगर डालता है। किन्तु 'लगर डालना' 'खडा होने' का ही एक भेद है, अर्थात्—'खडा होना' जाति है और 'लगर डालना' उसकी एक प्रजाति है। अत यहाँ जाति का प्रजाति पर आरोप है—विशेष के लिए सामान्य का प्रयोग है।

—भारतीय मत के अनुसार 'लगर डालने' के स्थान पर 'खडा होने' का प्रयोग रूढि-लक्षणा के अन्तर्गत आयेगा, क्योकि इस अर्थ में यह प्रयोग रूढि के कारण ही होता है, किसी प्रयोजन-विशेष से नही। दोनो क्रियाओ मे तात्कर्म्य सम्बन्ध है, इसलिए शुद्धा लक्षणा भी है। और अन्त में यहाँ स्व अर्थ का उपादान (ग्रहण) भी है, क्योकि लगर डालने में खडे होने की स्थिति रहनी है, अत यह उपादान लक्षणा भी है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रयोग में भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार रूढि-लक्षणा का शुद्धा-उपादान भेद सिद्ध होता है।

२ **प्रजाति का जाति पर आरोप**—'ओद्युस्सेउस ने सहस्रो सत्कृत्य किए।' यहाँ सहस्रो का विशेष-सख्या-वाचक मुख्यार्थ बाधित है—लक्षणा से इसका अर्थ होता है अनेक। अरस्तू के अनुसार अनेक जाति है और सहस्रो उसकी प्रजाति (उपभेद) है, अत यहाँ प्रजाति का जाति पर आरोप है। —यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है, क्योकि अनेक के लिए सहस्रो का प्रयोग रूढि मात्र नही है—उसका एक विशेष प्रयोजन है सख्या की अत्यधिक विपुलता का द्योतन। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-सम्बन्ध नही है, वरन् अगागि-सम्बन्ध है ; अत यह प्रयोजनवती लक्षणा शुद्धा भी है।

३. **प्रजाति का प्रजाति पर आरोप**—'लोहे की तलवार द्वारा प्राण खीच लिए और कठोर लोहे के जहाज से पानी चीर डाला।' 'खीच लेना' शब्द 'चीरने' और 'चीरना' 'खीच लेने' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है—ये दोनो क्रियाएँ 'अपहरण' के ही दो उपभेद हैं।' (काव्य-शास्त्र, पृ० ५५)

उपर्युक्त विवेचन कुछ विचित्र-सा है। दो विभिन्न वाक्यो में प्रयुक्त होने के कारण इनका परस्पर आरोप नही माना जा सकता। 'अपहरण' के अर्थ में 'खीचना' और 'चीरना' का पृथक्-पृथक् प्रयोग 'जाति का प्रजाति पर आरोप' नामक प्रथम भेद के अन्तर्गत आता है, परन्तु इनका एक दूसरे पर आरोप किस प्रकार है, यह स्पष्ट नही है।

४ साम्य के आधार पर एक (मुख्य) अर्थ पर इतर (लक्ष्य) अर्थ का आरोप—यह तब होता है 'जब दूसरे शब्द से पहले का वही सम्बन्ध हो जो चौथे का तीसरे से। तब हम दूसरे के लिए चौथे का, चौथे के लिए दूसरे शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। मान लीजिए चषक (प्याले) का दिओन्युसस के लिए वही महत्त्व है जो ढाल का आरेस के लिए, तो हम प्याले को 'दिओन्युसस की ढाल' और ढाल को 'आरेस का प्याला' कह सकते हैं। एक और दृष्टान्त लीजिए—वार्धक्य का जीवन में वही स्थान है जो दिन में सन्ध्या का, अत हम सन्ध्या को दिन का वार्धक्य और वार्धक्य को जीवन का सन्ध्याकाल या ऐम्पैदोक्लेस के शब्दो में 'जीवन का सूर्यास्त' कह सकते हैं।" (पृ० ५६)

काव्य की दृष्टि से वास्तव में लक्षणा का यह रूप सबसे अधिक आकर्षक है। यूरोप के काव्य में इसका अपूर्व वैभव मिलता है। हमारे यहाँ यह साध्यवसाना गौणी लक्षणा के अन्तर्गत आता है, क्योकि इसमें केवल आरोप्यमाण का ही उल्लेख है—आरोपण के विषय का अध्यवसान है। वार्धक्य और सन्ध्या या सूर्यास्त में साधर्म्य होने के कारण यह लक्षणा गौणी है।

प्याले के लिए 'दिओन्युसस की ढाल' और ढाल के लिए 'आरेस का प्याला' के प्रयोग भी इसी प्रकार के है। हिन्दी में चर्खे के लिए 'गाधी का सुदर्शन-चक्र' प्रयोग साध्यवसाना लक्षणा के बल पर ही होता है।

५. अन्य लाक्षणिक प्रयोग—"कभी-कभी ऐसा होता है कि साम्य-स्थापना में प्रयुक्त किसी शब्द के अनुरूप दूसरा सापेक्ष शब्द विद्यमान नहीं होता, फिर भी लक्षणा का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—बीज फैलाने के लिए वपन शब्द का प्रयोग होता है, पर सूर्य द्वारा किरणें फैलाने की क्रिया का वाचक कोई शब्द नही है। तब भी इस क्रिया का सूर्य (किरण) से वही सम्बन्ध है जो वपन का बीज से। तभी कवि की उक्ति है 'दैवी आलोक का वपन करता हुआ'।" (पृ० ५६) यहाँ हमारे मत से साकर्म्य-निबन्धना शुद्धा लक्षण-लक्षणा है। 'वपन करने' और 'फैलाने में' साकर्म्य सम्बन्ध है, अत यह साकर्म्य-निबन्धना शुद्धा लक्षणा हुई—और 'वपन' के स्वार्थ का त्याग होने से लक्षण-लक्षणा।

अरस्तू ने उपलब्ध काव्य-भाषा का विश्लेषण करते हुए अनुगम-विधि से लक्षणा या उपचार का उपर्युक्त विवेचन किया है। विवेचक की अन्तर्दृष्टि का साक्षी होने पर भी यह विवेचन अपूर्ण ही है और भारतीय

के लक्षणा-सम्बन्धी विवेचन की तुलना में अत्यन्त अव्यवस्थित एव अवैज्ञानिक है, इसमें सन्देह नही।

शब्दो के अन्य प्रकार—(४) शब्दो का चौथा प्रकार है आलकारिक शब्द। काव्य-शास्त्र का यह अश त्रुटित है, अतएव अरस्तू के शब्दो में इसकी व्याख्या करना सम्भव नही है।

(५) 'नवनिर्मित शब्द वह है जिसका स्थानीय प्रयोग भी न रहा हो पर जो कवि का अपना प्रयोग हो, जैसे सीगो के लिए 'अकुर' और पुरोहित के लिए 'प्रार्थी'। वस्तुत ये शब्द भी (सादृश्य या साकर्म्य-सम्बन्ध पर आश्रित) लाक्षणिक प्रयोग ही है। अरस्तू ने इन्हे नवनिर्मित इसलिए कहा है कि कवि-विशेष के प्रयोग से पूर्व इनका इस अर्थ में प्रयोग नही मिलता। रोमानी काव्य-भाषा में और नयी प्रभाववादी कविता मे इस प्रकार के प्रयोगो का बाहुल्य मिलता है। हिन्दी में निराला की काव्य-शैली की यह प्रमुख विशेषता है और इधर प्रयोगवादी कविता में भी शब्द मे 'नया और अधिक अर्थ भर' कर कवि इस प्रकार के शब्दो का निर्माण कर रहे है। इस प्रकार के शब्दो के कुछ हिन्दी-उदाहरण लीजिए —

'**भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ताकण**।'—यहाँ 'भावित' का अर्थ है 'भाव-द्रवित'। '**तमस्तूर्य दिङ्मण्डल**।' (निराला)

(६) (क) व्याकुचित शब्द—शब्द का व्याकोच तब होता है जब उसके अपने स्वर का किसी दीर्घ स्वर से परिवर्तन कर दिया जाए, या कोई मात्रा बीच में बढा दी जाय। जैसे यूनानी भाषा में 'पेलेॅइदू' के लिए 'पेलेइअदेओ', अथवा हिन्दी में 'सूत्रधार' के लिए 'सूत्राधार' (अखिल विश्व के सूत्राधार)। 'वीणापाणि' के लिए 'वीणापाणिऽऽ'—(पत)। शब्द का व्याकोच प्राय छन्द या लय के आग्रह से ही होता है कालिदास को भी 'त्र्यबक' का 'त्रयबक' करना पड गया था।

(ख) सकुचित शब्द—शब्द का सकोच तब होता है जब उसका अपना कोई अश हटा दिया जाए। जैसे यूनानी भाषा में 'क्रीथे' के लिए 'क्री', 'ओप्सिस' के स्थान पर 'ओप्स', हिन्दी में 'प्रिय' के स्थान पर 'प्रि', 'आह्लाद' के लिए 'ह्लाद'—(पत)।

(ग) परिवर्तित शब्द वह है, जिसमें सामान्य रूप का कुछ अश तो ज्यो-का-त्यो रहे और कुछ अश का नवनिर्माण किया जाय। हिन्दी में ब्रज-

भाषा के कवियो ने तुक और छन्द-लय आदि की पूर्ति के लिए प्राय इस प्रकार का शब्द-निर्माण किया है।

अरस्तू एक विशेष सीमा के भीतर इस प्रकार के प्रयोगो को दोष न मानकर काव्य-भाषा की असाधारणता का एक उपयोगी साधन मानते है। और, वास्तव में यह ठीक ही है, इनसे भाषा का स्तर ऊँचा उठता है।

शब्दो के ये ही छह प्रकार है। अरस्तू के मत से "इन सभी तत्त्वो का थोडा-बहुत समावेश शैली के उत्कर्ष के लिए आवश्यक है, क्योकि अपरिचित (या अप्रयुक्त) शब्द और औपचारिक (लाक्षणिक), आलकारिक तथा उपर्युक्त अन्य प्रकार के शब्द उसे साधारण एव क्षुद्र धरातल से ऊपर उठा लेंगे और उधर उपयुक्त (प्रचलित) शब्दो के प्रयोग से उसमें प्रसाद-गुण का सन्निवेश हो जाएगा।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ५८)। इस प्रकार अरस्तू की आदर्श काव्य-भाषा की, 'जो प्रसन्न हो, किन्तु क्षुद्र न हो', सिद्धि हो जाएगी।

काव्य-शैली

अपने समय के दार्शनिको की भाँति अरस्तू ने भी एक स्थान पर शैली को एक ग्राम्य (स्थूल तथा अनुदात्त)[१] विषय माना है, परन्तु अन्यत्र विवेचन के समय उन्होने शैली के महत्त्व को असदिग्ध शब्दो में स्वीकार किया है—"अब हम शैली का विवेचन करते है क्योकि केवल वर्ण्य विषय पर अधिकार होना पर्याप्त नही है, किन्तु यह आवश्यक है कि हम उसको उचित रीति से प्रस्तुत करें, और इससे वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है।"

"जहाँ तक विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता का प्रश्न है, अपने मन्तव्य को एक प्रकार से अथवा दूसरे प्रकार मे अभिव्यक्त करने से बड़ा अन्तर पड जाता है।"[२]

अरस्तू गद्य और पद्य की शैली मे स्पष्ट भेद करते है—"कविता तथा गद्य-साहित्य की शैलियाँ भिन्न है।"[३]

शैली के गुण

अरस्तू के अनुसार शैली के दो मूल गुण है—स्पष्टता (प्रसाद) और

१—दे० लोनाई क्रिटीकाई, पृ० २३

२, ३—भाषण-शास्त्र, पुस्तक ३–१ (दी वेसिक वर्क्स ऑफ एरिस्टॉटिल, पृ० १४३५–३६)

औचित्य। शैली का गुण यह है कि वह स्पष्ट हो (इसका प्रमाण यह कि जब तक शैली भाव को स्पष्ट नही करती, तब तक वह अपने उद्देश्य में सफल नही होती) और उसका स्तर न तो निम्न हो और न विषय की गरिमा से ऊँचा ही हो वरन् सर्वथा विषयोचित हो।

प्रसाद—"स्पष्टता का समावेश ऐसी सज्ञाओ और क्रियाओ के प्रयोग पर निर्भर है जो सामान्य प्रयोग में आती है।"[1]

एक और प्रसग में उन्होने चार बातो को शैली की स्पष्टता का आधार माना है—१ पढने और समझने में सौकर्य, २ यति, विराम आदि की असंदिग्ध स्थिति तथा अनावश्यक पर्यायोक्तियो का अभाव, ३ मिश्र तथा द्वि-अर्थक अभिव्यजना का अभाव, ४ अवान्तर वाक्य-खण्डो का अनधिक प्रयोग।[2]

गरिमा (औदार्य) तथा औचित्य—"सामान्य प्रयोगो से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है, क्योकि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियो से अथवा नागरिको से। इसलिए आप अपनी पद-रचना को विदेशी रग दीजिए, क्योकि मनुष्य असाधारण की प्रशसा करता है और जो प्रशसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है।"[3]

निम्नलिखित तत्त्व शैली को गरिमा प्रदान करते हैं —"नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग, यदि विषय-वर्णन में किसी प्रकार का सकोच हो तो लक्षण में सकोच का कारण होने पर नाम का प्रयोग और नाम के सकोचजनक होने पर लक्षण का प्रयोग, अलकार (रूपक) तथा विशेषण का प्रयोग, एक-वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग।[4]

उपर्युक्त विवेचन भारतीय रीति-सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है। असाधारण शब्द-प्रयोग भारतीय रीतिकारो का शब्द-गुण 'कान्ति' है, वामन के शब्द-गुण कान्ति में साधारण शब्दो का परिहार रहता है और उनके स्थान पर उज्ज्वल, कातिमय शब्दो का प्रयोग रहता है। इसी प्रकार सकोच-निवारण के लिए नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग अथवा लक्षण के स्थान पर नाम का प्रयोग वामन के अर्थ-गुण ओजस् तथा सौकुमार्य की ओर सकेत करता है—अर्थ-

१—लोसाई क्रिटीकाई, पृ० २५—(भाषण-शास्त्र, पुस्तक ३)

२—देखिए भाषण-शास्त्र, पुस्तक ३, अध्याय ५।

३—भाषण-शास्त्र, पुस्तक ३ अध्याय २।

४—भाषण-शास्त्र, पुस्तक ३, अध्याय ६।

गुण ओजस् मे पद के स्थान पर वाक्य और वाक्य के स्थान पर पद का प्रयोग तथा समास-गुण के लिए साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग किया जाता है और अर्थ-गुण सौकुमार्य में अशुभ अर्थ का परिहार करने के लिए पदार्थों से काम लिया जाता है।

किन्तु अरस्तू गरिमा के स्वेच्छाचारी प्रयोग के पक्षपाती नही है, उस पर वे सुरुचि तथा औचित्य का नियन्त्रण अनिवार्य मानते हैं—"किन्तु (गद्य के क्षेत्र में भी काव्य की भाँति) सुरुचि का सिद्धान्त यही है कि विषय के अनुकूल ही भाषा-शैली का स्तर नीचा या ऊँचा रहना चाहिए। इसलिए हमारा यह (विदेशी रग देने का) प्रयत्न लक्षित नही होना चाहिए, यह आभास नही मिलना चाहिए कि हम सचेष्ट होकर वाणी का प्रयोग कर रहे है, वरन् यही प्रतीत होना चाहिए कि हमारी वाणी अथवा शैली सर्वथा स्वाभाविक है।"

"दूसरा गुण है औचित्य। शैली में इस गुण का समावेश उस समय मानना चाहिए जब वह (वक्ता के) भाव तथा व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे और विषय-वस्तु के अनुकूल हो।"[1]

रीति के प्रसग में औचित्य का विवेचन हमारे यहाँ दो रूपो मे हुआ है—एक तो आनन्दवर्धन-प्रतिपादित वक्तृ-औचित्य तथा वस्तु-औचित्य के रूप में, और दूसरे कुन्तक के 'औचित्य' गुण के रूप में। इन दोनो रूपो में ही भारतीय तथा यवन आचार्यों का विवेचन सर्वथा समान है। दोनो ने वक्ता और विषय के औचित्य तथा सुरुचि को शैली का नियामक माना है।

शैली के दोष

शैली के अरस्तू ने चार मुख्य दोष माने हैं—(१) समासो का अधिक प्रयोग, (२) अप्रचलित शब्दो का प्रयोग, (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणो का प्रयोग, (४) दूरारूढ तथा अनुपयुक्त रूपको का प्रयोग।[2]

ये चारो दोष वास्तव में गौडी के असयत रूप के दोष हैं—इनसे रचना में शब्दाडम्बर का समावेश हो जाता है। इनमें अप्रचलित शब्दो का प्रयोग और दीर्घ तथा अनुपयुक्त विशेषणो का प्रयोग वामन के 'अन्यार्थ' (मम्मटादि के 'अप्रयुक्त') तथा 'नेयार्थ' सदृश पदार्थ-दोषो में आ जाते हैं।

१—लोसाई क्रिटीकाई, पृ० २६, २९ (भाषण-शास्त्र, पुस्तक ३, अ० २ और ७)

२—भाषण-शास्त्र, पु० ३, अध्याय ३

दुरारूढ तथा अनुपयुक्त रूपको का प्रयोग भी वामन के 'सदिग्ध', 'अप्रयुक्त' जैसे वाक्यार्थ-दोषो अथवा मम्मटादि के 'कष्टार्थ' आदि दोपो में अन्तर्भूत हो जाता है। अधिक समास-प्रयोग गौडी की विशेपता है जिसका अतिचार निश्चय ही दोष है।

शैली के भेद

अरस्तू ने भी शैली के भेद किये है। उन्होने पहले तो दो मुख्य भेद माने हे १ साहित्य-शैली[1]। २ विवाद-शैली[2]। फिर विवाद-शैली के दो उप-भेद किए है—(क) ससदीय शैली तथा (ख) न्यायालय की शैली। संसदीय शैली वृहत् भित्ति-चित्र-शैली के समान होती है—दोनो में सूक्ष्म अकन के लिए स्थान नही है, वास्तव में सूक्ष्म अकन से उसकी हानि ही होती है। न्यायालय शैली आलकारिक प्रसाधनो पर कम-से-कम निर्भर रहती है—इसमें सम्बद्ध तथा असम्बद्ध का भेद अत्यन्त स्पष्ट रहता है और आडम्बर का सर्वथा अभाव होता है।

इनके अतिरिक्त शैली के मधुर तथा उदात्त आदि भेद करना अना-वश्यक है, क्योकि फिर तो सयत और उदार आदि अनेक भेद और भी हो सकते हैं।[3]

भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन में एक ओर कोमला तथा परुषा वृत्तियो की ओर सकेत है, दूसरी ओर माधुर्य, ओज आदि गुणो पर आश्रित भेदो को अनावश्यक विस्तार माना गया है।

१—लिटरेरी स्टाइल। २—ऐगोनिस्टिक स्टाइल

३—देखिए भाषण-शास्त्र, पु० ३, अ० ११–१२

दोष-विवेचन

दोष का अर्थ—अरस्तू ने कहो दोष की परिभाषा नही की, किन्तु उन्होंने दोष के प्रसग में दो पदो का प्रयोग किया है—(१) विफलता का कारण, (२) अशुद्धता। अत इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि काव्य की विफलता अथवा अशुद्धता के कारण का नाम दोष है अर्थात्—**दोष से अभिप्राय उन तत्त्वों से है जिनके कारण काव्य-कला विफल अथवा अशुद्ध हो जाती है।** यह परिभाषा भारतीय काव्य-शास्त्र के ध्वनि-पूर्व काल की वस्तु-परक दोष-परिभाषा के समान और परवर्ती आचार्यो की आत्मपरक परिभाषा से भिन्न है। उदाहरण के लिए दण्डी के शब्द भी प्राय ये ही हैं, '**दोषा विपत्तये तत्र**', अर्थात्—दोष काव्य में विफलता के कारण होते हैं। इसके विपरीत ध्वनि-उत्तर काल के आत्मवादियो के मत से '**उद्वेगजनको दोष**' (अग्नि-पुराण)—अर्थात् काव्यास्वाद में तत्पर चित्त में जो उद्वेग उत्पन्न करे वह दोष है। यहाँ दोष का सम्बन्ध काव्य-कला से न होकर काव्यास्वाद से है। एक ओर उसका सम्बन्ध मूलत कवि-कर्म से स्थापित किया गया है और दूसरी ओर प्रमाता के आस्वाद से। अन्त में तो दोनो का सम्बन्ध प्रमाता के आस्वाद से ही स्थापित हो जाता है, किन्तु दोनो के दृष्टिकोण में भेद है। इस दृष्टि से अरस्तू की परिभाषा ध्वनि-पूर्व वर्ग मे ही आती है।

दो प्रकार के दोष—"काव्य-कला में दो प्रकार के दोष हो सकते हैं—१—तत्त्वगत, २—सायोगिक" (काव्य-शास्त्र, पृ० ६७)। क्षमता के अभाव में कला (काव्यानुकरण) की विफलता तत्त्वगत दोष है—उससे काव्य-कला के मर्म पर आघात होता है। इस प्रकार के दोष का परिहार संभव नहीं है।[1] प्राविधिक अर्थात् विशिष्ट ज्ञान आदि की अपूर्णता से उत्पन्न त्रुटि सायोगिक दोष है—इसे प्राविधिक दोष भी कह सकते हैं। इस वर्ग के दोषो का परिहार हो सकता है—इनका गुणत्व-साधन भी सम्भव है।[2] हमारे आचार्यों ने तत्त्व-गत दोषो को 'नित्य' और प्राविधिक दोषो का 'अनित्य' कहा है।

१—यदि किसी वस्तु का चयन करके, क्षमता के अभाव में, कवि उसका यथावत् अनुकरण नही कर सका, तो यह काव्य का तत्त्वगत दोष है।

२—किन्तु यदि विफलता का कारण अनुपयुक्त विषय का चयन है—

दोष के आधार—अरस्तू के मत से "आलोचको की आपत्तियाँ पाँच सूत्रों से उद्भूत हो सकती हैं। किन्ही वस्तुओ की अभिशसा यही कहकर हो सकती है कि वे असम्भव है अथवा असगत या नैतिक दृष्टि से अमगलकारी, परस्पर-विरोधी या कलात्मक शुद्धता के प्रतिकूल (काव्य-शिल्प की दृष्टि से सदोप)।" (पृ० ७२)। काव्य-दोषो के ये ही पाँच आधार है—(१) असम्भव वर्णन, (२) असगत वर्णन, (३) अनैतिक एव अमागलिक वर्णन, (४) परस्पर-विरोधी वर्णन, (५) काव्य-शिल्प की दृष्टि से सदोष वर्णन।

इनमें से प्रथम चार का सम्बन्ध वर्ण्य विषय से है और पाँचवें का शैली से। असभव या असम्भाव्य का वर्णन इसलिए दोष है कि पाठक का मन उसको ग्रहण नही कर पाता—प्राकृतिक नियमो के जो प्रतिकूल है, वह मानव-मन को ग्राह्य नही हो सकता। असगत का अर्थ है विवेक अथवा स्वाभाविक कार्य-कारण-विधान के विरुद्ध—परस्पर-विरोधी भी इसी का एक रूप है। यह भी पाठक के मन मे प्रत्यय उत्पन्न नही कर सकता। अनैतिक एव अमागलिक वर्णन मानव-जीवन के आधारभूत मूल्यो का निषेध करने के कारण त्याज्य है। शैली-विषयक दोष मानव-मन में निहित सौन्दर्य-भावना पर आघात करते है, इसलिए त्याज्य है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में दोषो का आरम्भ से ही अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है—ध्वनि-पूर्व काल में उनका रूप प्राय॰ वस्तुगत था, किन्तु ध्वनि की स्थापना के उपरान्त वह बहुत कुछ आत्मगत हो गया। दृष्टिकोण का साम्य होने के कारण अरस्तू के दोषाधार ध्वनि-पूर्व काल के दोष-भेदो से अधिक मिलते हैं। उदाहरण के लिए उनके 'असम्भव वर्णन' और 'असगत वर्णन' को ही भरत ने प्रमाण (तर्क) से रहित 'न्यायादपेत' नामक दोष माना है। अरस्तू का परस्पर-विरोधी वर्णन भामह का 'अर्थहीन' तथा दण्डी और वामन का 'व्यर्थ' दोष है—वामन ने इसे केवल वाक्यार्थगत माना है। 'अनैतिक एव अमागलिक वर्णन' वामन के पदार्थगत 'अश्लील' दोष से थोडा-सा मिलता-जुलता है, जिसके तीन रूप हैं व्रीडादायी, जुगुप्सादायी और अमगलदायी। यहाँ वस्तुत आधारभूत धारणा का ही साम्य है, व्यवहार में वामन का दोष जहाँ केवल पदार्थ तक ही सीमित है वहाँ अरस्तू का उक्त दोष समस्त प्रबन्ध

उदाहरण के लिए मान लीजिए, उसने घोडे को दोनो दाहिने पैर फेंकते हुए दिखाया है, अथवा चिकित्सा या किसी अन्य शास्त्र या कला में प्राविधिक त्रुटियाँ कर दी है, तो यह तत्त्वगत काव्य-दोष नही। (काव्य-शास्त्र, पृ० ६७)

में व्याप्त है—उनका अभिप्राय सारभूत प्रभाव की अनैतिकता तथा अमांगलिकता से ही है। काव्य-शैली के दोषों के अन्तर्गत भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित शब्द-अर्थ के दोष आते हैं। अरस्तू ने इनका विस्तार से विवेचन नहीं किया, परन्तु उनके कतिपय उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि इस वर्ग में शब्द, अर्थ और छन्द के दोष अन्तर्भूत हैं।

दोष का गुणत्व-साधन—अरस्तू ने स्पष्ट कर दिया है कि उपर्युक्त सभी दोष नित्य नहीं हैं—उनमें से अनेक सायोगिक अर्थात् अनित्य हैं, जो अनुकूल कारण उपस्थित हो जाने पर काव्य का उपकार कर सकते हैं। यही भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में दोष का गुणत्व-साधन है। इस प्रकार के दोषों को भोज ने वैशेषिक गुण माना है। अरस्तू के मत से दोष के गुणत्व-साधन के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं —

(१) कला के साध्य की पूर्ति में सहायक होने से, अर्थात्—काव्य के सम्बन्धित या किसी अन्य भाग के प्रभाव-वर्धन में सहायक होने से असम्भव वर्णन न्याय्य माना जा सकता है। अद्भुत रसादि के परिपाक में प्राय ऐसा ही होता है।

(२) आदर्श का समावेश होने से अथवा अनुश्रुति आदि के आधार पर अयथार्थ वर्णन ग्राह्य हो सकता है।

(३) प्रादेशिक प्रथाओं के अनुसरण से अप्रचलित बातें भी मान्य हो सकती हैं, जैसे—ईलिअड के शस्त्र-सम्बन्धी उद्धरण में 'मूठों पर भाले सीधे खड़े थे'। उस समय यही प्रथा थी—अरस्तू के समय में भी एकाध प्रदेश में वह अवशिष्ट थी।

(४) वक्ता, श्रोतव्य, परिस्थिति आदि के विचार से तथाकथित दोष काव्य के उपकारक सिद्ध हो जाते हैं। "इस बात की परीक्षा करने के लिए कि किसी का कृत्य या कथन काव्य की दृष्टि से शुद्ध है या अशुद्ध, हमें केवल उस कृत्य या कथन-विशेष को ही परखना और काव्य-दृष्टि से उसके अच्छे-बुरे होने का विचार नहीं करना चाहिए। हमें यह भी विचार करना चाहिए कि किसने ऐसा किया या कहा? किसके प्रति? कब, किस प्रकार और किस उद्देश्य से? उदाहरण के लिए, हो सकता है, ऐसा किसी महत्तर कल्याण की सिद्धि अथवा अनर्थ के निवारण के लिए किया या कहा गया हो।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ६८)।

इस प्रसंग में भारतीय आचार्य मम्मट ने भी प्राय ये ही शब्द प्रयुक्त किये हैं।

' वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुण ...। ७।८१।

वक्तृ-प्रतिपाद्य-व्यग्य-वाच्य-प्रकरणादीना महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद्गुण....

अर्थात्—वक्ता, वोद्धव्य, रस-भाव, वाच्य और प्रकरणादि की महिमा से उपर्युक्त दोष भी गुण रूप हो जाते हैं। (काव्य-प्रकाश ७।८१।)

(५) श्लेप अथवा द्वि-अर्थक प्रयोगो के द्वारा अप्रयुक्त शव्द का दोप निराकृत हो जाता है। "अन्य कठिनाइयाँ भाषा-प्रयोग का उचित ध्यान रखने से हल हो सकती हैं। अप्रयुक्त शव्द के प्रयोग का दृष्टान्त लीजिए—'मदिरा तेज़ वनाओ' का मतलव 'गाढी तैयार करो' नही—जैसी कि घोर पियक्कडो के लिए की जाती है, वल्कि 'तेजी से तैयार करो' है।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ६९)

मम्मट ने लगभग चौदह शताब्दी बाद सर्वथा भिन्न देश-काल में स्वतत्र चिन्तन के द्वारा यही घोषणा की है। **अप्रयुक्तनिहितार्थौ श्लेषादाववदुष्टौ**। (हिन्दी काव्य-प्रकाश, पृ० २५४) अर्थात्—श्लेषादि वन्ध मे 'अप्रयुक्तत्व' और 'निहितार्थत्व' कोई दोष नही।

(६) कही-कही औपचारिक प्रयोग से भी अर्थ-विरोध आदि दोषो का समाधान हो जाता है, जैसे—'अव रात के समय देव और मानव सभी सो रहे थे' किन्तु साथ ही कवि कहता है—'बहुधा जब वह दृष्टि त्रौइआ (ट्राय) के मैदान की ओर डालता, तब वेणु और वशी की ध्वनि सुनकर चकित रह जाता।'—यहाँ 'सभी' का प्रयोग औपचारिक है—अनेक के अर्थ में। (काव्य-शास्त्र, पृ० ६९)।

हमारे काव्य-शास्त्र में लक्षणा की सार्थकता का आधार ही यही है—उसके द्वारा चमत्कारपूर्ण रीति से मुख्यार्थ के बाध का निराकरण हो जाने से दोष गुण में परिणत हो जाता है।

(७) भाषा की प्रयोग-परम्परा से भी दोष का अपाकरण हो जाता है, जैसे—"कोई भी मिश्रित पेय—'ओइनोस' (मदिरा) कहलाता है। अत गेन्युमेदेस देवस् के लिए मदिरा ढालते कहा गया है, यद्यपि देवता मदिरा-पान नही करते।" (काव्य-शास्त्र, पृ० ७०)

(८) उच्चारण, स्वराघात अथवा विराम-चिह्नो के द्वारा भी दोष-परिहार हो सकता है। सस्कृत काव्य-शास्त्र में 'वक्ता' शब्द के अन्तर्गत यह सब कुछ अन्तर्भूत है। उच्चारण और स्वराघात का तो सीधा सम्बन्ध वक्ता से है ही—विराम-चिह्न भी उसकी वाचन-शैली में निहित रहते हैं।

अरस्तू का रस-विवेचन

आधुनिक आलोचना-शास्त्र के अध्येता को यह शीर्षक थोड़ा विचित्र लग सकता है—रस तो भारतीय काव्य-शास्त्र की कल्पना है, अरस्तू का रस से क्या सम्बन्ध ? परन्तु रस का यहाँ हम शुद्ध शास्त्रीय अर्थ में नही, वरन् सामान्य अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। सामान्यत रस के दो अर्थ है—काव्य का आस्वाद और स्थूल रूप मे काव्य का भाव-विभाव-पक्ष। हमें यहाँ रस के ये ही दो अर्थ अभिप्रेत हैं और इन्ही को आधार मानकर हम अरस्तू के रस-विवेचन की चर्चा कर रहे है।

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित काव्य के आस्वाद का विश्लेषण हम कर चुके हैं, भारतीय रस-कल्पना से उसका कहाँ तक साम्य और वैषम्य है—इसका स्पष्टीकरण भी हो चुका है। दोनो में साम्य यह है कि दोनो ही काव्यास्वाद को आनन्द-रूप मानते हैं, अन्तर यह है कि काव्य की विस्तृत परिधि में तो अरस्तू के आस्वाद में बुद्धि-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है और त्रासदी की सीमित परिधि में भाव-तत्त्व के प्राचुर्य की स्वीकृति होने पर भी काव्य का आनन्द अभावात्मक रह जाता है।

रस के भाव-विभाव-पक्ष का विवेचन अरस्तू ने 'काव्य-शास्त्र' में नही किया, किन्तु 'भाषण-शास्त्र' में श्रोतवर्ग को प्रभावित करने के प्रसग में उन्होने भाव-विभाव का विवेचन किया है। भाषण-शास्त्र, पुस्तक २ में इस विषय का विस्तार से वर्णनात्मक विवेचन मिलता है।

मनोवेग की परिभाषा—"मनोवेगो के अन्तर्गत वे भाव आते है जिनमें मनुष्यो के निर्णयो को प्रभावित करने की क्षमता रहती है और जिनके साथ दुःख या सुख की अनुभूति लगी रहती है।" मनोवेगो के विषय में तीन बातें विचारणीय होती है—

(१) मनोवेग की उद्बुद्धि के समय मन की स्थिति।

(२) वह व्यक्ति या वस्तु जिसके प्रति मनोवेग उद्बुद्ध होता है।

(३) मनोवेग का कारण या आधार।

भारतीय काव्य-शास्त्र मे भाव की परिभाषा नही की गयी है—स्थायी, सचारी आदि की ही परिभाषा की गयी है , परन्तु उपर्युक्त परिभाषा मे स्पष्ट है कि अरस्तू द्वारा वर्णित मनोवेग स्थायी के ही सन्निकट है निर्णयो को प्रभावित करने

की क्षमता प्रवलता और स्थायित्व की सूचक है। मनोवेग के विषय में विचारणीय तीन बातो में से (२) वह व्यक्ति या वस्तु जिसके प्रति मनोवेग उद्‌बुद्ध होता है 'आलम्बन' है, (३) मनोवेग का कारण या आधार 'उद्दीपन' है।

अरस्तू ने मुख्यत इन मनोवेगो का वर्णन किया है—(१) क्रोध, (२) शम (अक्रोध), (३) प्रेयस्, (४) वैर, (५) भय, (६) विश्वास, (अभय), (७) लज्जा, (८) धृष्टता (निर्लज्जता), (९) दया, (१०) निर्दयता, (११) करुणा, (१२) रोष, (१३) ईर्ष्या, (१४) स्पर्धा।

इनमें मे क्रोध और भय स्पष्ट रूप से 'स्थायी भाव' है।

क्रोध—"क्रोध अपने अथवा अपने से सम्बद्ध किसी व्यक्ति या वस्तु के स्पष्ट तिरस्कार से उद्‌बुद्ध प्रतिशोध की प्रवृत्ति का नाम है जिसमें दु ख का मिश्रण रहता है। तिरस्कार का कारण घृणा, द्वेष या औद्धत्य हो सकता है।" (भाषण-शास्त्र, पुस्तक २, अध्याय २)

भारतीय काव्य-शास्त्र में क्रोध रौद्र-रस का स्थायी भाव है—जिसका लक्षण धनजय ने इस प्रकार किया है —

"**क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयै पोषोऽस्य रौद्रोऽनुज ।**
क्षोभ . .॥" (दशरूपक, ४।७४।)

अर्थात्—मत्सर अथवा वैरी के द्वारा किये गये अपकार आदि कारणो (विभावो) से क्रोध उत्पन्न होता है। इसी क्रोध स्थायी भाव का परिपोष रौद्र रस है, जिसका साथी क्षोभ है।" अरस्तू ने तिरस्कार पर अधिक बल दिया है, परन्तु धनजय ने शत्रु-कृत अपकार को क्रोध का कारण माना है जो कदाचित् अधिक व्यापक है। अरस्तू ने क्रोध में दु ख का मिश्रण आवश्यक माना है और धनजय ने क्षोभ को उसका साथी माना है। अरस्तू ने क्रोध को प्रतिशोध की प्रवृत्ति कहा है, यहाँ विश्वनाथ ने इसे प्रतिकूलो के प्रति तीक्ष्ण भाव का अवबोध कहा है **प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोध क्रोध इष्यते** । (साहित्यदर्पण ३।२११)

भय—"भय मन के उस विक्लव का नाम है, जो किसी आसन्न घातक या कष्टप्रद अनिष्ट की उत्कट सम्भावना के कारण उत्पन्न होता है। भय के कारण के लिए कष्टप्रद या घातक होना आवश्यक है, क्योकि अनिष्ट के अन्य प्रकार जैसे दुष्टता या मूर्खता की सम्भावना से हमें भय नही होता।" (भाषण-शास्त्र, पुस्तक २, अध्याय ५)

यह भय हमारे शास्त्र में भयानक रस का स्थायी भाव है—"रौद्रशक्तया तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्। अर्थात् रौद्र शक्ति से उत्पन्न चित्त के विक्लव का नाम भय है।" (साहित्यदर्पण, ३।२११) इसी सूत्र का विस्तार करते हुए काव्य-दर्पणकार प० रामदहिन मिश्र ने लिखा है—हिंसक जीवो का दर्शन, महापराव, प्रवल के साथ विरोव आदि से उत्पन्न हुई मन की विकलता को भय कहते हैं।" पृ० ६६। अपने मूल रूप में नही तो कम-से-कम व्याख्यान रूप में यह लक्षण अरस्तू के लक्षण के निकट पहुँच जाता है।

करुणा और शम (अक्रोध) करुण और शान्त रसो के स्थायी भावो के सन्निकट तो हैं, किन्तु पर्याय नही है। अक्रोध शम का केवल एक रूप मात्र है। इसी प्रकार करुणा और करुण रस के स्थायी भाव शोक में भी पूर्ण साम्य नही है—एक मूलत पर-निष्ठ है और दूसरा स्व-निष्ठ, यद्यपि अन्तत दोनो की चेतना एक हो जाती है—दूसरे के लिए शोक का नाम करुणा है और शोक में भी अपने प्रति करुणा का भाव रहता है। सस्कृत के एक आचार्य रुद्रट ने प्रेयान् (या प्रेयस्) नाम का भी एक स्वतत्र रस माना है—

स्नेहप्रकृति· प्रेयान्... . । १५।१७ ।

और स्नेह की परिभाषा इस प्रकार दी है —

अन्योन्य प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽय मतस्तत्र । (काव्यालंकार, १५।१८)

अर्थात्—एक दूसरे के प्रति सुहृद-भाव का नाम स्नेह है। और यह मनोवृत्ति सर्वथा निर्व्याज होती है,"निर्व्याजमनोवृत्तिः।" अरस्तू का प्रेयस् (सौहार्द) नामक भाव भी ठीक यही है—"सौहार्द का अर्थ है किसी के लिए शुभ कामना करना—अपनी दृष्टि से नही, उसकी दृष्टि से, और यथासम्भव उसकी पूर्ति के लिए उन्मुख होना। सुहृद वह है जिसके मन में इस प्रकार के भाव हो और जिसके प्रति अन्य के मन में भी ये ही भाव हो। ये व्यक्ति, जिनके मन में इस प्रकार के परस्पर भाव हो, मित्र कहलाते है।" (भाषण-शास्त्र, पुस्तक २, अध्याय ४)

शेष प्राय सभी भाव सचारी मात्र है। 'विश्वास' हमारे 'धृति' के अन्तर्गत आ जाता है। 'विश्वास' का आधार है यह भाव कि सरक्षा के उपयुक्त साधन निकट हैं और भय का कारण दूर है। 'धृति' की परिधि अधिक व्यापक है, उसमें एक ओर तत्त्व-ज्ञान, इष्ट-प्राप्ति आदि के कारण इच्छाओ की पूर्ति का समावेश है और दूसरी ओर विपत्ति आदि से चचल-चित्त न होना भी। अरस्तू का 'विश्वास' इस दूसरे पक्ष के अन्तर्गत ही आता है।' 'लज्जा' भारतीय काव्य-शास्त्र के-

'लज्जा' नामक सचारी के व्यापक रूप के निकट है जिसका अर्थ है धृष्टता का अभाव और कारण होता है दुराचार (अशोभन कार्य) आदि **धार्ष्ट्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद्दुराचारात्**। (साहित्यदर्पण ३।१९८) 'लज्जा' का अभाव ही निर्लज्जता है जिसे विश्वनाथ ने 'धार्ष्ट्य' कहा है। '**ईर्ष्या**' और '**स्पर्घा**' भाव हमारे 'असूया' के अन्तर्गत आ जाते है। अरस्तू के अनुसार 'ईर्ष्या' अपने समकक्ष व्यक्तियो के उत्कर्ष से उत्पन्न कटु भाव है—यह हमारी अपनी हानि से नही, वरन् दूसरो के लाभ को देखकर उत्पन्न होती है। (भा० शा० २।१२) यही भारतीय काव्य-शास्त्र की असूया है '**असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता**' (सा० द० ३।२००) अर्थात्—दूसरो के गुण और सम्पदा आदि के प्रति औद्धत्य-जन्य असहिष्णुता का नाम असूया है। 'दया' उस भाव का नाम है जिससे प्रेरित होकर हम दूसरे का उपकार करते है—स्वार्थवश या प्रतिदान की कामना से नही, केवल परहित की दृष्टि से। हमारे यहाँ इस प्रकार के 'दया' भाव का वर्णन वीर-रस के 'दयावीर' भेद के अन्तर्गत किया गया है, दीन-दुखी के कष्ट-निवारण का उत्साह जिसका स्थायी भाव है। निर्दयता इसका विपरीत रूप है। अरस्तू के शेष दो भाव '**वैर**' (घृणा) और '**रोष**', 'क्रोध' और 'अमर्ष' की परिधि में ही आते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि—(१) अरस्तू ने मानव-जीवन के प्राय प्रमुख मनोवेगो को ही ग्रहण किया है। उनकी परिभाषाएँ सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी स्थूल रूप से मनोविज्ञान और काव्य-शास्त्र दोनो के अनुकूल है।

(२) भारतीय काव्य-शास्त्र के भाव-विवेचन की भाँति इयत्ता की दृष्टि से अरस्तू का भाव-विवेचन भी अपूर्ण ही है। उन्होने लगभग सभी भावो के विपरीत रूपो को भी यथावत् मौलिक रूप में ग्रहण किया है, और साथ ही निर्वेद, ग्लानि, गर्व, विषाद, चिन्ता, दैन्य आदि अनेक प्रमुख मनोविकारो को छोड भी दिया है। सचारियो का विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में भी अत्यन्त दोषपूर्ण है। उसमें कतिपय सचारी एक दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाते है और अनेक में मनस्तत्त्व अत्यन्त क्षीण है। अरस्तू का विवेचन इन दोषो से तो मुक्त है, परन्तु है वह भी सर्वथा अपर्याप्त और अपूर्ण।

(३) अरस्तू ने स्थायी और सचारी का भेद नही किया, उनके क्रोध, करुणा, भय आदि भाव जहाँ स्थायी है वहाँ लज्जा, ईर्ष्या आदि शुद्ध सचारी।

(४) प्रत्येक भाव के विवेचन में प्रकारान्तर से अरस्तू ने आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सचारी आदि का भी वर्णन किया है।

(५) अरस्तू ने जिन भावो को ग्रहण किया है, वे वस्तुत श्रोता-समाज के मनोवेग है जिनको उद्‌बुद्ध कर कुशल वक्ता अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। उधर भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित भाव कविनिबद्ध पात्रो के भाव है। परन्तु यह केवल प्रसग-भेद है, मूलवर्ती रूप दोनो के समान हैं।

(६) जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, ये भाव ही काव्य-रस के आधार है, इस विषय मे अरस्तू और भारतीय आचार्य दोनो ही एकमत हैं।

अरस्तू का योगदान—मूल्यांकन

अरस्तू पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आद्याचार्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका स्थान वही है जो भारतीय काव्य-शास्त्र में भरत का। यद्यपि भारत में भरत मुनि से पूर्व कृशाश्व, शिलालि आदि अनेक आचार्य इस क्षेत्र में कार्य कर चुके थे किन्तु काव्य का सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन आज भरत के नाट्य-शास्त्र में ही उपलब्ध है। इसी प्रकार यूरोप में भी अरस्तू से पहले प्रोतगोरस, हिप्पिअस, देमोक्रितुस, अरिस्तोफनेस और प्लेटो (प्लतोन) आदि विद्वान् काव्य के विभिन्न अगो का सैद्धान्तिक विवेचन कर चुके थे परन्तु उनमें से किसी का विवेचन इतना नियमित एव व्यवस्थित नही था कि उसे काव्य-शास्त्र की कोटि में रखा जा सके।—प्लेटो ने यो तो काव्य और कवि के विषय में बहुत-कुछ कहा है, किन्तु इस विषय में उनका दृष्टिकोण निषेधात्मक ही था, अत कतिपय स्थापनाओं को स्वीकार करते हुए भी उन्हे काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य पद पर अधिष्ठित करना अनुचित होगा। यह गौरव केवल अरस्तू को ही प्राप्त है।

ऐतिहासिक महत्त्व के साथ ही अरस्तू के 'काव्य-शास्त्र' का शास्त्रीय महत्त्व भी कम नही है। अरस्तू की मेधा अत्यन्त प्रखर थी—उनकी वस्तुपरक दृष्टि तथ्य पर आश्रित रहने के कारण निभ्रान्त थी। उन्होने यूरोप मे आज से लगभग २४०० वर्ष पूर्व अनुगम-शैली का अवलम्बन कर ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात किया। उनकी विवेचन-पद्धति स्पष्ट और तर्क-सगत है, जो सामान्य विवेक के मार्ग से कभी विचलित नही होती। इस प्रकार अरस्तू को काव्य-दर्शन के प्रवर्तन और उसके आधार पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना के लिए मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय प्राप्त है।

पाश्चात्य सभ्यता के उस प्रभातकाल में कला एव साहित्य पर धर्म-शास्त्र, आचार-शास्त्र और राजनीति आदि का गहरा आतक था। अरस्तू ने नैतिक और राजनीतिक मूल्यो से स्वतत्र कलागत मूल्यो की प्रतिष्ठा कर, काव्य और कला को धर्म और राजनीति की दासता से मुक्त किया। अरस्तू ने निभ्रान्त शब्दो में यह घोषणा की कि जीवन की कल्याण-साधना में बाधक न होकर भी कला मूलत सौन्दर्य की साधना में ही अनुरत रहती है—उसकी सिद्धि आनन्द ही है। काव्य-शास्त्र के इतिहास में उनकी यह स्थापना काव्य और कला की स्वतत्रता का घोषणा-पत्र था।

इसी के अनुसार अरस्तू ने काव्य-सत्य के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन कर काव्य-दर्शन को अत्यन्त दृढ आधार पर प्रतिष्ठित किया। प्लेटो के आक्षेप का उत्तर देते हुए उन्होने यह सिद्ध किया कि काव्य का सत्य तथ्य से भिन्न है, वह हृदय का सत्य है—व्यापक शब्दो में मानव-सत्य है, जो देश-काल की सीमा से मुक्त सार्वभौम है, अत विज्ञान के सत्य से काव्य का सत्य भव्यतर है।

इसी प्रसग में उन्होने अपने पूर्ववर्ती साहित्य में प्रचलित अनुकरण शब्द का मौलिक रीति से अर्थ-विस्तार करते हुए प्रसिद्ध अनुकरण-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसकी अपनी परिसीमा है, किन्तु परिसीमा को स्वीकार करते हुए भी इसकी महत्ता का निषेध नही किया जा सकता। काव्य की वस्तुपरक व्याख्या करने में इसकी उपयोगिता असदिग्ध है, अरस्तू ने इसके द्वारा कवि-कर्म और काव्य-वस्तु के परस्पर सम्बन्ध का अत्यन्त प्रामाणिक व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

विरेचन-सिद्धान्त भी अरस्तू की स्थायी उपलब्धि है। उन्होने अपनी प्रखर मेधा के बल पर मानव-जीवन के उस मनोवैज्ञानिक सत्य के सकेत प्राप्त कर लिये थे जिसके अनुसधान पर आज के मनोविश्लेषण-शास्त्र को अभिमान है। उधर करुण काव्य के आनन्द की विषम समस्या का यह समाधान भी अपने-आप में कम महत्त्वपूर्ण नही है—आज तक यूरोप में न जाने कितने समाधान प्रस्तुत किये गये है, परन्तु इसका तार्किक आधार अभी तक यथावत् दृढ है। आई० ए० रिचर्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचक ने अपने प्रसिद्ध 'अन्तर्वृत्तियो का समन्वय'-सिद्धात द्वारा वास्तव में अरस्तू के अभिमत की ही पुन प्रतिष्ठा की है। हिन्दी के मेधावी आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भारतीय काव्य-शास्त्र में अचल निष्ठा थी, परन्तु उन्हे भी करुण रस के आस्वाद की समस्या का अरस्तू के सिद्धान्त से अधिक पुष्ट उत्तर नही मिला और अन्वत उन्होने रस की परिभाषा ही बदल डाली—'हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।'—यह वस्तुत भारत के साधारणीकरण-सिद्धान्त (मधुमती भूमिका) और अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का समन्वय ही तो है।

अन्त में, अरस्तू की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होने काव्यालोचन को पारिभाषिक जटिलताओ से मुक्त रखा है—न वह दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में उलझती है और न भाषण-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र अथवा छन्द शास्त्र की। इस प्रकार काव्य के आस्वादन और विवेचन मे सामान्य विवेकपुष्ट सहृदयता को ही उन्होने प्रमाण माना है। रूढ शास्त्रीयता के उस युग मे यह बडे साहस का काम था।

इन सब गुणों से मण्डित होने पर भी अरस्तू का काव्य-शास्त्र निर्दोष नही है। सबसे पहले तो उसकी शैली ही दोषपूर्ण है। वह स्थान-स्थान पर उखडी हुई और कही-कही सदिग्ध भी है। एक तो काव्य-शास्त्र की समस्त प्रतियो का पाठ ही खण्डित है और दूसरे यह अरस्तू की व्यवस्थित रचना न होकर अध्यापन-सकेतो का सकलन मात्र है, अतएव इसमें वाछित क्रमबद्धन और अखण्डित विवेचन का अभाव होना स्वाभाविक है। यहाँ तक तो अरस्तू का दोष नही है, किन्तु अनेक प्रसग ऐसे भी हैं जहाँ उनका विवेचन द्वि-अर्थक और सदिग्ध है। वहाँ उनका अपना दोष है—ऐसे प्रसगो मे वे प्राय अपना मत स्थिर नही कर पाये हैं।

काव्य के प्रति उनका दृष्टिकोण कुछ अधिक वस्तुपरक रहा है। काव्य मूलत हृदय का व्यापार है, अत काव्य के आस्वादन के लिए और विवेचन के लिए भी केवल वस्तु-दृष्टि पर्याप्त नही है। अरस्तू के विवेचन में काव्य के रचना-विधान पर इतना अधिक बल दिया गया है कि आत्म-तत्त्व प्राय उपेक्षित हो गया है। उनके काव्य-शास्त्र का अध्ययन करने के उपरान्त मन पर यह प्रभाव पडता है कि रचना-विधान के नियमो का यथावत् पालन करने से सफल कला की सिद्धि मानो अपने आप हो जाती हो। कला का प्राण है आत्म-तत्त्व और उसकी उपेक्षा करना अथवा उसे अभीष्ट महत्त्व न देना काव्य-सिद्धान्त की घोर अपूर्णता का द्योतक है।

अरस्तू की उपाख्या जितनी प्रबुद्ध थी, उतनी प्रख्या नही थी, अतएव उनका विवेचन आरम्भ से अन्त तक तर्क-पुष्ट और विवेक-सगत है—एकरस होकर निर्विकार मन से वे विवचना करते जाते हैं, जैसे कोई वैज्ञानिक विश्लेषण करता है, कही भी उनके मन में तरग नही आती, मानो काव्य का सर्जन और रसन कोई निष्प्राण प्रक्रिया हो। इसी कारण अरस्तू की आलोचना कही रसार्द्र नही होती—उसका आस्वाद-पक्ष सदा निर्बल ही रहता है। यह एक विचित्र सयोग है कि प्लेटो काव्य के शत्रु होकर भी अपनी शैली में काव्यमय है और काव्य के प्रबल पृष्ठपोषक होकर भी अरस्तू सर्वत्र अकाव्यमय ही रहते हैं। काव्य-दर्शन के आचार्य का यह अभाव निश्चय ही दुर्भाग्य की बात है।

काव्य-शास्त्र के इतिहास में अरस्तू के गौरव के आधार-स्तम्भ मूलत उनके अनुकरण और विरेचन-सिद्धान्त हैं। किन्तु व्यापक दृष्टि से परीक्षण करने पर ये दोनो ही सिद्धान्त अपूर्ण हैं, अनुकरण के अर्थ का अधिकाधिक विस्तार किये जाने पर भी उसमें काव्य के सर्जन-पक्ष—विशेष रूप से कल्पना की वाञ्छित स्वीकृति नही है। इसी प्रकार विरेचन-सिद्धान्त के द्वारा जिस काव्यानन्द की प्रतिष्ठा की गयी है वह अभावात्मक है—रस की अपेक्षा निम्न कोटि का है।

इसके अतिरिक्त काव्य के अगो के सम्बन्ध में भी उनकी कुछ एक स्थापनाएँ भ्रान्त तथा भ्रामक हैं—उदाहरण के लिए चरित्र की अपेक्षा वस्तु का तथा महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी का महत्त्व-प्रतिपादन दोनों ही प्राय भ्रात धारणाएँ हैं, जो आज प्राय अमान्य घोषित हो चुकी हैं।

फिर भी समग्र रूप में विचार करने पर यह निर्विवाद है कि अरस्तू का गौरव सदा अक्षुण्ण रहेगा। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में सहस्रों वर्षों तक उनका ग्रथ काव्य-शास्त्र का आर्ष ग्रथ बना रहा—समस्त यूरोप के काव्य-शास्त्र के इतिहास में उनके समकक्ष किसी एक आचार्य का नाम प्रस्तुत करना सरल नही है। यूनान के आलोचको में लाजाइनस (लोगिनुस) की प्रतिभा तो अद्भुत थी, किन्तु उनका विवेचन एकागी है, अन्य आलोचक केवल रीतिशास्त्र के आचार्य थे—काव्य के मौलिक तत्त्वो के साथ उन्होंने अपनी शक्ति की परीक्षा ही नही की। रोमी आलोचको में क्विन्टीलियन, होरेस आदि से तुलना करना अरस्तू का अपमान है। यूरोप की आधुनिक भाषाओं में शास्त्रीय वर्ग के प्राय सभी प्रथम श्रेणी के आलोचक—ड्राइडन, कोरनेइ, बोइलो, मैथ्यू आर्नल्ड आदि पर अरस्तू का गहरा प्रभाव है। काव्य के आधारभूत मान इन्होंने अरस्तू से ही प्राप्त किये हैं और उनके विशदीकरण में ही इन आलोचको का प्रमुख योगदान निहित है। रोमानी आलोचको की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र रही है—कॉलरिज, गेअटे, शिलर आदि ने अनेक प्रसगो में अन्तरग सत्यो पर प्रखर दृष्टि डालते हुए काव्य के आत्म-तत्त्व को उभार कर सामने रखा है, परन्तु इन सभी का महत्त्व असम है—इनकी विवेचना सर्वत्र निभ्र न्ति नहीं है, स्थान-स्थान पर उसमें अस्थिरता और असगति भी मिलती है।

वास्तव में, जहाँ तक काव्य के मौलिक सत्यो के तात्त्विक विवेचन का प्रश्न है, यूरोप के आलोचको की अपेक्षा दार्शनिक अथवा मन शास्त्रविद् आचार्यों का योगदान अधिक स्तुत्य है। स्टुअर्ट मिल, काट, हीगेल, मार्क्स, क्रोचे और फ्रायड-युग ने काव्य के आन्तरिक सत्यो का जितना गम्भीर एव विशद प्रतिपादन किया है, उतना शुद्ध साहित्यिक आलोचको ने नहीं किया। इन्होंने एक ओर अरस्तू के काव्य-शास्त्र की मौलिक त्रुटियो का समाधान किया है, दूसरी ओर उसमें प्रतिपादित सत्यो को अपने तात्त्विक विवेचन के द्वारा प्रमाणीकृत भी किया है।

कालक्रमानुसार भारतीय आचार्य अरस्तू के बहुत बाद में हुए हैं। हमारे आद्याचार्य भरत के समय और उनके समय में कम-से-कम चार शताब्दियो का अन्तर है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से अरस्तू के काव्य-शास्त्र और भरत के नाट्य-शास्त्र में कोई साम्य नहीं—भरत के सर्वांगपूर्ण सूक्ष्म-विवरणात्मक

प्रतिपादन के सामने अरस्तू का विवेचन सर्वथा अधूरा और कटा-फटा-सा लगता है। उदाहरण के लिए दोनो के रस-वर्णन अथवा नाटयाग-वर्णन को साथ रख कर देखिए। परन्तु दोनो के दृष्टिकोण मे भेद है, भरत की शैली वर्णनात्मक है, अरस्तू की शैली तर्क-पुष्ट विवेचनात्मक है। अत अरस्तू का विषय-प्रतिपादन अधूरा होते हुए भी अधिक तात्त्विक है। भामह, दण्डी और वामन का प्रतिपाद्य काव्य का रूप-सौन्दर्य है जिसका विवेचन अरस्तू ने केवल प्रासगिक रूप मे ही किया है। इस क्षेत्र में निश्चय ही अरस्तू के दोनो ग्रथो की भी सामग्री मिलाकर बहुत कम पडती है— वामन जैसे आचार्य के क्रमबद्ध सागोपाग विवेचन से उसकी क्या तुलना ? अरस्तू ही क्या, डिमेट्रियस, क्विन्टीलियन आदि के व्यवस्थित वर्णन भी इनके सामने सर्वथा अपूर्ण हैं। इनके पश्चात् भारतीय काव्य-शास्त्र के आत्मवादी आचार्य आनन्द-वर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि का नाम आता है। अरस्तू और इनके समय में पूरी एक सहस्राब्दी का अन्तर है और इस दृष्टि से अरस्तू का गौरव कही अधिक है, परन्तु काव्य के आन्तरिक सत्यो के प्रतिपादन की दृष्टि से इन आचार्यों का महत्त्व असदिग्ध है—भट्टनायक का साधारणीकरण-सिद्धान्त, आनन्दवर्धन के ध्वनि तथा रसौचित्य-सिद्धान्त, और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद काव्य के मूलभूत सत्यो की जितनी गभीर एव विशद विवेचना प्रस्तुत करते है, उतनी अरस्तू और उनके समस्त भाष्यकारो के ग्रथो में दुर्लभ है। भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित और अभिनव द्वारा आख्यात साधारणीकरण-सिद्धान्त की तुलना में अरस्तू के काव्य-शास्त्र में उपलब्ध दो-चार सकेत कितने निष्प्रभ हैं। अभिनव द्वारा प्रस्तुत अभिव्यक्ति-सिद्धान्त और अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त की तुलना हम कर ही चुके हैं—आत्मदर्शी दृष्टि और वस्तुनिष्ठ दृष्टि में जितना भेद होता है उतना ही इन दोनो में है। इसी प्रकार रस के स्वरूप के विषय में भारतीय आचार्यों की परिकल्पना अधिक पूर्ण और उदात्त है। समय का लाभ भारतीय आचार्यों को निश्चय ही था, किन्तु उसके आधार पर इनके गौरव का अवमूल्यन करना उचित नही होगा क्योकि अरस्तू के दो हज़ार वर्ष बाद तक भी तो उनके भाष्यकार अथवा अनुयायी इन भव्य सत्यो की उपलब्धि में असमर्थ रहे। अठारहवी-उन्नीसवी शती में ही आकर कही यूरोप के दार्शनिक इस क्षेत्र में कृतकार्य हुए और वर्तमान युग में उनकी सहायता से आलोचना में इनका प्रवेश हुआ। इसका कारण स्पष्ट है—काव्य के आन्तरिक सत्य भी जीवन के आन्तरिक सत्यो की भाँति दर्शन तथा तत्त्व-चिन्तन पर अवलम्बित है, और दर्शन के क्षेत्र में भारत की साधना और सिद्धि निश्चय ही अधिक पूर्ण रही है।

अपने तत्त्व-रूप में काव्य की भाँति काव्य-शास्त्र का भी एक सार्वभौम रूप होता है। इस व्यापक धरातल पर अरस्तू विश्व-काव्यशास्त्र के अग्रणी आचार्य हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी को श्रद्धापूर्वक उनके सिद्धान्तों का मनन करना चाहिए, किन्तु उसके मन में किसी प्रकार का आतंक अथवा हीन-भाव नहीं रहना चाहिए क्योंकि उसकी अपनी परम्परा निश्चय ही अधिक समृद्ध, गम्भीर और पूर्ण है।

○

अनुवाद

डॉ० नगेन्द्र
श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

अरस्तू का काव्य-शास्त्र

वस्तु-विश्लेषण

१. अनुकरण—काव्य, सगीत, चित्र एव मूर्ति-कलाओ का सामान्य सिद्धान्त। माध्यम अथवा मूर्त उपादान, विपय तथा अनुकरण-विधि के अनुसार इन कलाओ के विभेद। अनुकरण के माध्यम लय, भाषा और सामजस्य (अथवा स्वर-माधुर्य) मे से एक या एकाधिक होते है।

२. अनुकरण के विषय—समस्त अनुकरणात्मक कलाओ मे उच्चतर अथवा निम्नतर प्ररूपो (टाइप) का प्रतिनिधान होता है। काव्य में त्रासदी और कामदी के पारस्परिक विभेद का यही आधार है।

३. अनुकरण की विधि—कविता का रूप या तो नाटकीय समाख्यान का हो सकता है अथवा शुद्ध समाख्यान का (जिसमे प्रगीति का भी समावेश हो), या शुद्ध नाटक का। नाटक के नाम एव आदिम उद्गम-स्थान के विपय पर प्रसगान्तर।

४. काव्य का उद्भव और विकास—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कविता के मूल मे दो कारण हो सकते है · एक तो अनुकरण की सहज वृत्ति और दूसरी सामजस्य एव लय की।

ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया जाये तो काव्य आरम्भ मे ही दो दिशाओ मे विभाजित हो गया था। होमेरस (होमर) के

---

* प्रस्तुत ग्रन्थ मे हमने आद्यत शुद्ध ग्रीक उच्चारणो का ही प्रयोग किया है। महत्त्वपूर्ण नामो के प्रचलित अँग्रेजी उच्चारण या तो साथ ही कोष्ठको मे दे दिये गए है अथवा परिशिष्ट में।

काव्य मे इस द्विविध प्रवृत्ति के लक्षण मिलते है। त्रासदी और कामदी इसी विभेद को विकसित रूप मे व्यक्त करती है।

त्रासदी के इतिहास मे आनुक्रमिक सोपानो का उल्लेख।

५. अभिहस्य की परिभाषा और कामदी के उत्कर्ष की सक्षिप्त रूपरेखा। महाकाव्य और त्रासदी की तुलना। (यह अध्याय अपूर्ण है)

६. त्रासदी की परिभाषा। त्रासदी के ६ तत्त्व—तीन वाह्य रग-विधान, प्रगीत, पद-रचना, तीन आन्तरिक कथानक, चारित्र्य और विचार। कथानक अर्थात् कार्य-व्यापार के प्रतिनिधान का प्रमुख महत्त्व है, चारित्र्य और विचार-तत्त्व क्रमश इसके वाद आते है।

७. कथानक समग्र एव स्वत पूर्ण और समुचित आयाम का होना चाहिए।

८. कथानक एकात्मक होना चाहिए। कथानक की अन्विति नायक के एकत्व (एक होने) मे नही वरन् कार्य-व्यापार की अन्विति मे है।

कथानक के विभिन्न भाग अभिन्न रूप से परस्पर-सम्वद्ध होने चाहिए।

९. (कथानक का विवेचन गत अध्याय से आगे) काव्य-सत्य को ऐतिहासिक सत्य से पृथक् करके देखने पर ही नाट्य-अन्विति की सिद्धि हो सकती है क्योकि काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है, इतिहास विशेष की। सम्भाव्य अथवा आवश्यक पूर्वापरता-नियम का घटनाओ पर आरोपण। अन्विति के अभाव के कारण कुछ कथा-नको की अभिशसा।

सर्वश्रेष्ठ कारुणिक प्रभाव अनिवार्य और अप्रत्याशित के मिश्रण पर निर्भर है।

१०. (कथानक का विवेचन गत अध्याय से आगे) सरल और जटिल कथानको की परिभाषा।

११. (कथानक का विवेचन गत अध्याय से आगे) स्थिति-

विपर्यय, अभिज्ञान तथा कारुणिक या अनिष्ट घटना की परिभाषा और व्याख्या ।

१२. त्रासदी के सगठन-भागो की परिभाषा—प्रस्तावना, उपाख्यान आदि । (सम्भवत प्रक्षिप्त)

१३. (कथानक का विवेचन गत अध्याय से आगे) करुण व्यापार के मूल तत्त्व क्या है ? भाग्य-परिवर्तन तथा आदर्श त्रासदी के अनुकूल नायक का चरित्र । 'काव्य-न्याय' की अपेक्षा—जो सामान्य जनता के अधिक मनोनुकूल होता है और जिसका उचित स्थान कामदी है—दु खमय अन्त अधिक कारुणिक होता है ।

१४. (कथानक का विवेचन गत अध्याय से आगे) त्रासदी के मूल भाव—त्रास और करुणा—कथानक में से ही उद्भूत होने चाहिए। रग-विधान अथवा दृश्यात्मक प्रभाव द्वारा इनका आविर्भाव त्रासदी की आत्मा के प्रतिकूल है । रागात्मक प्रभाव को तीव्र करने के लिए अभिप्रेत करुण घटनाओ के उदाहरण ।

१५. त्रासदी मे (नैतिक प्रयोजन की व्यजना के रूप मे) चरित्र-तत्त्व । नैतिक चित्रण के लिए अपेक्षित तत्त्व, आवश्यकता या सम्भाव्यता का नियम कथानक के समान ही चरित्र-चित्रण पर भी लागू होता है । 'पात्र की यात्रिक अवतारणा' (ये पक्तियाँ यहाँ प्रसगानुकूल नहीं), चरित्र का आदर्शीकरण कैसे होता है ?

१६. (कथानक का विवेचन गत अध्याय से आगे) अभिज्ञान उसके विभिन्न प्रकार, उदाहरण-सहित ।

१७. त्रासदीकार के लिए व्यावहारिक नियम :

(१) दृश्य को अपनी आँखो के सामने रखे और स्वय विभिन्न भूमिकाओ मे प्रवेश करे जिससे उसके मन मे नाटकीय पात्रो के प्रति जीवन्त सहानुभूति जागृत हो ।

(२) उपाख्यानो का यथास्थान नियोजन करने से पूर्व कार्य-व्यापार की स्थूल रूपरेखा तैयार कर ले ।

यहाँ त्रासदी और महाकाव्य के उपाख्यानो की प्रसगात् तुलना की गयी है ।

१८. त्रासदीकार के लिए कुछ और नियम

(१) कथानक की सवृति और निगति के—विशेषत निगति के—सम्बन्ध में सावधान रहे ।

(२) यदि हो सके तो काव्योत्कर्ष के विभिन्न रूपो का सयोजन करे ।

(३) त्रासदी को महाकाव्योचित विवरणो से बोझिल न कर दे ।

(४) सवाद की भाँति—सामूहिक सम्बोध-गीतो को भी समग्र काव्य का अविच्छेद्य अग बनाये ।

१९. त्रासदी मे विचार अर्थात् बौद्धिक तत्त्व और पदावली ।

विचार-तत्त्व का प्रकाशन भाषण-शास्त्र के नियमो के अनुसार विरचित नाटच-भाषणो में होता है ।

पद-रचना मुख्यत काव्य की अपेक्षा वक्तृत्व-कला के क्षेत्र में आती है ।

२०. पद-रचना—अथवा सामान्य रूप में भाषा । पद-विश्लेषण तथा अन्य व्याकरणिक विवरण । (सम्भवत प्रक्षिप्त)

२१. काव्य-पदावली । काव्य मे ग्राह्य शब्द और अलकार, विशेषत उपचार । सज्ञाओ के लिग के सम्बन्ध में एक अनुच्छेद—(सम्भवत प्रक्षिप्त)

२२. (काव्य-पदावली का विवेचन गत अध्याय से आगे) काव्य में भाषा की गरिमा और प्रसाद गुण का सम्मिश्रण कैसे होता है ?

२३. महाकाव्य । कार्य-व्यापार की अन्विति मे यह त्रासदी के समान है : इतिहास से अन्तर ।

२४. (महाकाव्य का विवेचन गत अध्याय से आगे) त्रासदी के साथ अन्य समानताएँ । असमानताओ का उल्लेख और उदाहरण—यथा (१) काव्य-कृति का विस्तार (२) छन्द (३) अविश्वसनीय कथा में सत्य का आभास उत्पन्न करने की कला ।

२५. काव्य के विरुद्ध आलोचनात्मक आक्षेप और उनका उत्तर देने के लिए आधारभूत सिद्धान्त—विशेष रूप से काव्य-सत्य का स्पष्टीकरण और सामान्य यथार्थ से उसका अन्तर।

२६. महाकाव्य और त्रासदी के तुलनात्मक महत्व का सामान्य निरूपण। त्रासदी के तथाकथित दोष उसके अनिवार्य अग नही। प्रत्यक्ष गुणो के आधार पर उसे महाकाव्य से ऊँचा स्थान मिलना चाहिए।

अरस्तू का काव्य-शास्त्र

१. शीर्षक

मै काव्य के सामान्य रूप और उसके विभिन्न प्रकारो का—प्रत्येक के मूल गुण पर विचार करते हुए—विवेचन करना चाहता हूँ। मेरा विचार है कि सत्काव्य के लिए आवश्यक कथानक के सगठन, काव्य के अगो की सख्या एव स्वरूप और इसी प्रकार इस अध्ययन की परिधि में आने वाले अन्य विषयो का अनुशीलन किया जाये। अतएव स्वाभाविक क्रम का अनुसरण करते हुए उन्ही सिद्धान्तो से आरम्भ करना उचित होगा जो पहले आते है।

महाकाव्य, त्रासदी, कामदी और रौद्रस्तोत्र* तथा वशी-वीणा सगीत के अधिकाश भेद अपने सामान्य रूप में अनुकरण के ही प्रकार है। फिर भी तीन बातो में वे एक दूसरे से भिन्न है अनुकरण का माध्यम, विषय और विधि अथवा रीति प्रत्येक में पथक् होती है।

अनुकरण के माध्यम

जिस प्रकार कुछ लोग सचेष्ट शिल्प-विधान अथवा केव अभ्यास द्वारा रग-रूप या स्वर के माध्यम से विभिन्न विषयो का अनुकरण या अभिव्यजन करते है, उसी प्रकार उपर्युक्त कलाओ में, समग्र-रूप में, अनुकरण की प्रक्रिया लय, भाषा अथवा सामजस्य में से किसी एक या एकाधिक द्वारा सम्पन्न होती है।

---

*रौद्रस्तोत्र (डाइथिरैम्बिक पोयट्री)—यूनान में मद्य के देवता के स्तवन के लिए ओजस्वी भाषा में गाये जाने वाले गीत, जैसे हमारे यहाँ शिव-ताण्डव-स्तोत्र।

उदाहरणार्थ—वशी या वीणा के सगीत में केवल सामजस्य और लय का उपयोग किया जाता है। दूसरी कलाओ के सम्बन्ध मे भी—जो मूलत इन्ही के समान है, यही बात सत्य है जैसे अविपाल (गडरिये) की बाँसुरी।

नृत्य मे, केवल लय का उपयोग होता है—सामजस्य का नही, क्योकि नृत्य में भी लययुक्त चेष्टाओ द्वारा चरित्र, भाव और कार्य-व्यापार का अनुकरण होता है।

एक और कला है जिसमे अनुकरण का साधन केवल भाषा होती है—यह भाषा गद्य हो या पद्य और पद्य में भी चाहे अनेक छन्दो का प्रयोग किया गया हो या एक का। किन्तु इसका नामकरण अभी तक नही हुआ है। हमारे पास कोई ऐसा सामान्य शब्द नही है जिसका एक ओर तो सोफ्रौन[१] और क्सेनारखस[२] के विडम्बन* और सोक्रतेस (सुकरात)[३] के सवादो तथा दूसरी ओर द्विमात्रिक छद, शोक-गीतिछद या ऐसे ही किसी अन्य छन्द मे रचित काव्यात्मक अनुकृतियो के लिए समान रूप से प्रयोग किया जा सके। छन्द के नाम के साथ 'रचयिता' या 'कवि' शब्द जोड दिया जाता है और शोक-गीति×

---

१. सोफ्रौन—अगेयोक्लेस दमैसिलस का पुत्र, विडम्बनकारो में प्रमुख। विडम्बन की रचना द्वारा सोफ्रौन ने लोक-विनोद के उस माध्यम को साहित्य-रूप में ढाला जिसका प्रयोग सिसिली के यूनानी चिरकाल से लोक-उत्सवो पर करते आ रहे थे। सोफ्रौन को प्लतोन (प्लेटो) बहुत मानता था। (समय ४६०-४२० ई० पू०)

२ क्सेनारखस—कामदी-रचयिता, सिल्यूसिया का यायावर दार्शनिक। रोम और सिकन्दरिया में अध्यापन-कार्य करता रहा, कुछ खण्डित रचनाएँ ही उपलब्ध है। औगस्तस से इसकी बहुत घनिष्ठता थी।

*विशेष बात यह है कि ये विडम्बन गद्य मे रचे गये थे।

३ सोक्रतेस (सुकरात)—प्रख्यात यूनानी दार्शनिक (४६९-३९९ ई० पू०)। सुकरात पर अनाचार के प्रचार का दोषारोपण किया गया था जिसके दण्ड-स्वरूप उन्हें विषपान करना पडा था।

×शोक-गीति यहाँ छन्द-विशेष का सूचक है।

कवियो अथवा महाकाव्य (अर्थात् षट्पदी)—कवियो की चर्चा की जाती है मानो वे अनुकृति के नही वरन् छन्द के ही आधार पर, निर्विवेक रूप से, कवि-पद के अधिकारी हो। यदि चिकित्सा अथवा प्रकृति-विज्ञान पर भी कोई पद्यवद्ध निवन्ध रचा जाये तो उसके रचयिता को प्रथानुसार 'कवि' नाम से अभिहित किया जाता है। होमेरस (होमर)[१] और ऐम्पैदोक्लेस[२] (एम्पिडाक्लीज) मे छन्द के अतिरिक्त और कोई साम्य नही अत एक को तो कवि कहना उचित है पर दूसरे को कवि की अपेक्षा भौतिकी का आचार्य कहना ही अधिक समीचीन है। इसी प्रकार यदि कोई लेखक अपनी काव्यात्मक अनुकृति मे सब छन्दो का भी समावेश कर ले—जैसा खैरेमौन[३] ने अपने

---

१ होमेरस (होमर)—ईलिअद और ओद्युस्सेइआ (ओडिसी) नामक महाकाव्यो का प्रणेता सुप्रसिद्ध यूनानी कवि। जन्मस्थान और जन्मतिथि अव भी अनुसन्धाताओ के मतभेद के विषय है। अनुमानत ई० पू० ९वी-१०वी शताब्दी के बीच वह विद्यमान था। अरिस्तोतेलेस (अरस्तू) ने होमर की काव्य-प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि को मुक्तकण्ठ से सराहा है।

२ ऐम्पैदोक्लेस—सिसिली के अग्रिजतम नगर का निवासी। सुप्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक। अनुमानत ५वी शताब्दी ई० पू० के मध्य में विद्यमान था। उसकी कुछ विशेषताओ के कारण लोग उसे जादूगर समझते थे। एतना के ज्वालामुखी को देखने गया तभी वही उसकी मृत्यु हो गयी। मिल्टन के 'पैरेडाइज़ लास्ट' और मेरेडिथ के 'एम्पिडाक्लीज' मे इस घटना का उल्लेख है। मैथ्यू आर्नल्ड ने 'एम्पिडाक्लीज़ और ऐटना' नामक कृति में लिखा है कि यह प्रकाण्ड विद्वान और दार्शनिक मृत्यु की कामना से ही एतना की चोटी पर चढा था। उसकी समस्त कृतियाँ पद्यबद्ध है जिनके कुछ खण्डित भाग भी उपलब्ध हुए हैं।

३ खैरेमौन—चौथी शताब्दी ई० पू० में विद्यमान। इसकी त्रासदियाँ अभिनेय कम, पाठ्य अधिक थी—उनमे काव्यत्व का अश अधिक था। यह त्रासदी की अवनति का युग था जव अभिनेय नाटको के स्थान पर साहित्यिक नाटको की सृष्टि अधिक हो उठी थी।

केनताउरस (कैण्टौर)[1] मे किया है जहाँ सव तरह के छदो का विचित्र सम्मिश्रण है—तो उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर हमे उसको भी कवि की सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत ही रखना चाहिए। इन विभेदो के विषय मे इतना ही कह देना पर्याप्त है।

कुछ कलाएँ ऐसी है जो उपर्युक्त सभी साधनो का उपयोग करती है—लय, राग और छन्द सभी का। रौद्रस्तोत्र और राग-प्रधान काव्य तथा त्रासदी और कामदी इन्ही के अन्तर्गत है किन्तु इनमें अन्तर यह है कि प्रथम दो भेदो मे इन साधनो का एक साथ उपयोग किया जाता है, अन्तिम दो में कभी एक का, कभी दूसरे का।

अनुकरण के माध्यम की दृष्टि से विभिन्न कलाओ मे ये ही भेद है।

२. अनुकरण के विषय

अनुकरण के विषय कार्यरत व्यक्ति होते है और ये व्यक्ति या तो उच्चतर कोटि के होगे या निम्नतर कोटि के। यह विभाजन मुख्यत नैतिक आचरण पर आधृत है और नैतिक अन्तर के विभेदक लक्षण है सद्वृत्ति तथा दुर्वृत्ति, अत यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें उनका या तो यथार्थ जीवन से श्रेष्ठतर रूप प्रस्तुत करना होगा या हीनतर या फिर यथावत् रूप। चित्रकारी मे भी यही बात होती है। पोल्युग्नोतस[2] ने मानव का अतिभव्य रूप अकित किया है, पाउ-

---

१ केनताउरस (कैण्टौर)—(म०) किन्नर।

२ पोल्युग्नोतस—४२२ ई० पू० मे विद्यमान अत्यन्त कलासिद्ध यूनानी चित्रकार। मूलत थासियाई होने पर भी इसे एथेन्स के नागर-अधिकार प्राप्त थे। एथेन्स के एक जनद्वार पर इसने त्रोइआ—(ट्राय) युद्ध के अत्यन्त महत्वपूर्ण चित्र अकित किये थे। इसके चित्रो की सुकोमल भावाभिव्यक्ति और सजीवता अद्वितीय थी। एथेन्स-निवासी इसकी कला से इतने प्रभावित थे कि पुरस्कार-स्वरूप कुछ भी देने को तैयार थे पर पोल्युग्नोतस कला का निष्काम साधक था, उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया। अन्त में उसके निर्वाह का दायित्व तत्कालीन शासन ने अपने ऊपर ले लिया।

सौन[1] ने हीनतर और दिओन्युसिअस[2] ने यथार्थ रूप ।

अब यह स्पष्ट है कि अनुकरण की उपर्युक्त प्रत्येक रीति मे ये भेद व्यक्त होगे और इस प्रकार पृथक् विपय का अनुकरण करने के कारण प्रत्येक रीति एक पृथक् अनुकृति-भेद वन जायेगी । यह वैविध्य नृत्य, वशी और वीणा-वादन में भी पाया जा सकता है, इसी प्रकार भाषा में भी—गद्य हो या सगीत-विहीन पद्य । उदाहरण के लिए होमेरेस (होमर) मानव को यथार्थ से श्रेष्ठतर चित्रित करता है, क्लेओफौन[3] यथार्थवत और विद्रूप-काव्य का प्रवर्तक थासियाई हेगेमौन[4] एव देलिअद का प्रणेता नीकोखारेस[5] निकृष्टतर ।

रौद्रस्तोत्र और राग-प्रधान कविताओ के विषय मे भी यही सत्य है—इनमे भी कोई विभिन्न मानव-रूपो का चित्रण कर सकता है जैसे तिमोथेउस[6] और फिलोक्सेनस[7] दोनो ने चक्राक्ष

---

१ पाउसौन—समय ३६०–३३० ई० पू०। निपुण यूनानी चित्रकार।

२. दिओन्युसिअस—यूनान का सिद्धहस्त व्यग्य-चित्रकार, अपने व्यग्य-चित्रो में इसने अरस्तू के अनुयायियो का भी उपहास किया था।

३ क्लेओफौन—एथेन्स का त्रासदीकार, एउरिपिदेस (यूरिपाइडिम) का समसामयिक ।

४ हेगेमौन—अल्किबिआदेस का समसामयिक और मित्र, श्रेष्ठ विद्रूप-काव्यकार। 'जाइजैन्तोमेकिया' नामक कविता प्रसिद्ध है।

५ नीकोखारेस—प्राचीन शैली का एक कामदी-रचयिता।

६ तिमोथेउस—समय ४४६–३५७ ई० पू०, प्रसिद्ध गायक। आरम्भ में कष्टमय जीवन बिताया। तिमोथेउस बडा साहसी और मौलिक कलाकार था—यहाँ तक कि अपनी मौलिकता के कारण वह एथेनी जनता के रोष का भाजन बना। इसके नाट्य-प्रदर्शन में उन्होने अव्यवस्था फैलायी। कहते है इस अवसर पर क्षुब्ध-मन तिमोथेउस से एउरिपिदेस ने कहा था कि एक दिन ये सभी नाट्य-शालाएँ तेरी कृतियो के स्तवन से गूजेंगी। हुआ भी यही—बाद में उसके नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे।

७ फिलोक्सेनस—४३५–३८० ई० पू०, सिथेरा का निवासी, सुप्रसिद्ध स्तोत्रकार। इसकी रचनाओ के वहुत कम अश प्राप्त हो सके है।

दैत्यो[1] का चित्रण भिन्न प्रकार से किया है। त्रासदी और कामदी में भी यही भेद है कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण।

३ अनुकरण की विधि

एक तीसरा भेद और भी है—इन विषयो की अनुकरण-रीति का। क्योकि माध्यम एक हो और विषय भी एक हो फिर भी कवि या तो समाख्यान द्वारा अनुकरण कर सकता है—और इस स्थिति मे भी वह चाहे तो होमेरस की तरह कोई अन्य व्यक्तित्व धारण कर सकता है या अपने निजी रूप में ही बोल सकता है—अथवा अपने सभी पात्रो को जीवित-जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार, जैसा कि हम आरम्भ मे कह आये है, कलात्मक अनुकृति मे विभेद करने वाले ये ही तीन अन्तर (उपादान) है—माध्यम, विषय और रीति। अत, एक दृष्टि से सौफोक्लेस[2] भी वैसा ही अनु-

---

१ क्युक्लोप्स—(यूनानी भाषा में क्युक्लस = चक्र, ओप्स = आँख) दैत्यो की एक जाति जो मुख्यत सिसिली मे रहते थे। इनके माथे के बीच में एक गोल आँख होती थी। ये मनुष्य को मार कर खा जाते थे। इनका नेता था पोलुफोमस। एस्क्युलेपियस की हत्या के लिए द्यौस को वज्र देने के अपराध मे अपोलो ने इनका वध कर दिया। हेफेस्तेस के सहायक होने के कारण ये देवताओ के लिए कवच आदि बनाते थे।

२ सौफोक्लेस—एथेन्स का विख्यात त्रासदीकार। इसने नगर-श्रेष्ठियो के पुत्रो से किसी प्रकार कम शिक्षा नही पायी थी। लब्धप्रतिष्ठ नाटककार ऐस्ख्युलस (ऐस्किलस) का प्रतिद्वन्द्वी था। एक बार साइमन आदि नौ निर्णायको की समिति द्वारा प्रतियोगिता मे से सौफोक्लेस को प्रथम और ऐस्ख्युलस को द्वितीय पुरस्कार दिया गया। यह सौफोक्लेस की बहुत बडी विजय थी। इस घटना के बाद बहुत समय तक इसका स्थान यूनानी रंगमच के क्षेत्र में मूर्धा पर रहा। मेधावी

कर्ता है जैसा होमेरस (होमर) क्योकि दोनो उत्कृष्टतर चरित्र-रूपो का अनुकरण करते है, दूसरी दृष्टि से वह अरिस्तोफनेस[१] से मिलता है क्योकि दोनो जीते-जागते चलते-फिरते व्यक्तियो का अनुकरण करते है। तभी कुछ लोगो का कहना है कि इन काव्यो को नाटक इसलिए कहा जाता है कि इनमे कार्य-व्यापार का निदर्शन रहता है। इसी कारण दोरिआइयो का दावा है कि त्रासदी और कामदी दोनो के आविष्कार का श्रेय उन्ही को है। कामदी के आविष्कार का दावा मेगरी लोग भी करते है—और यह दावा यूनान के अधिवासी मेगरियो का ही नही है जिनका कथन है कि कामदी का उद्भव हमारे ही लोकतत्र मे हुआ है, बल्कि सिसिली के मेगरियो का भी यह मत

सौफोक्लेस ने शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र मे आरम्भ से ही इतनी तेज़ी से प्रगति की कि १६ वर्ष की अवस्था में एक नौ-सार्थ पर विजय प्राप्त कर जव यूनानी लोग उत्सव कर रहे थे तो उसे उनका नेतृत्व करना पडा था। वृद्धावस्था में उसके पुत्र ने उस पर बुद्धि-भ्र श का अभियोग लगाया , पर सौफोक्लेस ने अपने बचाव मे केवल एक ही वाक्य कहा 'अगर मैं सौफोक्लेस हूँ तो इसके अतिरिक्त कुछ और नही, और यदि मैं कुछ और हूँ तो सौफोक्लेस नही।' इसने नाटक के पात्रो की सख्या दो से बढा कर तीन कर दी। इसके नाटको में ऐस्ख्युलस की अपेक्षा मानवीय भावनाओ का तो प्राचुर्य है पर वीर-भावना की कमी है। कहते है उसने १३० नाटक लिखे जिनमें से केवल सात ही उपलब्ध हैं। सौफोक्लेस की त्रासदियो में कुछ हद तक यूनानी नाटक की पूर्णता परिलक्षित होती है।

१ अरिस्तोफनेस—एथेन्स का महान् कामदीकार। अपने समय के प्रमुख प्रतिष्ठित व्यक्तियो के विद्रूप चित्रण और उनकी तीखी एव कटु आलोचना के कारण इसकी कृतियो का ऐतिहासिक महत्व है। इसका जन्म ५वी शताब्दी ई० पू० के मध्य में शायद एथेन्स मे ही हुआ। इसके शत्रु क्लेऔन ने इसे नागर-अधिकारो से वचित करने के लिए अनेक प्रयत्न किये पर सब निष्फल हुए। सोक्रतेस (सुकरात) द्वारा प्रवर्तित शिक्षा-प्रणाली पर भी इसने गहरे व्यग्य किये है।

है क्योकि कवि एपीखारमस[1] जो खिओनिदेस[2] और मग्नेस[3] से बहुत पहले हुआ था, उसी देश का निवासी था। त्रासदी के विपय मे भी पेलोपोनेस्से[4] के कुछ दोरिआई यही दावा करते है। ये सभी भापा का साक्ष्य प्रस्तुत करते है। इनका कथन है कि सीमान्तवर्ती गाँवो को ये 'कोमाइ' और एथेन्सवासी 'देमोइ' कहते है, अत ये मान लेते है कि कामदी के रचयिताओ या अभिनेताओ का यह नामकरण 'कोमद्ज़ेइन' अर्थात् 'रागरग मचाना' शव्द के आवार पर नही हुआ वरन् इसलिए हुआ है कि अपमानपूर्वक नगर से वहिष्कृत होकर वे एक गाँव से दूसरे गाँव भटकते फिरते थे। उनका यह भी कथन है कि 'करने' के लिए दोरिआई शव्द 'द्रान्' है और एथेनी शव्द 'प्रत्तेइन'।

अनुकरण की विभिन्न विधियो की सख्या और स्वरूप के वारे में इतना पर्याप्त है।

४ काव्य का उद्भव

(१) अनुकरण

सामान्यत कविता दो कारणो से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है और इन दोनो की ही जड़ें हमारे स्वभाव मे गहरी है। पहला—अनुकरण की सहज वृत्ति मनुष्य में शैशव से ही सन्निहित रहती

१ एपीखारमस—कवि और प्युथगोरस के दर्शन का अनुयायी दार्शनिक। दोरिआइयो में प्रवान कामदीकार। इसने कामदी को नया रूप दिया और उसमें कथावस्तु का समावेश किया। इसकी भापा वड़ी सुथरी-निखरी और दार्शनिक-नैतिक उक्तियो से पुष्ट है।

२ खिओनिदेस—आनुमानिक समय ४६०–३९० ई० पू० के वीच। प्राचीन कामदीकार।

३ मग्नेस—४६० ई० पू० के लगभग नाट्य-प्रतियोगियो मे प्रथम पुरस्कार पाने वाला त्रासदीकार। भावात्मक नृत्यो तथा कामदीकार अरिस्तोफनेस के वीच की कड़ी।

४ पेलोपोनेस्से—एक स्थान का नाम। पेलोपोनेस्से के युद्ध को अरिस्तोफनेस ने अपने समय का सब से वड़ा पाप कहा है जिसका दायित्व, उसके अनुसार, क्लेओन जैसे राजनीतिज्ञो पर था।

है । उसमे और अन्य प्राणियो मे एक अन्तर यह है कि जीवधारियो मे वह सबसे अधिक अनुकरणशील होता है और आरम्भ मे वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है । अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नही । अनुभव इसका प्रमाण है—जिन वस्तुओ के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्ही की यथावत् प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है । इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल आनन्द प्राप्त होता है केवल दार्शनिक को ही नही, सामान्य व्यक्ति को भी—जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कही सीमित होती है । अत किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने मे वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है—शायद वह अपने मन मे कहता है, 'अरे ! यह तो अमुक है ।' क्योकि यदि आपने मूल वस्तु को नही देखा तो आपका आनन्द अनुकरणजन्य न होगा —वह अकन, रग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा ।

(२) सामजस्य और लय

अत अनुकरण हमारे स्वभाव की एक सहजवृत्ति है । दूसरी वृत्ति है सामजस्य और लय की—छन्द भी स्पष्टत ही लय के अनुभाग होते है । इसलिए जो इस सहज शक्ति से सम्पन्न थे उन्होने धीरे-धीरे अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियो का विकास कर लिया, और अन्त मे उनकी भोडी आशु-रचनाओ से ही कविता का जन्म हुआ ।

विकास

इसके पश्चात् लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य-धारा दो दिशाओ मे विभक्त हो गयी । गभीरचेता लेखको ने उदात्त व्यापारो और सज्जनो के क्रिया-कलाप का अनुकरण किया । जो क्षुद्र वृत्ति के थे उन्होने अधमजनो के कार्यों का अनुकरण किया और

जिस प्रकार प्रथम वर्ग के लेखको ने देव-सूक्त और यशस्वी पुरुषो की प्रशस्तियाँ लिखी, उसी प्रकार इन लोगो ने पहले-पहल व्यग्य-काव्य की रचना की।

आज कोई ऐसा-व्यग्य काव्य नही है जिसे हम होमेरस(होमर) के पूर्ववर्ती किसी कवि की रचना कह सके—यद्यपि ऐसे कई लेखक थे अवश्य। परन्तु होमेरस (होमर) और उसके बाद के कई उदाहरण दिये जा सकते है—जैसे होमेरस (होमर) की 'मरगीतेस'[1] तथा ऐसी ही अन्य कृतियाँ। उपयुक्त छन्द का भी यहाँ प्रयोग किया गया है—तभी इस वृत्त को आज भी लघु-गुरु–द्विमात्रिक या अवगीति-वृत्त कहते है क्योकि लोग प्राय इसी छन्द मे एक दूसरे पर कटाक्ष करते थे। इस प्रकार प्राच्य कवियो के प्राय दो भेद थे · वीर-कवि और व्यग्य-कवि।

जैसे होमेरस (होमर) गम्भीर शैली के कवियो मे सर्वश्रेष्ठ है—क्योकि नाटच-रूप और अनुकरण-कौशल का सश्लेप केवल उनके ही काव्य मे मिलता है, उसी तरह व्यक्तिपरक व्यग्य-रचना के स्थान पर अभिहस्य तत्वो को नाटच-रूप मे उपस्थित कर सर्व-प्रथम कामदी की रूप-रेखा भी उन्होने ही निर्धारित की है। उनके मरगीतेस का कामदी से वही सम्बन्ध है जो त्रासदी से ईलिअद[2]और ओद्युस्सेइआ[3] का है। जब त्रासदी और कामदी का विकास हो गया, तब भी दोनो वर्गों के कवि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही अनुसरण करते रहे। अवगीनिकार कामदी लिखने लगे और महा-

---

१ मरगीतेस—होमेरस-विरचित एक प्रसिद्ध महाकाव्य जो अब उपलब्ध नही।

*आएम्बिक

२ ईलिअद—होमेरस (होमर) का सुख्यात महाकाव्य जिसमें त्रोइआ-(ट्राय) युद्ध का वर्णन है।

३ ओद्युस्सेइआ (ओडिसी)—होमेरस (होमर)-विरचित महाकाव्य, ओद्युस्सेउस के जीवन की चौबीस साहसपूर्ण घटनाओ का इनमे उल्लेख है।

काव्य-रचयिताओ का स्थान त्रासदी-लेखको ने ले लिया क्योकि उस समय नाटक कला का महत्तर और श्रेष्ठतर रूप वन गया था।

त्रासदी के विविध प्रकार अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुके है या नही, और उसका निरपेक्ष मूल्याकन किया जाना है अथवा सामाजिक-सापेक्ष भी, यह एक भिन्न प्रश्न है। कुछ भी हो, त्रासदी—और कामदी भी—आरम्भ मे एक प्रकार की आशु-रचना मात्र थी जो आवश्यकता की पूर्ति के लिए तत्काल प्रस्तुत कर दी जाती थी। एक का प्रवर्त्तन रौद्र-स्तोत्रकारो द्वारा हुआ, दूसरी का लैंगिक गीतो के रचयिताओ द्वारा—ये लैंगिक गीत अव भी हमारे कई नगरो मे प्रचलित है। त्रासदी का विकास धीरे-धीरे हुआ, जो भी कोई नया तत्त्व प्रस्फुट हुआ उसका क्रमश विकास किया गया। इस प्रकार कई परिवर्तनो में से गुजरने के बाद अत मे उसने अपना सहज स्वरूप प्राप्त कर लिया और वही वह रुक गयी।

ऐस्ख्युलस[1] ने सर्वप्रथम दूसरे पात्र का समावेश किया, उसने समवेत-गान का महत्व कम करके सवाद को प्रमुख स्थान दिया। सौफोक्लेस ने पात्रो की सख्या वढाकर तीन कर दी और दृश्य-विधान भी जोड दिया। किन्तु लघु कथानक को त्याग कर विस्तृत कथानक का ग्रहण और पूर्ववर्ती व्यग्यात्मक रूप की विपम पदावली के स्थान पर त्रासदी की उदात्त 'रीति' का प्रयोग काफी बाद मे चल कर हुआ।

---

१ ऐस्ख्युलस (ऐस्किलस)—प्रसिद्ध एथेनी त्रासदीकार। जन्म-काल अनुमानत ५२५ ई० पू०। ४८४ ई० पू० में त्रासदी-प्रतियोगिता में इसने प्रथम पुरस्कार पाया और ४६८ ई० पू० में इसी प्रतिद्वन्द्विता मे सौफोक्लेस से हार जाने पर एथेन्स छोड दिया। ऐस्ख्युलस ने त्रासद नाट्य-रचना और अभिनय में ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन किये कि उसे त्रासदी का जन्मदाता कहा जाता है। कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनो का उल्लेख अरिस्तोतेलेस (अरस्तू) ने स्वय किया है। उसने अभिनेताओ की वेश-भूषा भव्यतर बना दी और छद्ममुख अभिनीत पात्र के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। ऐस्ख्युलस-विरचित त्रासदियो की सख्या ७० वतायी जाती है, पर उनमें केवल ७ उपलब्ध है। उसकी ऊर्जस्वी शैली में विशेषण एव अलकारो की अद्भुत छटा मिलती है।

*गुरु-लघु क्रम से युक्त द्विमात्रिक चतुष्पदी का स्थान लघु-गुरु क्रम वाले द्विमात्रिक वृत्त ने ले लिया। इस चतुष्पदी का प्रयोग उस समय होता था जब कविता व्यंग्य-कोटि की थी और नृत्य के साथ उसका अधिक लगाव था। जैसे ही सवाद का समावेश हुआ वैसे ही मानो प्रकृति ने स्वय उपयुक्त वृत्त ढूँढ निकाला। क्योकि वृत्तो मे द्विमात्रिक सबसे अधिक संलापोचित है, यह इससे सिद्ध है कि बातचीत किसी अन्य छन्द की अपेक्षा प्राय द्विमात्रिक छद मे ही अधिक होती है—षट्पदी मे भी यदा-कदा होती है और उसमे भी बोल-चाल के लहजे को छोड देना पडता है। यहाँ उपाख्यानो और अको की सख्या-वृद्धि तथा परम्परा-प्रोक्त अन्य उपादानों का विवेचन भी हो चुका, यही मान लेना चाहिए क्योकि इन सबका सविस्तार विवेचन अपने आप मे बृहत् कार्य होगा—इसमें सन्देह नही।

५. परिभाषाएँ

कामदी

कामदी (या प्रहसन) में, जैसा कि हम पहले कह आये है, निम्नतर कोटि के पात्रो का अनुकरण रहता है—यहाँ 'निम्न' शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नही है जो 'दुष्ट' का होता है क्योकि अभिहस्य तो 'कुरूप' का एक उपभाग मात्र है—उसमे कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या अमगलकारी नही होता। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिए—प्रहसन में प्रयुक्त छद्मसुख विरूप और भद्दा तो होता है पर क्लेश का कारण नही।

त्रासदी को किन क्रमिक परिवर्तनो से गुजरना पडा और उनके प्रवर्त्तक कौन है यह विज्ञात है, पर कामदी का कोई इतिहास नही है, क्योकि आरम्भ मे किसी ने इस पर विशेष ध्यान नही दिया। बाद में

*ट्रोकेइक टेट्रामीटर—ट्रोकी उन पद (फुट) को कहते है जिनमें गुरु-लघु का क्रम रहता है। टेट्रामीटर = चतुष्पदी। पद से आशय यहाँ एक पंक्ति (चरण) का न होकर अंग्रेजी फुट का है।

अरखौन[१] ने किसी कवि को हास्यमय सहगान की अनुज्ञा दे दी थी—तब तक अभिनेता स्वेच्छा से उसका निष्पादन करते थे। जब से कामदी-कवियो का, इस विशिष्ट नाम से, उल्लेख मिलता है उससे बहुत पहले ही कामदी का एक निश्चित स्वरूप बन चुका था। उसमे छद्ममुख या प्रस्तावना का समावेश किसने किया या पात्रो की सख्या किसने बढायी—यह या इस प्रकार का अन्य विवरण अज्ञात है। जहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है वह मूलत सिसिली से आया था किन्तु एथेन्स के लेखको मे सबसे पहले क्रतेस[२] ने ही द्विमात्रिक या अवगीति-रूप को त्याग कर अपने विषय और कथानक का साधारणीकरण किया।

महाकाव्य

महाकाव्य और त्रासदी मे यह समानता है कि उसमे भी उच्चतर कोटि के पात्रो की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है। भेद यह है कि महाकाव्य मे केवल एक प्रकार का छन्द ग्राह्य होता है और उसका रूप समाख्यानात्मक होता है। दोनो के विस्तार मे भी भेद होता है—त्रासदी को यथासम्भव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार में काल की सीमा का कोई बन्धन नही है। यह दूसरा भेद हुआ—यद्यपि पहले त्रासदी मे भी (काल-विषयक) वैसी ही स्वतन्त्रता थी जैसी महाकाव्य मे।

---

१ अरखौन—प्राचीन यूनान में नगरपालो को अरखौन कहा करते थे। प्रारम्भ में इन्हे जीवन भर के लिए नियुक्त किया जाता था पर बाद में नियुक्ति की अवधि सीमित कर दी गयी। पर्व-उत्सवो में नाटकाभिनय की आज्ञा ये ही दिया करते थे।

२ क्रतेस—लगभग ४७० ई० पू० में विद्यमान प्रसिद्ध कामदी-कवि। इससे पहले इस प्रकार की रचनाओ में व्यक्तिगत आक्षेप और लाछना-भर्त्सना हुआ करती थी, क्रतेस ने कामदी (प्रहसन) को इस धरातल से ऊपर उठाकर उसमें दैनिक जीवन के सामान्य तत्त्वो का समावेश किया। इसकी शैली सहज-सरल थी—एथेन्स मे क्रतेस ने अच्छी सफलता पाई थी।

महाकाव्य और त्रासदी के घटक अंगो मे से कुछ तो दोनो मे ही समान रूप से होते है—कुछ केवल त्रासदी में ही; अत जो त्रासदी के गुण-दोष का विवेचन कर सकता है उसे महाकाव्य के विषय में भी ज्ञान होता ही है। महाकाव्य के सभी तत्त्व त्रासदी में वर्तमान रहते हैं पर त्रासदी के सम्पूर्ण तत्त्व महाकाव्य में उपलब्ध नही होते।

६. त्रासदी

षट्पदी छन्द में रची जाने वाली कविता की और कामदी की चर्चा हम वाद मे करेंगे। इस समय तो उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप उपलब्ध रूपगत परिभाषा को ही फिर से ग्रहण कर हम त्रासदी की विवेचना करते है।

अस्तु, त्रासदी किसी गभीर, स्वत पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणो से अलकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप मे न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोवि-कारो का उचित विरेचन किया जाता है। 'अलकृत-भाषा' से मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें लय, सामजस्य और गीत का समावेश हो जाता है। विभिन्न 'आभरण नाटक के अलग-अलग भागो में' (पाये जाते हैं)—इस उक्ति से मेरा तात्पर्य यह है कि कुछ भागो मे केवल पद्य के माध्यम का प्रयोग किया जाता है और कुछ मे गीत का भी समावेश रहता है।

तत्त्व

'त्रासदीय अनुकृति' शब्द मे यह निहित है कि लोग अभिनय करते है—इसलिए सबसे पहला निष्कर्ष यह निकलता है कि रग-विधान त्रासदी का अग होगा। इसके उपरात गीत और पदावली का स्थान होगा क्योकि ये अनुकरण के माध्यम है। 'पदावली' से अभिप्राय

शब्दो के छन्दोबद्ध विन्यास मात्र का है, गीत' शब्द का अर्थ सभी के लिए सुबोध है।

तो, त्रासदी किसी कार्य-विशेष की अनुकृति होती है और कार्य के लिए अभिकर्त्ता व्यक्तियो का होना आवश्यक है जिनमे निश्चय ही चारित्र्य और विचार की कुछ विशेषताएँ होती है क्योकि इन्ही से तो हम कार्य-व्यापार का विशेषण करते है। ये ही दोनो—चारित्र्य तथा विचार—वे स्वाभाविक कारण है जिनसे कार्य उद्भूत होते है और इन्ही पर सम्पूर्ण सफलता-विफलता निर्भर होती है। अत कथानक कार्य-व्यापार की अनुकृति है क्योकि कथानक से यहाँ मेरा तात्पर्य घटनाओ के विन्यास से है। चारित्र्य वह है जिसके बल पर हम अभि-कर्त्ताओ मे कुछ गुणो का अध्यारोप करते है। विचार की आवश्यकता तब पडती है जब किसी वक्तव्य को सिद्ध किया जाता है या किसी सामान्य सत्य का आख्यान किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यत छह अग होते है जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते है—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान, गीत। इनमे से दो अनुकरण के माध्यम होते है, एक अनुकरण की विधि और तीन अनुकरण के विषय। बस ये ही उसके अवयव है। हम कह सकते है कि इन तत्त्वो का उपयोग प्रत्येक कवि ने किया है। वस्तुत प्रत्येक नाटक मे दृश्य-विधान रहता है और साथ ही चरित्र-चित्रण, कथानक, पदावली, गीत तथा विचार-तत्त्व भी।

किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण है घटनाओ का सगठन। त्रासदी अनुकृति है—व्यक्ति की नही, कार्य की तथा जीवन की क्योकि जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है और उसका प्रयोजन भी एक प्रकार का व्यापार ही है, गुण नही। व्यक्ति के गुणो का निर्धारण तो उसके चारित्र्य से होता है, पर उसका सुख या दु ख उसके कार्यों पर निर्भर रहता है। अत नाट्य-व्यापार का उद्देश्य चरित्र का अभिव्यजन नही होता, चरित्र तो कार्य-व्यापार के साथ गौण रूप मे आ जाता है। अतएव घटनाएँ और कथानक ही त्रासदी के साध्य है और साध्य

का स्थान ही सब से प्रमुख होता है। बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नही हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है। हमारे अधिकाश आधुनिक कवियो की त्रासद कृतियाँ चरित्र के अभिव्यजन मे असफल है—और यह बात सभी कवियो के विषय मे ही प्राय सत्य है। चित्रकला के विषय में भी यही बात है। ज़ेउक्सिस[1] और पोल्युग्नोतस मे यही अन्तर है—पोल्युग्नोतस चारित्र्य का निरूपण भली भाँति करता है, ज़ेउक्सिस की शैली (नैतिक) चारित्र्य-गुणो से विहीन है। इसी प्रकार चारित्र्य-व्यजक कई भाषणो को सूत्रबद्ध प्रस्तुत करने से—चाहे उनके विचार एव पदावली कितनी ही परिष्कृत क्यो न हो—वह सारभूत कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नही किया जा सकता जो किसी ऐसे नाटक द्वारा सहज-सम्भव है जिसमे, ये पहलू कमज़ोर होने पर भी, कथानक तथा घटनाओ का कलात्मक गुम्फन रहता है। इसके अतिरिक्त त्रासदी के अन्तर्गत सबसे प्रबल रागात्मक तत्व—विपर्यास अथवा स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान-प्रसग भी कथानक के ही अग है। इसका एक और प्रमाण यह है कि नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र-चित्रण की अन्वर्थता मे तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते है; पर कथानक का सफल निर्माण करने मे उन्हे समय लगता है। आदिकाल के लगभग सभी कवियो की यही स्थिति रहती है।

अत कथानक त्रासदी का प्रमुख अग है—वह मानो त्रासदी की आत्मा है। चारित्र्य का स्थान दूसरा है। चित्र-कला के विषय मे भी यही बात है। अस्तव्यस्त अवस्था मे, सुन्दर से सुन्दर रग भी हमे उतना आनन्द नही दे सकते जितना खड़िया से अकित किसी चित्र की (व्यवस्थित) रूपरेखा। अत त्रासदी कार्य-व्यापार की अनुकृति है, और अभिकर्त्ताओ की भी—किन्तु मुख्यत कार्य की दृष्टि से ही।

इस क्रम मे तीसरा स्थान विचार का है—विचार का अर्थ है

---

१ ज़ेउक्सिस—मिस्री का सुप्रसिद्ध चित्रकार। समय लगभग ४६८ ई० पू०। अपने सभी समसामयिक चित्रकारो को इसने पराभूत किया था।

प्रस्तुत परिस्थिति मे जो सम्भव और सगत हो उसके प्रतिपादन की क्षमता। जहाँ तक वक्तृत्व का सम्वन्ध है—यह कार्य राजनीति-कला और भाषण-कला का है और इसीलिए प्राचीन कवियो ने अपने पात्रो से नागरिक जीवन की भाषा का प्रयोग कराया है, हमारे युग के कवियो ने आलकारिको की भाषा का। चारित्र्य उसे कहते है जो किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे। अत ऐसे वक्तव्य जिनमें यह स्पष्ट नही होता अर्थात् जिनमें वक्ता न तो किसी वस्तु में रुचि दिखाता है न विरुचि, चरित्र के व्यजक नही होते। विचार वहाँ विद्यमान रहता है जहाँ किसी वस्तु का भाव या अभाव सिद्ध किया जाता है या किसी सामान्य सत्य की व्यजक सूक्ति का आख्यान होता है।

उपर्युक्त तत्वो में चौथा तत्त्व है पदावली जिससे मेरा अभिप्राय है—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है—शब्दो द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति, इसका प्राण-तत्त्व गद्य और पद्य दोनो में एक-सा ही रहता है।

शेष तत्त्वो मे से अलकरण के प्रसाधनो में गीत का मुख्य स्थान है। दृश्य-विधान का भी अपना एक भावोत्तेजक आकर्षण होता है पर (त्रासदी के) विविध अगो मे सबसे कम कलात्मक यही है और काव्य-कला के साथ इसका सबसे कम सम्बन्ध है। क्योकि दृश्य-विधान और अभिनेताओ (अभिनय) से स्वतत्र भी त्रासदी के प्रवल प्रभाव की अनुभूति होती है—यह निश्चित है। इसके अतिरिक्त रग-प्रभाव उत्पन्न करना कवि की अपेक्षा मच-शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर है।

७ कथानक का आयाम

इन सिद्धान्तो के प्रतिपादन के उपरान्त अव हम कथानक के सगठन का विवेचन करेंगे क्योकि त्रासदी मे यही पहला और सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है

अस्तु, हमारी परिभापा के अनुसार त्रासदी ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र एव सम्पूर्ण हो और जिसमे एक निश्चित विस्तार हो

क्योकि ऐसी पूर्णता भी हो सकती है जिसमे विस्तार का अभाव हो। पूर्ण वह है जिसमे आदि, मध्य और अवसान हो। आदि वह है जो किसी हेतु का परिणाम नही होता पर जिसके पश्चात् स्वभावत कुछ विद्यमान या घटित होता है। इसके विपरीत अवसान उसे कहते है जो स्वय तो अनिवार्यत या नियमत किसी अन्य घटना का सहज अनुवर्ती होता है पर जिसका अनुवर्ती कुछ नही होता। मध्य वह है जो स्वय किसी घटना (या घटनावली) का अनुगमन करता है और अन्य घटना या (घटनावली) उसका अनुगमन करती है। अत सुगठित कथानक का आदि या अवसान अचानक ही मनमाने ढग से न होकर इन सिद्धान्तो के अनुसार होना चाहिए।

इस प्रकार किसी भी सुन्दर वस्तु मे—चाहे वह जीवधारी हो अथवा अवयवो से सघटित कोई अन्य पूर्ण पदार्थ—अगो का व्यवस्थित अनुक्रम मात्र पर्याप्त नही है, वरन् उसका एक निश्चित आयाम भी होना चाहिए क्योकि सौन्दर्य आयाम और व्यवस्था पर ही निर्भर होता है। इसलिए कोई अत्यत सूक्ष्म प्राणी सुन्दर नही हो सकता क्योकि उसे देखने मे इतना कम—प्राय नही के बराबर—समय लगता है कि उसका बिम्ब सर्वथा अस्पष्ट रह जाता है। इसी तरह अत्यन्त विराट् आकार का पदार्थ भी सुन्दर नही हो सकता, क्योकि हमारी दृष्टि उसके समग्र रूप को एक साथ ग्रहण नही कर सकती जिसके फलस्वरूप द्रष्टा के मन मे उसकी पूर्णता और एकत्व की भावना खण्डित हो जाती है मानो किसी एक हज़ार मील लम्बे पदार्थ को देखने का प्रयास हो। अत जैसे जीवधारियो मे एक निश्चित आकार आवश्यक होता है—ऐसा आकार जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप मे ग्रहण कर सके—उसी तरह कथानक मे भी एक निश्चित विस्तार आवश्यक होता है जो सरलता से स्मृति मे धारण किया जा सके। किन्तु नाट्य-अभिनय और प्रत्यक्ष उपस्थापन की विस्तार-सीमा कला-सिद्धान्त का अग नही है। मान लीजिए यह नियम होता कि सौ त्रासद नाटक एक साथ उपस्थित किये जाये तो उनके

अभिनय का नियत्रण जल-घडी से किया जाता—और सुनते है पहले वास्तव मे ऐसा होता भी था। किन्तु नाटक की प्रकृति के अनुसार उसकी जो विस्तार-सीमा निर्धारित की जा सकती है वह यह है—जितना विस्तार अधिक होगा उतना ही वह नाटक अपने आकार के कारण सुन्दर होगा लेकिन यह आवश्यक है कि उसका सर्वांग स्पष्ट रूप से परिव्यक्त रहे। और, स्थूल रूप से समुचित कथा-विस्तार की सीमा यह मानी जा सकती है कि घटना-चक्र के अन्तर्गत, सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अनुसार, दुर्भाग्य की सौभाग्य मे अथवा सौभाग्य की दुर्भाग्य मे परिणति दिखाई जा सके।

८ अन्विति

जैसी कुछ लोगो की धारणा है कथानक की एकान्विति का आधार यह नही है कि नायक एक हो। एक व्यक्ति के जीवन मे नाना प्रकार की असख्य घटनाएँ घटती है जिन्हे एकान्वित नही किया जा सकता। इसी तरह एक व्यक्ति के अनेक कार्य-व्यापार होते है जिन्हे एक ही कार्य मे अन्वित नही किया जा सकता। हेराक्लेइद,[१], थेसेइद[२] या इसी प्रकार के अन्य काव्यो के रचयिता कवियो ने, लगता है, यही भूल की है। उन्होने कदाचित् यह सोचा कि हेराक्लेस[३] चूंकि एक व्यक्ति था अत उसकी कथा भी एक इकाई होनी चाहिए। परन्तु अन्य क्षेत्रो की भाँति होमेरस (होमर) का कौशल यहाँ भी सर्वोपरि है।

ऐसा प्रतीत होता है इस क्षेत्र मे भी अपनी सहज प्रतिभा अथवा निपुणता के बल पर उसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया था। ओद्यु-स्सेइआ (ओडिसी) मे उसने ओद्युस्सेउस के जीवन की सभी

---

१ हेराक्लेइद—हेराक्लेस के चरित से सम्बद्ध काव्य।

२ थेसेइद—थेसेस सम्बन्धी चरित-काव्य।

३ हेराक्लेस—(हर्कुलीज़) प्राचीन यूनानी वीरो में सर्वप्रमुख। होमर के अनुसार यह ज़ेउस (म-द्यौस्) देवता का औरस पुत्र था। जब इसका पिता अम्फित्रुअन अन्यत्र युद्ध करने गया था जो ज़ेउस देवता ने उसका रूप धर कर इसकी माँ से सभोग किया था।

घटनाओ का समावेश नही कर लिया है—उसने ऐसी घटनाओ को छोड दिया है जिनमे परस्पर कोई आवश्यक या सम्भाव्य सम्बन्ध नही है। उदाहरण के लिए परनसस[1] (पारनेसस) पर उसके आहत होने का प्रसग अथवा भीड जमा हो जाने पर छद्म-विक्षेप की घटना ली जा सकती है। उसने ओद्‌युस्से-इआ मे, और ईलिअद में भी—ऐसे कार्य-व्यापार को कथानक की धुरी बनाया है जो मेरे मन्तव्य के अनुसार सही अर्थ मे 'एक' है। अत जैसे अन्य अनुकरणात्मक कलाओ मे अनुकार्य वस्तु के एक होने पर अनुकृति भी एक होती है इसी प्रकार कथानक को, जो कार्य-व्यापार की अनुकृति होती है—एक तथा सर्वांगपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमे अगो का सगठन ऐसा होना चाहिए कि यदि एक अग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करे तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न और अस्तव्यस्त हो जाये। क्योकि ऐसी वस्तु, जिसके होने न होने से कोई प्रत्यक्ष अन्तर नही पडता, किसी पूर्ण इकाई का सहज अग नही हो सकती।

९. सम्भाव्यता

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि का कर्त्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नही है वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है। कवि और इतिहासकार मे भेद यह नही है कि एक पद्य मे लिखता है, दूसरा गद्य में। हेरोदोतस[2] की कृति का पद्यानुवाद

---

[1] परनसस—यूनान का एक पर्वत। नेपच्यून के पुत्र के नाम पर इसका नामकरण किया गया था।

[2] हेरोदोतस—यूनानी इतिहासकार, इसे इतिहास का जन्मदाता कहते है। नृशस शासक के डर से यह बाल्यावस्था में ही अपनी मातृभूमि छोडकर भाग गया था। एशिया, अफ्रीका और यूरोप में दूर-दूर भ्रमण कर जब यह स्वदेश लौटा तो इसी की प्रेरणा ने उस स्वेच्छाचारी शासक का निर्वासन हुआ। कवियो में होमेरस का और वक्ताओ में देमोस्थनेस (डेमोस्थनीज़) का जो स्थान है, इतिहासकारो मे वही हेरोदोतस का है।

कर देने पर भी वह इतिहास का ही एक भेद रहेगा—छन्द के होने न होने से उसमे कोई अन्तर नही पडता। वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है। परिणामत काव्य मे दर्शन-तत्त्व अधिक होता है, उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है क्योकि काव्य सामान्य (सार्व-भौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेप की। सामान्य (सार्व-भौम) से मेरा तात्पर्य यह है कि विशेप प्रकार का कोई व्यक्ति सम्भा-व्यता अथवा आवश्यकता के नियम के अनुसार किसी अवसर पर कैसे बातचीत या व्यवहार करेगा। नाम-रूप से विशिष्ट व्यक्तियो के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होती है। उदाहरण के लिए, अल्किविआदेस[1] ने जो कुछ किया या भोगा वह विशेष के अन्तर्गत आता है। कामदी मे तो यह स्पष्ट ही है। कामदी का लेखक पहले सम्भाव्यता के आधार पर कथानक का निर्माण करता है और फिर उसमें चरित्रानुकूल नामो का समावेश कर देता है। उसकी पद्धति अवगीतिकारो से भिन्न है जो विशेष व्यक्तियो को लक्षित कर लिखते है। पर त्रासदी-रचयिता अब भी वास्तविक नामो का ही प्रयोग करते है। कारण यह है कि जो सम्भव है वही विश्वसनीय है और जो हुआ नही उसकी सम्भवता मे हम एकदम विश्वास नही कर पाते, परन्तु जो हो चुका है वह तो स्पष्ट ही सम्भव है अन्यथा होना कैसे? फिर भी, कुछ त्रासदियाँ ऐसी है जिनमे केवल एक-दो नाम प्रसिद्ध है, बाकी सब काल्पनिक। कुछ और त्रासदियाँ ऐसी भी है जिनमे एक भी प्रसिद्ध नाम

---

१ अल्किविआदेस—जन्म ४५० ई० पू० । एथेन्स का बडा सुन्दर, मेधावी और धनाढ्य व्यक्ति, जिसका यौवन विलास और युद्ध में ही बीता। सोक्रतेस (सुकरात) ने एक बार एक युद्ध में इसकी प्राण-रक्षा की थी । सुकरात ने इसे धर्म-मार्ग पर लाना चाहा परन्तु उसका प्रयत्न विफल रहा।

नही है, जैसे अगयोन[1] की अन्थेउस जिसमे घटना और नाम दोनो ही काल्पनिक हैं, फिर भी इन कृतियो से किसी प्रकार कम आनन्द नही मिलता। अत यह आवश्यक नही कि हम, जैसे भी हो, परम्परागत दन्तकथाओ को ही ग्रहण करे—वैसे त्रासदी का आधार प्राय ये ही होती है। वास्तव मे ऐसा प्रयत्न वेतुका भी होगा। क्योकि प्रसिद्ध विषय भी तो कुछ ही लोगो को ज्ञात होते है—सबको नही, परन्तु आनन्द सभी को देते है। इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह निकला कि कवि अर्थात् 'रचयिता' को पद्य की अपेक्षा कथानक का रचयिता होना चाहिए, क्योकि कवि वह इसलिए है कि अनुकरण करता है और जिसका अनुकरण करता है वह है कार्य। और, यदि सयोग से वह कोई ऐतिहासिक विषय भी ग्रहण कर ले, तब भी उसका कवि-रूप अक्षुण्ण रहता है—क्योकि ऐसा कोई कारण नही है कि कुछ घटनाएँ जो वास्तव मे घटी है सम्भव और सम्भाव्य के नियम के अनुकूल न हो। और उनके इसी गुण के नाते वह उनका कवि या स्रष्टा होता है।

समस्त कथानको और व्यापारो मे 'उपाख्यानात्मक' सबसे निकृष्ट होते है। मै उस कथानक को उपाख्यानात्मक कहता हूँ जिसमे एक के वाद एक उपाख्यान या अक, विना सम्भाव्य या आवश्यक पूर्वापर-क्रम के, आते चले जाते है। कुकवि तो अपने ही दोप से ऐसी रचनाएँ करते है और सुकवि अभिनेताओ के परितोप के लिए—प्रतियोगिता के लिए प्रदर्शनात्मक कृतियाँ लिखने मे वे कथानक को उसकी सामर्थ्य से अधिक खीच देते है और प्राय उसके नैसर्गिक प्रवाह को विच्छिन्न करने पर विवश हो जाते है।

---

१ अगयोन—ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में एथेन्स का प्रतिष्ठित त्रासदीकार। प्लतोन (प्लेटो) का समसामयिक और मित्र। नाट्य-विजय के उपलक्ष्य में इनके एक भोज का उल्लेख प्लतोन (प्लेटो) ने किया है। वैसे, इतिहास में इस नाम के कई व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है अतः निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।

किन्तु त्रासदी केवल एक पूर्ण कार्य-व्यापार की ही अनुकृति न होकर ऐसी घटनाओ की भी अनुकृति होती है जो त्रास या करुणा की उद्बुद्धि करते है। ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि घटनाएँ हमारे समक्ष अचानक ही उपस्थित हो—यह प्रभाव उस दशा मे और भी गहरा हो जाता है जव उसके साथ ही उनमे कार्य-कारण की पूर्वापरता भी हो। उनके अपने आप या सयोगवश घटित होने की अपेक्षा ऐसी स्थिति मे त्रासद (करुण) विस्मय का भाव अधिक प्रबल होगा, क्योकि प्रयोजन का आभास मिलने पर सायोगिक घटनाएँ भी अत्यधिक रोचक हो जाती है। इस प्रसग में हम अरगोस[1] मे प्रतिष्ठित मित्युस की मूर्ति का दृष्टान्त दे सकते है जिसने उत्सव के समय गिर कर अपने हत्यारे का प्राणान्त कर दिया। ऐसे प्रसग केवल दैवात् घटित नही लगते। अत इन सिद्धान्तो के आधार पर निर्मित कथानक अनिवार्यत सर्वश्रेष्ठ होते है।

१० सरल और जटिल कथानक

कथानक या तो सरल होते है या जटिल क्योकि उनके अनुकार्य—वास्तविक जीवन के व्यापारो—मे भी स्पष्टत यही भेद होता है। जो कार्य-व्यापार उपयुक्त अर्थ मे 'एक' और अविच्छिन्न हो उसे मैं सरल कहता हूँ जिसमे स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य-परिवर्तन हो जाता है।

जटिल व्यापार वह है जहाँ यह परिवर्तन स्थिति-विपर्यय या अभिज्ञान अथवा दोनो के द्वारा घटित होता हो। इनका उद्भव कथानक के आन्तरिक वस्तु-विधान से ही होना चाहिए जिससे कि अनुवर्ती घटनाएँ पूर्ववर्ती व्यापार का आवश्यक या सम्भाव्य परिणाम हो—इसमे बडा अन्तर पड जाता है कि कोई घटना किसी अन्य घटना के फलस्वरूप घटित हुई है या केवल उसकी अनुवर्तिनी है।

---

१ अरगोस—एक प्राचीन नगर। 'जूनो' इस जगह का मुख्य देवता था। इसकी स्थापना १८५६ ई० पू० में 'इनैकस' ने की थी। ढाई हज़ार वर्ष तक बराबर यह नगर उन्नति करता रहा, फिर 'मेसिनी' के राज्य में मिला लिया गया।

११ स्थिति-विपर्यय

स्थिति-विपर्यय ऐसा परिवर्तन है जिसमे व्यापार का व्यत्यय हो जाता है—किन्तु यह व्यत्यय सदा आवश्यकता एव सम्भाव्यता के नियम के अधीन ही होता है। उदाहरण के लिए, ओइदिपूस[1] मे दूत वैसे तो ओइदिपूस का उत्साह-वर्धन करने तथा उसे माता-सम्बन्धी शकाओ से मुक्त करने के लिए आता है किन्तु साथ ही वह ओइदिपूस के जीवन-रहस्य का उद्‌घाटन भी कर देता है जिससे सर्वथा प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह 'ल्युन्केउस'[2] मे, ल्युन्केउस को वध के लिए ले जाते है और दनऔस[3] उसकी हत्या करने के उद्‌देश्य

---

१ ओइदिपूस—(ईडिपस) इसके पिता को किसी ज्योतिषी ने बताया था कि तुम्हारी मृत्यु अपने पुत्र (ओइदिपूस) द्वारा होगी। पिता ने पुत्र की हत्या की आज्ञा दे दी पर भाग्यवश एक गडरिये ने उसे बचा लिया। ज्योतिषी की भविष्य-वाणी फलीभूत हुई और ओइदिपूस ने अनजाने में अपने पिता की हत्या कर डाली और अपनी माता जोकस्ता से विवाह कर लिया। जब उसे वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो उसने अपनी आँखें फोड ली और जोकस्ता ने आत्महत्या कर ली। सौफोक्लेस ने 'ओइदिपूस' को अपनी प्रसिद्ध त्रासदी का विषयाधार बनाया है। फ्रायड का 'ईडिपस काम्प्लैक्स' (मातृ-रति ग्रथि) इसी कथा पर आवृत है।

२ ल्युन्केउस—अरिस्तोतेलेस' (अरस्तू) के समसामयिक थेओदेक्तेस की कृति। इसका नायक ल्युन्केउस अपनी तीक्ष्ण दृष्टि के लिए प्रसिद्ध था। कहा जाता है इसके नेत्रो में पृथ्वी के गर्भ में झाँक लेने की भी सामर्थ्य थी।

३ दनऔस—ल्युन्केउस का श्वसुर। भाई से कलह हो जाने के कारण यह अपनी पचास पुत्रियो सहित मिस्र से रोड्स चला गया। बाद में अवसर पाकर वहाँ के राजा की अप्रियता से लाभ उठाकर इसने उसे राज्यच्युत करा दिया। इस सफलता का सन्देश पाकर इसके पचास भतीजे जब इससे मिलने आये तो इसने अपनी पुत्रियो का उनसे विवाह कर दिया और उन्हे आदेश दिया कि वे पहली रात को ही अपने पतियो की हत्या कर दें क्योंकि किसी ने भविष्यवाणी की थी कि इसका वध अपने जामाता द्वारा होगा। सब ने पिता की आज्ञा पाली पर ल्युन्केउस की पत्नी ने उसे नही मारा। दनऔस ने उसकी हत्या का विफल प्रयत्न किया। बाद में वही इसके शासन का अधिकारी बना।

से साथ जाता है, परन्तु पूर्ववर्ती घटनाओ के फलस्वरूप ल्युन्केउस बच जाता है और दनऔस मारा जाता है।

अभिज्ञान

अभिज्ञान शब्द से ही स्पष्ट है कि उसमें अज्ञान की ज्ञान मे परिणति का भाव निहित है। इसके कारण उन लोगो के मन मे, जिनके सौभाग्य का वर्णन कवि को अभीष्ट रहता है, परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न हो जाता है—और ऐसे लोगो के मन मे, जिनके दुर्भाग्य का वर्णन अपेक्षित हो, पारस्परिक घृणा उत्पन्न हो जाती है। अभिज्ञान का सबसे उत्कृष्ट रूप वह है जहाँ वह स्थिति-विपर्यय के साथ ही घटित होता है—जैसे ओइदिपूस में। इसके अतिरिक्त अभिज्ञान के और भी रूप है। अत्यन्त नगण्य अचेतन पदार्थ भी एक प्रकार से अभिज्ञान के आधार हो सकते है। हम यह भी पहचान सकते या पता लगा सकते है कि किसी व्यक्ति ने कोई काम किया है या नही। परन्तु जैसा हम पहले कह चुके है कथानक और कार्य-व्यापार के साथ सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध 'व्यक्ति के अभिज्ञान' का ही होता है। ऐसा अभिज्ञान विपर्यय के साथ मिल कर या तो करुणा जगायेगा या त्रास, और हमारी परिभाषा के अनुसार ऐसे ही प्रभावो के उत्पादक कार्य-व्यापारो का त्रासदी में चित्रण किया जाता है। इसके अतिरिक्त सौभाग्य और दुर्भाग्य के प्रश्न भी ऐसी स्थितियो पर ही निर्भर होगे। अस्तु, यदि अभिज्ञान व्यक्तियो मे होता है, तो हो सकता है कि एक व्यक्ति का ही दूसरे के द्वारा अभिज्ञान हो और अभिज्ञाता पहले से ही अभिज्ञात हो, या यह भी हो सकता है कि दोनो का ही परस्पर अभिज्ञान आवश्यक हो। उदाहरण के लिए, पत्र-प्रेषण के द्वारा 'ईफिगेनिआ'[१] को

---

१ ईफिगेनिआ—अगममनोन और क्ल्युतैम्नेस्त्रा की पुत्री। जब यूनानी त्रौइआ-(ट्राय) युद्ध के लिए जा रहे थे तो प्रतिकूल वायु के कारण उन्हे अउलिस में रुकना पड़ा। उस समय उनसे कहा गया कि यदि वे ईफिगेनिआ की बलि देगे तो देवी का क्रोध शान्त होगा। विवश होकर अगममनोन को यह शर्त माननी पडी। जब बलि दी जाने लगी तो ईफिगेनिआ एक सुन्दर हरिणी के रूप में परिवर्तित हो गई।

ओरेस्तेस[1] पहचान लेता है किन्तु ईफिगेनिआ को उससे परिचित कराने लिए अभिज्ञान की एक और आवृत्ति करनी पडती है।

यातना का दृश्य

इस प्रकार कथानक के दो अगो—स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान—मे आकस्मिकता का आधार रहता है। तीसरा अग है यातना का दृश्य। यातना के दृश्य मे घातक या कष्टप्रद व्यापार आते हैं जैसे रगमच पर मृत्यु, शारीरिक पीडा, घाव आदि।

त्रासदी के उन अगो का वर्णन पहले ही हो चुका है जिन्हे उसके सहज तत्त्व मानना चाहिए। अब हम सगठन-सम्बन्धी भागो का विवेचन करेंगे—उन पृथक् भागो का जिनमें त्रासदी का विभाजन किया जाता है प्रस्तावना, उपाख्यान, उपसहार और वृन्दगान जिसके दो भाग है—पूर्वगान और उत्तरगान। ये तो सभी नाटको मे पाये जाते है किन्तु रगमच से अभिनेताओ का गायन तथा समविलाप ऐच्छिक है—वे सब नाटको में नही होते।

१२ त्रासदी के भाग : परिभाषा

प्रस्तावना त्रासदी का वह सम्पूर्ण भाग है जो गायक-वृन्द के पूर्वगान से पहले रहता है। उपाख्यान त्रासदी का वह समग्र अग है जो पूर्ण वृन्दगानो के बीच विद्यमान रहता है। उपसहार त्रासदी का वह पूर्ण अश है जिसके बाद कोई वृन्दगान नही होता। वृन्दगान मे

देवी को उसके भोलेपन पर तरस आया और उसको वह अपने साथ 'तौरिस' ले गयी जहाँ उसने अपने मदिर का कार्य ईफिगेनिआ को सौंप दिया। सौफोक्लेस और ऐस्खुलस ने ईफिगेनिआ की कथा को अपने नाटको का विषय बनाया है।

[1] ओरेस्तेस—अगममनोन और क्लुतैम्नेस्त्रा का पुत्र, ईफिगेनिआ का भाई। क्लुतैम्नेस्त्रा और ऐगिस्थस ने मिलकर अगममनोन की हत्या कर दी। ओरेस्तेस किसी तरह अपनी माँ के हाथ से बच निकला। इसका पालन-पोषण इसके चाचा ने अपने पुत्र के साथ किया। दोनो मे बडी घनिष्ठता थी। बडे होकर ओरेस्तेस ने अपनी माँ, एव पिता के हत्यारे—दोनो को मार डाला। मातृ-हत्या के दोष की निवृत्ति के लिए एक देवदूत ने निर्देश किया कि 'अर्तेमिस' की मूर्ति यूनान लाने से उसकी पाप-मुक्ति हो सकेगी।

पूर्वगान गायक-वृन्द का पहला समवेत उच्चार है। उत्तरगान गायक-वृन्द का वह सम्बोध-गीत है जिसमे सगण* अथवा गुरु लघु-क्रम से द्विमात्रिक चतुष्पदी का प्रयोग न हो। समविलाप गायक-वृन्द और अभिनेताओ का सयुक्त क्रन्दन है। त्रासदी के जो अग उसके अभिन्न तत्त्व समझे जाने चाहिये उनका विवेचन पहले किया जा चुका है—सगठन पर आश्रित पृथक् भागो का, अर्थात् जिन भागो में त्रासदी का विभाजन होता है, वर्णन यहाँ किया गया है।

१३ कारुणिक व्यापार : मूल तत्त्व

इसके आगे अव क्रमानुसार यह विचार करना आवश्यक है कि कथानक के निर्माण में कवि का लक्ष्य क्या होना चाहिए, क्या-क्या नही ग्रहण करना चाहिए और त्रासदी का विशिष्ट प्रभाव किस प्रकार उत्पन्न करना चाहिए ?

जैसा कि हम देख चुके है पूर्णतया सफल त्रासदी का सगठन सरल नही वरन् जटिल होना चाहिए। और उसे करुणा एव त्रास जगाने वाले व्यापारो का अनुकरण करना चाहिये क्योकि यही त्रासदीय अनुकरण का व्यावर्तक धर्म है। एक तो इससे यह स्पष्ट है कि भाग्य-परिवर्तन के प्रत्यकन मे किसी सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखाया जाये—इससे न तो करुणा की उद्‌बुद्धि होगी, न त्रास की, इससे तो हमें आघात पहुँचेगा। साथ ही उसमे किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नही रहना चाहिए, क्योकि त्रासदी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नही हो सकती। इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नही है। इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्‌बुद्धि ही। किसी अत्यन्त खल पात्र का पतन दिखाना भी सगत नही है—इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा,

*यूनानी छन्द शास्त्र मे 'ऐनापीस्ट'—उस 'पद' का नाम है जिसमें लघु-गुरु-गुरु का क्रम रहता है। भारतीय छन्द शास्त्र में इसका सबसे निकटवर्ती रूप 'सगण' है।

परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नही हो सकेगा क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जागृत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से। अत ऐसी घटना से न करुणा उत्पन्न होगी, न त्रास। अब, इन दो सीमान्तो के बीच का चरित्र रह जाता है—ऐसा व्यक्ति जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नही है फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नही वरन् किसी कमज़ोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एव समृद्ध होना चाहिए जैसे ओइदिपूस,* थ्युएस्तेस[1] अथवा ऐसा ही कोई अन्य यशस्वी कुलीन पुरुष।

सुगठित कथानक इकहरा होना चाहिए, दोहरा नही—जैसी कि कुछ लोगो ने स्थापना की है। भाग्य-परिवर्तन अपकर्ष से उत्कर्ष मे नही होना चाहिए वरन् इसके विपरीत उत्कर्ष से अपकर्ष मे होना चाहिए। यह किसी दुर्गुण का नही वरन् किसी भयकर भूल या कमज़ोरी का परिणाम होना चाहिए, और पात्र या तो जैसा हम पहले कह चुके है वैसा होना चाहिए, या उससे अच्छा हो, बुरा नही। रगमच की परम्परा हमारे इस दृष्टिकोण की पुष्टि करती है। आरम्भ में कविजन किसी भी दन्तकथा को यो ही कही से ग्रहण कर उसका पुनर्कथन कर देते थे, किन्तु अब सर्वश्रेष्ठ त्रासदियाँ कुछ ही परिवारो की कथाओ पर

---

*ओइदिपूस (ईडिपस)—अन्तर्कथा पीछे देखिए।

१ थ्युएस्तेस—पलोतस और हिपोदेमेआ का पुत्र। अपने भाई की स्त्री के साथ इसका अनुचित सम्बन्ध था। भाई ने प्रतिकार के उद्देश्य से इसे भोजन के लिए आमन्त्रित किया और इसी के पुत्रो का मास खाने को दिया। जब थ्युएस्तेस को उनके पुत्र का शव दिखाया गया तो वह विक्षुब्ध होकर भाग गया। यह ऐसा नृशस कृत्य था कि पुराकथाओ के अनुसार सूर्य ने भी अपना पथ बदल दिया। अन्त में जो राज्य भाई ने छीन लिया था वह थ्युएस्तेस को मिल गया। इसी चरित्र पर आवृत करकीनस की एक रचना है। (देखिए पाद-टिप्पणी पृष्ठ ४२)।

आधृत होती है—उदाहरण के लिए आजकल वे अल्कमैऔन[१], ओड-दिपूस, ओरेस्तेस, मेलेअगेर[२], थ्युएस्तेस, तेलेफस[३] या अन्य ऐसे ही लोगो की जीवन घटनाओ पर आश्रित होनी है जो किसी भयकर कृत्य के कर्त्ता या भोक्ता रहे हो ।

---

१ अल्कमैऔन—अम्फिअरउस और एरिफ्युले का पुत्र । एक कण्ठहार के लालच से इसकी माँ ने अपने पति को हठात् थेबिअस के विरुद्ध युद्ध में भेजना चाहा । अम्फिअरउस जानता था कि मैं युद्ध से जीवित वापस न आऊँगा । उसने अपने पुत्र अल्कमैऔन से कहा कि तुम अपनी माता की हत्या कर दो । उसने पिता की आज्ञा का पालन किया । दण्डस्वरूप देवताओ ने उसे पागल कर दिया । अल्कमैऔन की पत्नी ने भी वही हार लेने की इच्छा की और वही अलकमैऔन की मृत्यु का भी कारण बना ।

२ मेलेअगेर—कैलिदोन के राजा ओनिउस और अलेथिआ का पुत्र । इसके जन्म के अवसर पर कुछ लोगो ने भविष्यवाणी की थी कि यह अपूर्व वीर, साहसी और बलशाली होगा । अत्रोपोस ने कहा कि जब तक एक विशेष लकडी जो उस समय अग्नि में जल रही थी समाप्त नही होगी, इसका जीवन निरापद रहेगा । यह सुनकर इसकी माँ ने वह लकडी उठा कर अपने पास सँभाल कर रख ली । मेलेअगेर ने अर्गोनोतूस की लडाई में भाग लिया और उस भयकर रीछ को मार डाला जो उसके पिता के देश को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा था । रीछ का सिर इसने अतलत को भेंट कर दिया जिसने पहले-पहल उस रीछ को घायल किया था । इस पक्षपात पर उसके मामा उससे कुपित हो गये और रीछ का सिर छीनने की कोशिश करने लगे । परिणामत इसने अपने सब मामाओ का वध कर डाला । भाइयो की मृत्यु से क्षुब्ध होकर अलेथिआ ने वह लकडी, जो उसके पास सुरक्षित रखी थी, आग की लपटो को सौंप दी उसके जल चुकने पर तुरन्त ही मेलेअगेर की मृत्यु हो गई ।

३ तेलेफस—म्युसिया का राजा जिसने त्रौइआ-युद्ध में जाते हुए यूनानियो के अवरोध का प्रयत्न किया । अखिल्लेस (एकिलीस) द्वारा आहत हुआ । जब इसे पता चला कि घायल करने वाला ही मुझे ठीक कर सकता है तो यह यूनानियो के शिविर मे पहुँचा । इसी बीच यूनानियो को भी ज्ञात हो गया था कि हमे इसकी आवश्यकता पडेगी । फलत अखिल्लेस ने अपने भाले के जग से इसे नीरोग कर दिया ।

अस्तु, कला-सम्बन्वी नियमो की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण होने के लिए त्रासदी का सगठन इसी प्रकार का होना चाहिए। अत वे लोग गलती पर है जो एउरिपिदेस[1] (यूरिपाइडिस) की इसीलिए निन्दा करते है कि उसने अपने नाटको में—जिनमे से अनेक शोकान्तक है—इन सिद्धान्तो का अनुसरण किया है। जैसा कि हम पहले कह चुके है इसी प्रकार का अन्त ठीक होता है। इसका सबसे बडा प्रमाण तो यह है कि सफलतापूर्वक प्रस्तुत किये जाने पर, रगमच पर अभिनय के समय ऐसे ही नाटक सबसे अधिक कारुणिक प्रभाव उत्पन्न करते है। और, कवियो में कारुणिक प्रभाव की सबसे अधिक क्षमता एउरिपिदेस मे ही है, चाहे अपनी विषय-वस्तु के सामान्य प्रबन्धन मे वह कितना ही दोषी क्यो न हो।

दूसरी कोटि के अन्तर्गत त्रासदी का वह रूप आता है जिसे कुछ लोग प्रथम कोटि का मानते है। ओद्युस्सेइआ (ओडिसी) की तरह उसमें कथानक का दोहरा सूत्र रहता है—सत्पात्रो के लिए उसका अन्त एक प्रकार से होता है, दुष्पात्रो के लिए दूसरे प्रकार से। इसे प्रेक्षक-समाज की कमज़ोरी के कारण सबसे अच्छा समझा जाता है, क्योकि इसकी रचना कवि प्रेक्षको की इच्छा के अधीन होकर करता है। इससे प्राप्त आनन्द त्रासदी का सच्चा आनन्द नही है वरन् यह तो कामदी के उपयुक्त है जहाँ मूलकथा मे वर्णित कट्टर से कट्टर शत्रु भी जैसे ओरेस्तेस और ऐगिस्थस अन्त मे मित्र बन कर रगमच से जाते है, जहाँ न कोई वध करता है, न किसी का वध होता है।

१४. रंग-विधान

त्रास और करुणा की उद्बुद्धि रगमच के प्रसाधनो से भी की जा सकती है, किन्तु वे कृति के आन्तरिक सगठन से भी उत्पन्न हो सकते है—यही पद्धति अधिक सुन्दर है और कवि की उत्कृष्टता की

---

१. एउरिपिदेस—यूनानी त्रासदीकारो में सबसे छोटा और आधुनिक विचार-सम्पन्न। इनके पात्र जीवन्त और मानव-भावनाओ से युक्त होते हैं। इसने लगभग ९० नाटक रचे।

द्योतक है। कथानक का सगठन ऐसा होना चाहिए कि प्रेक्षण के बिना भी कथा के श्रवण मात्र से ही सहृदय भय से कॉप जाये और करुणार्द्र हो उठे। ओइदिपूस की कहानी सुनने से हमारे मन पर यही प्रभाव पडता है। रग-विधान द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करना उतना कलात्मक नही है और वह बाह्य साधनो पर भी निर्भर है। जो रगमच के साधनो का उपयोग भयानक की नही वरन् विद्रूप की चेतना (भय के स्थान पर स्तम्भ) उत्पन्न करने के लिए करते है वे त्रासदी के प्रयोजन से नितान्त अनभिज्ञ है। त्रासदी से हम सभी प्रकार के नही वरन् उसके अपने विशिष्ट प्रकार के आनन्द की ही अपेक्षा कर सकते है और चूंकि यह आनन्द अनुकरण के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है अत स्पष्ट है कि इस गुण की स्थिति घटनाओ में ही होनी चाहिए ।

अब आगे हम यह विचार करेगे कि ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ है जो भयानक और करुणाजनक होती है।

उदाहरण

उपर्युक्त प्रभाव उत्पन्न करने वाले कार्य-व्यापार ऐसे व्यक्तियों के बीच ही होगे जो परस्पर मित्र हो, या शत्रु हो या उदासीन। यदि शत्रु शत्रु का वध करता है तो इस कृत्य मे या उसके सकल्प में ऐसी कोई बात नही जो करुणा जगाये—हाँ, यातना का दृश्य अपने आप में करुणाजनक अवश्य होगा। परस्पर उदासीन व्यक्तियो के विषय में भी यही सत्य है। परन्तु, जब यह दारुण घटना ऐसे लोगो के बीच होती है जिनमे घनिष्ठता या स्नेह-सम्बन्ध हो (जैसे यदि भाई-भाई की, पुत्र पिता की, माँ बेटे की, अथवा बेटा माँ की हत्या करे या करना चाहे अथवा इसी प्रकार का कोई और कृत्य हो), तो कवि इन स्थितियो की स्पृहा कर सकता है। परम्परा से प्राप्त दन्त-कथाओ के—जैसे ओरेस्तेस द्वारा क्ल्युतैम्नेस्त्रा[1] की और अल्कमैऔन द्वारा एरि-

१. क्ल्युतैम्नेस्त्रा—देखिए ओरेस्तेस की कथा।

फ्युल[1] की हत्या आदि के—घटना-विधान को अस्त-व्यस्त करने की आवश्यकता नही, परन्तु कवि को अपनी उद्भावना-शक्ति का परिचय देना चाहिए और परम्परागत सामग्री का कौशल से प्रयोग करना चाहिए। 'कौशल से प्रयोग' का क्या अभिप्राय है, इसे और स्पष्ट कर दिया जाये।

एक तो कार्य-व्यापार (कर्ता द्वारा) इच्छापूर्वक और (सम्बन्धित) व्यक्तियो का ज्ञान रहने पर भी सम्पन्न कराया जा सकता है—जैसा प्राचीन कवि करते थे। एउरिपिदेस मेदेआ[2] से इसी तरह उसके बच्चो का वध कराता है। या फिर यह दारुण कृत्य अनजाने में कराया जा सकता है—मित्रता या सम्बन्ध का उद्घाटन बाद में हो। सॉफोक्लेस का ओइदिपूस नामक नाटक इसका उदाहरण है। यह ठीक है कि यहाँ यह घटना नाटक की कथावस्तु का अंग नही है किन्तु ऐसे उदाहरण भी है जहाँ वह नाटक के कार्य-व्यापार के अन्तर्गत ही आती है—अस्त्युदमस[3] के 'अल्कमैऑन' या 'आहत ओद्युस्सेउस'

---

१ एरिफ्युले—देखिए अल्कमैऑन की कथा।

२ मेदेआ—यूनानी पुराकथाओ के अनुसार एक जादूगरनी, कोलखिस के राजा की पुत्री। जब जेसन कोलखिस आया तो मेदेआ से उसका प्रेम हो गया। मेदेआ की सहायता से जेसन उसके पिता द्वारा उपस्थित सब कठिनाइयो को पार करता गया और अन्तत दोनो जेसन के पिता के देश आ गये। वहाँ भी मेदेआ ने उसकी बहुत सहायता की। दोनो को किसी कारण बाद में कोरिन्थ भाग आना पडा। यहाँ जेसन ने एक राजकुमारी के प्रेमपाश में फँसकर मेदेआ को छोड दिया। उसने बदला लेने के लिए अपने दोनो पुत्रो और ग्लउनी—राजकुमारी को मार डाला। फिर उसने थेसिअस के पिता से विवाह कर लिया। थेसिअस का प्रभाव अपने पिता पर न पडे इसलिए उसे जहर दिलाने का षड्यन्त्र रचा। अन्त में वह भाग कर एशिया चली गयी। एउरिपिदेस की एक त्रासदी की मुख्य पात्र।

३ अस्त्युदमस—इसोक्रतेस का शिष्य। २४० त्रासदियो का लेखक—जिनमें १५ पुरस्कृत हुई।

में तैलेगौनस[१] के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। एक और तीसरी अवस्था यह हो सकती है कि सम्बन्धित व्यक्तियो का ज्ञान रहते हुए भी कृत्य किया ही जाने वाला हो किन्तु फिर किया न जाये। चौथी अवस्था यह है कि एक व्यक्ति अज्ञानवश कोई अप्रतिकार्य कर्म करने वाला हो, किन्तु उससे पहले ही वस्तु-स्थिति का उद्घाटन हो जाए। इस प्रसग मे ये ही विकल्प सम्भव है क्योकि कृत्य या तो होगा या नही होगा—और वह या तो जान कर किया जायेगा या अनजाने मे। किन्तु इन में यह स्थिति सबसे निकृष्ट है कि कोई पात्र (सम्बन्धित) व्यक्तियो को जानकर भी कृत्य करने वाला हो और फिर न करे। इससे क्षोभ होता है, करुणा नही, क्योकि इसके फलस्वरूप कोई अनर्थ तो होता नही। इसीलिए यह स्थिति काव्य मे नही मिलती और यदि मिलती भी है तो बहुत कम। इस प्रकार का एक उदाहरण अन्तिगोने[२] में अवश्य मिलता है जहाँ हैमौन[३] क्रेऔन[४] को मारने की धमकी देता है। अगला और इससे अच्छा तरीका यह है कि कृत्य का निष्पादन हो जाये। इससे भी उत्कृष्ट यह है कि कृत्य अनजाने मे किया जाये और वास्तविकता का उद्घाटन बाद में हो। ऐसी स्थिति मे हमें कोई आघात नही पहुँचता और उधर वास्तविकता का उद्घाटन हमे आश्च-

---

१ तैलेगौनस—ओद्युस्सेउस का पुत्र। ईआ द्वीप में जन्म और शिक्षा पाई। अपने पिता से मिलने के लिए युवावस्था में इथाका आ रहा था पर जहाज टूट जाने के कारण न जा सका, और वही लूट-मार करने लगा। स्वय ओद्युस्सेउस इसके दमन के लिए आया। वस्तु-स्थिति को न जानते हुए तैलेगौनस ने पिता की हत्या कर दी।

२ अन्तिगोने—, ३ हैमौन—, ४ क्रेऔन— } अन्तिगोने—ओइदिपूस और जोकास्ता की पुत्री। भाइयो के बीच झगडा होने पर जब उनमें से एक की मृत्यु हो गयी तो वहाँ के राजा क्रेऔन की आज्ञा के विरुद्ध इसने उसे दफन कर दिया। इस पर क्रेऔन के आदेश से यह जीवित दफना दी गयी। इसकी मृत्यु पर क्रेऔन के पुत्र हैमौन ने प्राण दे दिये क्योकि वह उसे प्यार करता था।

र्यचकित कर देता है। अन्तिम स्थिति सर्वश्रेष्ठ है—यथा, क्रेस्फोन्तेस[1] में मेरोपे[2] अपने पुत्र की हत्या करना ही चाहती है कि उसे पहचान लेती है और छोड देती है। इसी तरह ईफिगेनिआ मे बहन समय पर भाई को पहचान लेती है।

हेलै[3] मे भी पुत्र माँ का परित्याग करना ही चाहता है कि उसे पहचान लेता है। इसीलिए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, त्रासदी की विषय-वस्तु कुछ ही परिवारो की जीवन-गाथा से ग्रहण की जा सकती है। 'उपयुक्त' विषय का अन्वेषण करते हुए कवियो ने अपने कथानको को कारुण्य भाव से मुद्रित कर दिया—यह सयोग मात्र था, कला-चातुर्य नही। अत उन्हें ऐसे ही परिवारो का आश्रय लेना पडता है जिनके इतिहास मे इस प्रकार की मार्मिक घटनाएँ विद्यमान हो।

अब इस विषय पर काफी कहा जा चुका है कि श्रेष्ठ कथानक कैसा होता है और घटनाओ का सगठन किस प्रकार का होना चाहिए।

१५. चरित्र

चरित्र के विषय मे चार बातो पर ध्यान रखना चाहिए। पहली और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह भद्र हो। नैतिक उद्देश्य का द्योतन करने वाला कोई भी वक्तव्य या कार्य-व्यापार चरित्र का व्यजक होगा यदि उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण

---

१ 'क्रेस्फोन्तेस' नामक पात्र पर आधृत कृति। अरिस्तोमखस का पुत्र और पेलोपोनेसस के विजेताओ में से एक। यह और इसके दो पुत्र मेसेनिया के विद्रोह मे मारे गये थे, तीसरे पुत्र ऐप्युतस ने उनकी मृत्यु का बदला लिया।

२. मेरोपे—क्युप्सेलस की पुत्री और ऐप्युतस की माता।

३ हेलै—अथमस और नेफेले की पुत्री। सास के अत्याचार से परित्राण पाने के लिए अपने पिता के घर से भाई के साथ भाग गयी। हवा में उडते समय उसका मन क्षुब्ध हो गया और वह समुद्र में जा गिरी। जिस स्थान पर वह गिरी उसका नाम 'हेलैस्पोण्ट' पड गया।

प्रत्येक वर्ग मे सम्भव है। स्त्री भी भद्र हो सकती है, दास भी—यद्यपि स्त्री को कुछ निम्न स्तर का प्राणी कह सकते है और दास तो विल्कुल ही निकृष्ट जीव होता है। दूसरी बात ध्यान रखने की है औचित्य। पुरुष मे एक विशेष प्रकार का शौर्य होता है परन्तु नारी-चरित्र मे शौर्य या (नैतिक-विवेक-शून्य) चातुर्य का समावेश अनुचित होगा। तीसरे,चरित्र जीवन के अनुकूल होना चाहिए—यह गुण पूर्वोक्त 'भद्रता' और 'औचित्य' से भिन्न है। चौथी बात यह है कि चरित्र मे एकरूपता होनी चाहिए। हो सकता है कि मूल अनुकार्य के चरित्र मे अनेकरूपता हो, किन्तु फिर भी यह अनेकरूपता ही एकरूप होनी चाहिए। चरित्र के अहेतुक पतन का उदाहरण है ओरेस्तेस में मेनेलाउस[1], अशोभन तथा अनुचित चरित्र के उदाहरण है स्क्युल्ला[2] मे ओद्युस्सेउस का क्रन्दन, और मेलनिप्पे[3] के वचन अनेकरूपता का निदर्शन अउलिस[4] मे ईफिगेनिआ मे हुआ है—क्योकि ईफिगेनिआ का वह

---

१ मेनेलाउस—स्पार्ता का राजा। अगममनोन का भाई और हेलेन का सफल प्रेमी। जब प्रिअम के पुत्र पेरिस ने हेलेन को चुरा लिया तो इसने हेलेन के सभी प्रेमियो को इकट्ठा किया और उसे बचाने के लिए त्रौइआ के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। त्रौइआ की हार के बाद यह पुन हेलेन से मिल गया।

२ स्क्युल्ला—एक परी थी। पोसीदौन इसका प्रेमी था। समुद्र का एक देवता ग्लौकस भी इससे प्रेम करता था। ईर्ष्यावश जहाँ यह नहाने जाती थी वहाँ किसी ने एक बार जादू की बूटियाँ रख दी जिसके फलस्वरूप यह चट्टान में परिवर्तित हो गयी। कीट्स ने अपनी एक कविता में इसका उल्लेख किया है।

३ मेलनिप्पे—अपोलस की एक पुत्री। नेपच्यून से इसके दो पुत्र हुए, इसीलिए इसके पिता ने क्रुद्ध होकर इसकी दोनो आँखे निकाल ली और कारागार मे डाल दिया। इसके पुत्रो ने बाद में इसे कारा से मुक्त किया और नेपच्यून ने पुन दृष्टि दी।

४ अउलिस—एपिरस पर स्थित एक प्राचीन यूनानी समुद्र-पत्तन। त्रौइआ पर अभियान करने से पूर्व यूनानी बेड़ा यहाँ एकत्रित हुआ था।

अनुनयशील रूप उसके वाद के आचार से किसी तरह मेल नही खाता।

कथानक के सगठन की भाँति चरित्र-निरूपण मे भी कवि को सदैव अवश्यम्भावी या सम्भाव्य को ही अपना लक्ष्य वनाना चाहिए। जैसे आवश्यक या सम्भाव्य पूर्वापरता-क्रम से एक के वाद दूसरी घटना आती है वैसे ही आवश्यकता या सम्भाव्यता-नियम के अधीन किसी विशिष्ट चरित्र के व्यक्ति को अपने विशिष्ट ढग से ही वोलना या काम करना चाहिए। अत स्पष्ट है कि सवृति की भाँति कथानक की विवृति भी कथानक में से ही उद्भूत होनी चाहिए—यान्त्रिक अवतारणा द्वारा उसे सम्पन्न कराना उचित नही—जैसा मेदेआ मे या ईलिअद के अन्तर्गत यूनानियो के प्रत्यागमन मे हुआ है। यान्त्रिक अवतारणा का उपयोग तो केवल नाटक के वाहर की घटनाओ के लिए करना चाहिए—या तो उन पूर्वभूत घटनाओ के लिए जो मानव-ज्ञान की परिधि के वाहर हो, या फिर ऐसी भावी घटनाओ के लिए जिनकी सूचना पहले से देना आवश्यक हो क्योकि देवताओ को तो हम सर्वज्ञ मानते है। नाटक के कार्य में कोई ऐसी वात नही होनी चाहिए जो विवेक-सम्मत न हो, यदि उससे किसी तरह निस्तार न हो सके तो त्रासदी की परिधि से उसे वाहर ही रखना चाहिए जैसा सॉफोक्लेस के ओइदिपूस मे है।

चूंकि त्रासदी मे ऐसे व्यक्तियो की अनुकृति रहती है जो सामान्य स्तर से ऊँचे होते हैं अत उसमे श्रेष्ठ चित्रकारो का आदर्श सामने रखना चाहिए। ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते है जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कही अधिक सुन्दर भी होती है। इसी प्रकार कवि को भी चाहिए कि चिडचिडे, आलसी या अन्य दोप-युक्त व्यक्ति का चित्रण करते समय जातिगत प्ररूप की रक्षा तो करे किन्तु साथ ही उसके चरित्र को और भी उदात्त वना दे। अगर्थान

और होमेरस (होमर) ने अखिल्लेस[१] (एकिलीस) का इसी प्रकार चित्रण किया है।

इस प्रसग में कवि को इन्ही नियमो का पालन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे ऐन्द्रिय-प्रसादन के उन साधनो की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए जो काव्य के अनिवार्य अग न होकर भी उसके सहचारी अवश्य है। इसमें भी भूल होने की बडी सम्भावना रहती है। पर इस सम्बन्ध में हमारे प्रकाशित प्रबन्धो में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है।

अभिज्ञान क्या है इसकी व्याख्या हम पहले ही कर चुके है। अब हम उसके भेदो का वर्णन करेंगे।

१६. अभिज्ञान के भेद

पहला भेद है चिह्नो के द्वारा अभिज्ञान यह सबसे कम कलात्मक है पर विदग्धता के अभाव मे इसका ही सबसे अधिक प्रयोग किया जाता है। इन चिह्नो मे से कुछ जन्मजात होते है— यथा पृथ्वी से उत्पन्न (थीवी) जाति के मनुष्यो के शरीरो पर अकित वर्छे का चिह्न, अथवा 'तारो के चिह्न' जिनका उल्लेख करकीनस[२] ने अपने 'थ्युएस्तेस' में किया है। दूसरे चिह्न जन्म के बाद धारण किये जा सकते है—इनमे शरीर के निशान भी हो सकते है जैसे घाव के चिह्न आदि, और बाह्य उपकरण भी जैसे कठहार, या कोई छोटी नौका आदि जिसके द्वारा 'त्युरो' (टायरो) में रहस्य का उद्घाटन होता है। इनका उपयोग भी कौशल-सापेक्ष है। व्रण-चिह्न के आधार पर

---

१ अखिल्लेस—त्रोइआ-महायुद्ध में यूनान के पक्ष का सबसे प्रमुख योद्धा। शैशव काल में इसकी माँ ने इसे एडी पकड कर स्टाइक्स में डाल दिया था। इस प्रकार इसका समूचा शरीर तो अत्यन्त वलिष्ठ हो गया था, केवल एडियाँ दुर्वल रह गयी। त्रोइआ-महायुद्ध में पेरिस ने इसकी एडी पर आघात किया और इसी घाव के फलस्वरूप इसकी मृत्यु हुई।

२ करकीनस—मेसिदोन मे फिलिप के समय का एक त्रासदीकार।

ओद्युस्सेउस का अभिज्ञान धाय एक तरह से करती है और डोम दूसरी तरह से। अभिज्ञान-चिह्नो का प्रयोग व्यक्त रूप से प्रमाण के लिए करना—वास्तव में ऐसे चिह्नो के द्वारा या इनके विना किसी प्रकार का औपचारिक प्रमाण प्रस्तुत करना—अभिज्ञान का उतना कलात्मक ढग नही है। इसमे अच्छा ढग तो यह है कि अभिज्ञान का कार्य घटना-चक्र के द्वारा सम्पन्न हो—जैसे ओद्युस्सेइआ के स्नान-दृश्य मे होता है।

इसके वाद 'अभिज्ञान' के वे भेद आते है जिनका आविष्कार कवि मनमाने ढग से कर लेता है और इसलिए जिनमे कला का अभाव होता है। उदाहरण के लिए ईफिगेनिआ में ओरेस्तेस स्वय कहता है कि मै ओरेस्तेस हूँ। ईफिगेनिआ तो अपने आपको पत्र द्वारा प्रकट करती है पर ओरेस्तेस स्वय कह कर, और ओरेस्तेस जो कुछ कहता है वह कथानक की आवश्यकता नही है, कवि की इच्छा है। इस प्रकार यह दोष भी उसी से मिलता-जुलता है, जिस का ऊपर उल्लेख किया, गया है, क्योकि यो तो ओरेस्तेस अपने साथ अभिज्ञान-चिह्न भी तो ला सकता था। सौफोक्लेस के तेरेउस[1] मे 'ढरकी की आवाज़' (वौइस आफ दी शटिल) भी ऐसा ही उदाहरण है।

अभिज्ञान का तीसरा प्रकार स्मृति पर निर्भर है जब कि किसी वस्तु के दर्शन से मन मे कोई भाव जागृत हो जाता है—जैसे दिकए-ओजेनेस के क्युप्रिअन्स में नायक चित्र को देख फूट-फूट कर रोने लगता है, या 'अल्किनोउस-सम्बन्धी वीर गीत' मे ओद्युस्सेउस वीणा-वादन सुन अतीत की याद कर रो उठता है—और इस तरह अभिज्ञान हो जाता है।

चौथा प्रकार है वितर्क द्वारा अभिज्ञान : जैसे

---

१ तेरेउस—थ्रेस का एक शासक। इसने एथेन्स-नरेश की पुत्री प्रोक्ने से विवाह किया और उसके विरुद्ध युद्ध में सहायता भी दी। इसी के चरित्र पर आधृत कृति।

खोएफोराइ[1] मे 'कोई ऐसा व्यक्ति आया है जिसकी आकृति मुझसे मिलती है और मुझसे यदि किसी की आकृति मिलती है तो ओरेस्तेस की—इसलिए ओरेस्तेस ही आया है।'

सोफिस्ट पोल्युइदुस[2] के नाटक मे ईफिगेनिआ को भी इसी प्रकार रहस्य की अवगति होती है। ओरेस्तेस का यह सोचना और कहना स्वाभाविक ही था "आखिर मुझे भी अपनी बहन की तरह बलिवेदी पर प्राण देना पडा।" इसी प्रकार थेओदेक्तेस[3] के त्युदेउस मे पिता कहता है "मै अपने पुत्र को ढूंढने आया था और यहाँ अपने ही प्राणो पर आ बनी।" फिनेइदाइ[4] मे स्त्रियाँ स्थान विशेष को देखकर समझ लेती है कि उनके भाग्य में क्या बदा है "यही हमारे प्राणो का अन्त होगा क्योकि यही हम आश्रय-विहीन हुई थी।" अभिज्ञान का एक मिश्र प्रकार भी होता है जिसके अन्तर्गत कोई एक चरित्र कुछ गलत निष्कर्ष निकाल लेता है जैसे 'सन्देशवाहक के भेष में ओद्युस्सेउस' मे*। 'क' ने कहा (ओद्युस्सेउस के अतिरिक्त) अन्य कोई धनुष

---

१ खोएफोराइ—अगममनोन, क्ल्युतैम्नेस्त्रा और ओरेस्तेस की कथा पर आधृत ऐस्ख्युलस की सबसे महान् एव अन्तिम कृति। इसका रचना-काल ४८५ ई० पू० है—तभी यह कृति पुरस्कृत भी हुई थी। इसमें तीन त्रासदियाँ एक ही में सग्रथित है—इसके अतिरिक्त इस प्रकार की कोई भी अन्य यूनानी कृति (ट्राइलॉजी) अब उपलब्ध नही।

२ पोल्युइदुस का उल्लेख अरस्तू के प्रस्तुत प्रसग के अतिरिक्त और कही भी नही मिलता।

३ थेओदेक्तेस—एक यूनानी वक्ता और कवि। इसने चालीस त्रासदियो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे जो अप्राप्य है। यह कवि अपूर्व स्मरण-शक्ति से सम्पन्न था। त्युदेउस थेओदेक्तेस की ही एक कृति का नाम है।

४ फिनेइदाइ—(फिनिसियाई रमणियाँ)—एउरिपिदेस की एक त्रासदी का नाम। इसकी रचना ४१३ ई० पू० के पश्चात् हुई।

*इस अभिज्ञान का एक सश्लिष्ट प्रकार भी है जो सामाजिको की भ्रान्ति पर आधृत रहता है—जैसे 'सन्देशवाहक के भेष में ओद्युस्सेउस' में। काव्य में कवि यह धारणा उत्पन्न करता है कि धनुष पर ओद्युस्सेउस के अतिरिक्त

को नही चढा सकता।" अतएव 'ख' (अर्थात् छद्मवेशी ओद्युस्सेउस) ने यह सोचा कि 'क' धनुष को पहचान लेगा, जिसे उसने वास्तव मे देखा नही था। और इस आधार पर अभिज्ञान सम्पन्न कराना कि 'क' धनुष को पहचान लेगा दुष्ट तर्क है।

सर्वश्रेष्ठ अभिज्ञान वह है जो घटनाओ मे से ही उद्भूत होता है—जहाँ आश्चर्यजनक रहस्योद्घाटन स्वाभाविक साधनो से ही होता है। सौफोक्लेस के ओद्युस्सेउस मे ऐसा ही हुआ है और ईफिगेनिआ में भी—क्योकि ईफिगेनिआ के मन मे पत्र भेजने की इच्छा होना स्वाभाविक ही था। इस तरह अभिज्ञान-चिह्नो और 'रक्षा-यत्रो' द्वारा अस्वाभाविक साधनो से मुक्ति मिल सकती है। इसके बाद दूसरा स्थान वितर्क-अभिज्ञान का है।

१७ कल्पना

कथानक का सगठन और उचित शब्दावली मे उसकी अभिव्यक्ति करते समय जहाँ तक हो सके कवि को दृश्य अपनी आँखो के सामने रखना चाहिए। इस तरह प्रत्येक वस्तु का अत्यन्त स्पष्ट रूप मे साक्षात्कार करने से—मानो समस्त कार्य-व्यापार ही आँखों के सामने हो—कवि पर यह प्रकट हो जायेगा कि कौन-कौन से तथ्य कार्य-व्यापार के अनुकूल है, और किसी प्रकार की असगति रह जाने की सम्भावना बहुत कम हो जायेगी। करकीनस[1] के दोषो को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि यह नियम कितना आवश्यक है।

कोई प्रत्यचा नही चढा सकता—यह पूर्वपक्ष है जिसे मन मे रखकर हम आगे चलते है, विशेषकर इसलिए कि ओद्युस्सेउस कहता है, "मै धनुष को चढा दूगा"; यद्यपि उसने धनुष देखा नही था। भ्रान्ति यह है कवि हमे यह सोचने की प्रेरणा देता है कि ओद्युस्सेउस इस तरह अपने आपको प्रकट करेगा परन्तु वस्तुत. वह इस कार्य को दूसरी तरह सम्पन्न कराता है। (पाँट्स-कृत अनुवाद के आधार पर)

१. करकीनस—देखिए पाद-टिप्पणी, पृष्ठ ८२

'अम्फिअरउस[1] मन्दिर से प्रस्थान कर चुका था' जिसने दृश्य को अपनी आँखो के सामने नही रखा उससे यह तथ्य छूट गया। किन्तु अभिनय के समय कवि के इस प्रमाद पर प्रेक्षक क्षुब्ध हो गये और मच पर नाटक असफल रहा।

कवि को नाटक की रचना मे यथाशक्ति उपयुक्त भगिमाओ तथा चेष्टाओ का चित्रण करना चाहिए। जो कवि भाव की अनुभूति करके लिखता है उसी का सबसे अधिक प्रभाव पडता है क्योकि उसकी अपने पात्रो के साथ सहज सहानुभूति होती है। क्षोभ और क्रोध का स्वय अनुभव करने वाला कवि ही पात्रगत क्षोभ और क्रोध को जीवन्त रूप मे अभिव्यक्त कर सकता है। अत काव्य-सृजन के लिए कवि मे प्रकृति-दत्त प्रतिभा अथवा ईषत् विक्षेप आवश्यक है। पहली स्थिति में कवि किसी भी चरित्र के साथ तादात्म्य कर सकता है और दूसरी मे वह 'स्व' की भूमिका से ऊपर उठ जाता है।

उपाख्यानो का नियोजन

जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है—चाहे वह ख्यात हो या उत्पाद्य-कवि को सबसे पहले एक सामान्य रूपरेखा तैयार कर लेनी चाहिए और फिर उसमें उपाख्यानो का समावेश तथा विवरण-विस्तार करना चाहिए। सामान्य रूप-रेखा का उदाहरण 'ईफिगेनिआ' से प्रस्तुत किया जा सकता है। एक युवती कन्या की बलि होने वाली है, वह बलि-कर्ताओ की आँखो के सामने से रहस्यपूर्ण ढग से तिरोहित हो जाती है, उसे एक अन्य देश मे स्थानातरित कर दिया जाता है जहाँ पर अज-

---

१ अम्फिअरउस—यूनानी पुराकथाओ में अदरस्तुस का बहनोई। अदरस्तुस थीबो के विरुद्ध आरगाइव अभियान का अग्रणी था। अम्फिअरउस उसमें भाग नही लेना चाहता था क्योकि वह जानता था कि वह नष्ट हो जायगा। वह छिप गया परन्तु पोल्युनिकेस के प्रलोभनो मे आकर उसकी पत्नी एरिफ्युले ने उसका पता बता दिया। थीब्स मे आरगाइव सेनानियो के पलायन मे अम्फिअर-उस और उसका रथ पृथ्वी के गर्भ मे समा गये।

नदी को देवी की भेंट चढा देने की प्रथा है। यह कार्य-भार उसे सौंपा जाता है, कुछ समय पश्चात् सयोग से उसका अपना भाई ही वहाँ पहुँच जाता है। आकाशवाणी ने किसी कारणवश उसे वहाँ जाने के लिए प्रेरित किया था—यह तथ्य नाटक की सामान्य रूप-रेखा के बाहर है। उसके वहाँ आने का प्रयोजन भी कार्य-व्यापार का अग नही है। किन्तु वह आता है, वन्दी कर लिया जाता है और जब वलि होने ही वाली है तो उसके शब्दो से यह रहस्य खुल जाता है कि वह कौन है। अभिज्ञान की विधि या तो एउरिपिदेस की जैसी हो सकती है या पोल्युइदुस की जैसी जिसके नाटक में वह बडे स्वाभाविक ढग से कह उठता है "मेरी वहन के ही नही, मेरे भाग्य मे भी इसी तरह वलि होना वदा था," और उस उक्ति के कारण उसके प्राण वच जाते है।

इसके वाद, एक वार नाम दे दिये जाने पर, उपाख्यानो का यथा-स्थान समावेश करना रह जाता है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वे कार्य से सम्बद्ध हो। उदाहरण के लिए ओरेस्तेस विक्षेप के कारण वन्दी वनाया गया और अघमर्षण सस्कार द्वारा उसकी मुक्ति हुई। नाटक मे उपाख्यान छोटे-छोटे होते है, पर महाकाव्य का विस्तार इन्ही के कारण होता है। इसी प्रकार ओद्युस्सेइआ की कथा का भी सक्षेप में वर्णन हो सकता है। एक पुरुष विशेष अनेक वर्ष तक प्रवास करता है, पोसेइदोन[1] उस पर कडी निगरानी रखता है और वह विल्कुल निस्सहाय हो जाता है। उधर, उसका घर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। उसकी पत्नी के प्रेमी सारी सम्पत्ति नष्ट कर रहे है और उसके पुत्र के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे है। तूफान मे फँसने के वाद भी अन्त मे वह किसी तरह वच कर घर पहुँच जाता है, कुछ लोगो को

१ पोसेइदोन—रोमी इसे नेपच्यून के नाम से पुकारते थे। यूनानी पुरा-कथाओ के अनुसार यह क्रोनोस का पुत्र था। पिता के राज्य मे से कुछ समुद्र-भाग इसे भी मिला था। अपोलो के साथ मिलकर त्रोइआ की दीवार का निर्माण इसने भी किया था। त्रोइआ-निवासियो का यह शत्रु था।

अपना परिचय देता है, शत्रुओ पर स्वय आक्रमण करता है, उनका वध कर डालता है और आप बच आता है। यही कथानक का सार है, शेष उपाख्यान है।

१८ संवृति और विवृति

प्रत्येक त्रासदी के दो भाग होते हैं—सवृति और विवृति या निगति। कार्य-व्यापार के वाहर की घटनाएँ प्राय उसके अपने किसी भाग से सयुक्त हो कर सवृति की सृष्टि करती है, शेष विवृति होती है। सवृति से मेरा तात्पर्य ऐसे समस्त कथा-भाग से है जिसका विस्तार कार्य-व्यापार के आरम्भ से उस प्रसग तक होता है जहाँ कथा-नायक के उत्कर्ष या अपकर्ष की ओर मोड लेती है। विवृति का विस्तार इस परिवर्तन के आरम्भ से (कथा के) अन्त तक होता है। इस प्रकार, थेओदेक्तेस की कृति ल्युन्केउस में सवृति के अन्तर्गत उन घटनाओ के अतिरिक्त जो नाटकारम्भ से पहले ही घटित हुई है और जिनकी केवल सूचना भर नाटक में मिलती है, बालक के बन्दीकरण और फिर (उसके माता-पिता के बन्दीकरण)* के प्रसग आते है। हत्या के अभियोग से अन्त तक का भाग विवृति के अन्तर्गत है।

त्रासदी के भेद

त्रासदी चार प्रकार की होती है—(१) जटिल—जो पूर्णत स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान पर निर्भर होती है। (२) करुण—जिसका प्रेरक हेतु आवेग होता है—जैसे आइअक्स[1] और

*वाईवाटर के अनुवाद के आधार पर। इस पाठ को बुचर ने त्रुटित मान कर छोड दिया है।

१ आइअक्स—सलामिस के राजा का पुत्र। त्रौइआ के आक्रान्ता यूनानियो मे अखिल्लेस के वाद सवसे पराक्रमी योद्धा। अखिल्लेस की मृत्यु के वाद उसके शस्त्रो के लिए इसमें और ओद्युस्सेउस में प्रतिस्पर्धा हुई। ओद्युस्सेउस को वे शस्त्रास्त्र मिल जाने पर यह अत्यन्त विक्षिप्त-सा हो गया और अन्त में छुरा भोक कर इसने आत्मघात कर लिया। उक्त चरित्र पर आवृत कृति।

इक्सीऔन[1] से सम्बद्ध त्रासदियाँ। (३) नैतिक–(जहाँ प्रेरक हेतु नैतिक होता है) यथा फ्थियोतिदेस और पेलेउस[2] और (४) सरल। यहाँ हम उस विशुद्ध दृश्यात्मक तत्त्व को सम्मिलित नही कर रहे जिसके उदाहरण फोरकिदेस, प्रोमेथेउस[3] तथा अन्य ऐसे नाटको मे उपलब्ध होते है जिनमे पाताल-लोक के दृश्य रहते है। कवि को अपनी रचना में यथाशक्ति सभी काव्य-तत्त्वो के समावेश का प्रयत्न करना चाहिए, यदि यह न हो सके तो अधिक से अधिक तत्त्वो का—विशेषकर ऐसे तत्त्वो का जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आज की कुतर्कपूर्ण आलोचना को देखते हुए तो यह और भी आवश्यक है। अब तक अपने-अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ कवि हुए है पर आज का आलोचक प्रत्येक कवि से ही यह अपेक्षा करता है कि वह अन्य सभी कवियो से उनके अपने विशिष्ट क्षेत्रो मे भी अधिक सिद्धि प्राप्त करे।

किसी त्रासदी के समान या भिन्न होने की जब हम चर्चा करें तो सबसे अच्छी कसौटी कथानक को ही मानना चाहिए। जहाँ सवृति

---

१ इक्सीऔन—थेस निवासी। इसने दिआ से विवाह किया किन्तु जब उसका पिता वधू का मूल्य माँगने आया तो इसने षड्यन्त्र कर उसे धधकते अग्नि-कुड में डलवा दिया। जब लोगो ने इसे पातक से मुक्त करने से इन्कार कर दिया तो यह ज़ेउस की शरण में गया। किन्तु वहाँ भी इसने किसी का शील भ्रष्ट किया जिसके दण्ड-स्वरूप इसे पाताल में जलते हुए पहिये के साथ बाँध दिया गया।

२. पेलेउस—ईकस का पुत्र। किसी हत्या के दोष में यह इओलकोस चला गया जहाँ के राजा इकेस्तस ने इसे पवित्रता प्रदान की। इकेस्तस की रानी इससे प्रेम करने लगी पर बाद में किसी कारण से क्रुद्ध होकर उसी ने इसे राजा के हाथ सौंप दिया। राजा ने हिंस्र पशुओं द्वारा इसका वध करने की चेष्टा की परन्तु यह बच गया। अन्त में इसका जलपरी थितेस से प्रेम हुआ और दोनो के सयोग से अखिल्लेस का जन्म हुआ।

३ प्रोमेथेउस—त्युतेन और क्लेमेन का पुत्र। इसने मिट्टी से आदमी बनाये। जब ज़ेउस ने इसे अग्नि देने से इन्कार किया तो उसके अत्याचार से तग आ कर स्वर्ग से आग चुरा लाया। अपनी बनाई सृष्टि को इसने अनेक कलाएँ सिखायीं।

और विवृति एक-सी हो वहाँ समानता होती है। अनेक कवि ग्रन्थियाँ डालने मे सिद्धहस्त होते है पर खोलने मे कुशल नही होते। किन्तु (सफल) कवि के लिए दोनो ही कलाओ मे दक्षता आवश्यक है।

निषेध

कवि को एक बात का स्मरण रखना चाहिए—और उसका निर्देश प्राय किया जा चुका है वह यह कि महाकाव्य के वस्तु-विधान को त्रासदी का रूप नही देना चाहिए। महाकाव्य के वस्तु-विधान से मेरा अभिप्राय है जिसमे अनेक कथानक हो—उदाहरण के लिए जैसे ईलिअद की सम्पूर्ण कथा-वस्तु को लेकर त्रासदी लिखने का प्रयत्न किया जाये। महाकाव्य मे, उसके विस्तार के कारण, प्रत्येक भाग के समुचित प्रसार के लिए अवकाश रहता है। नाटक में इसका परिणाम कवि की आशा से सर्वथा भिन्न होता है। इसका प्रमाण यह है कि जिन कवियों ने एउरिपिदेस की तरह 'त्रौइआ-पतन' के अश न लेकर सम्पूर्ण कथा को नाट्य-रूप देने का प्रयत्न किया है, अथवा ऐस्ख्युलस के समान नीओबे[1] की कथा का कोई विशेष अश न लेकर सम्पूर्ण कथा को ही ग्रहण किया है, उन्हे रगमच पर या तो घोर विफलता मिली है या अत्यल्प सफलता। अगथौन तक के विषय में भी सर्वविदित है कि उसकी विफलता का कारण यही एक दोष है। किन्तु स्थिति-विपर्यय मे उसने लोक-रुचि की तुष्टि के प्रयत्न में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है ऐसा कारुणिक प्रभाव उत्पन्न करने में जो नैतिक भावना का परितोष करे। सिस्युफस[2] जैसा चतुर किन्तु दुष्ट व्यक्ति

---

१ नीओबे—यूनानी पुराकथाओ मे थेबेस के राजा अम्फिओन की पत्नी। इसके बारह सन्ताने हुई। इसका इसे इतना गर्व हुआ कि इसने देवी लेतो का उपहास किया क्योकि उसके केवल दो सन्तानें थी। इस पर उसने अपने पुत्र अपोलो और पुत्री अरतेमिस को उत्तेजित कर उन सब को मरवा डाला। नीओबे पाषाण-मूर्ति में परिवर्तित हो गई।

२ सिस्युफस—कोरिन्थ का राजा, यह अपनी धूर्तता के लिए प्रसिद्ध था।

जब मुह की खाता है अथवा कोई शूर किन्तु खल पात्र पराजित होता है तो ऐसा ही प्रभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार की घटना अगथौन द्वारा प्रस्तुत 'सम्भाव्य' की परिभाषा के अनुसार ही सम्भाव्य हो सकती है जिसका कथन है कि 'ऐसी वहुत-सी घटनाएँ भी सम्भाव्य है जो सम्भाव्यता के विपरीत हो।'

वृन्दगान को भी नाट्याभिनय के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। वह सम्पूर्ण नाटक का ही एक अभिन्न अग होना चाहिए और 'कार्य-व्यापार मे उसका योगदान रहना चाहिए—एउरिपिदेस के नही वरन् सौफोक्लेस के वृन्दगान की भाँति। परवर्ती कवियो के वृन्दगान का अपने नाट्य-विषय से भी उतना ही कम सम्वन्ध होता है जितना किसी अन्य त्रासदी की कथावस्तु से। इसलिए वे विष्कम्भक की तरह प्रस्तुत किये जाते है—यह परम्परा सवसे पहले अगथौन से आरम्भ हुई। इस प्रकार के वृन्द-गान का समावेश करने और किसी वक्तव्य अथवा पूरे के पूरे अक का भी एक नाटक से उठा कर दूसरे मे अन्तर्भाव कर देने मे भेद ही क्या है ?

१९. विचार

१९ अव भाषा और विचार का विवेचन करना शेष है—त्रासदी के अन्य अगो का विवेचन हो ही चुका है। जहाँ तक विचार का प्रश्न है यहाँ भी हम उन्ही स्थापनाओ को स्वीकार कर सकते है जो मै 'भाषण-शास्त्र' में कर चुका हूँ। इस विषय का सम्वन्ध वस्तुत उसी से है। विचार के अन्तर्गत ऐसा प्रत्येक प्रभाव आ जाता है जो वाणी द्वारा उत्पन्न होता हो। इसके उपविभाग है—प्रमाण और प्रतिवाद, करुणा, त्रास, क्रोध आदि भावो की उद्वुद्धि, अतिमूल्यन और अवमूल्यन। अत्र यह स्पष्ट है कि जव कवि का उद्देश्य करुणा, त्रास, महत्ता अथवा सम्भाव्यता की भावना जागृत करना हो तो नाट्य-घटनाओ के प्रति भी वैसा ही दृष्टिकोण होना चाहिए जैसा नाट्य-सम्भाषणो के प्रति। भेद केवल इतना है कि घटनाओ को विना शाब्दिक व्याख्या के स्वय मुखर होना चाहिए जवकि उक्ति का अभीष्ट प्रभाव

वक्ता द्वारा और उस उक्ति के फलस्वरूप ही उत्पन्न होना चाहिए। यदि विचार की अभिव्यक्ति वक्ता के कथन से सर्वथा निरपेक्ष हो तो वक्ता का काम ही क्या रहा ?

भाषा

अब भाषा को ले। इस विवेचन के एक भाग का सम्बन्ध उच्चारण की रीतियो से है। परन्तु यह क्षेत्र वक्तृत्व-कला और वक्तृत्व-शास्त्र के पण्डितो का है। उदाहरण के लिए उसमें इन सब बातो का समावेश है कि आदेश, प्रार्थना, वक्तव्य, धमकी, प्रश्न, उत्तर आदि का स्वरूप क्या है। इन बातो के जानने-न-जानने से कवि की कला पर कोई विशेष आँच नही आती। यथा—होमेरस (होमर) के विरुद्ध प्रोतगोरस[1] के इस दोषारोपण को कौन स्वीकार कर सकता है कि 'देवि! रौद्र गान गाओ' वाक्य में आदेश का स्वर है जब कि कवि का उद्देश्य है प्रार्थना करना। उसका तर्क है कि किसी से कोई काम करने या न करने के लिए कहना आदेश है। अत. इस विवेचना को हम छोड सकते है—इसका सम्बन्ध अन्य कला से है, काव्य से नही।

२०. भाषा के अंग

भाषा के सामान्यत निम्नोक्त अग होते है—वर्ण, मात्रा, सयोजक शब्द, सज्ञा, क्रिया, विभक्ति या कारक, वाक्य अथवा पदोच्चय।

वर्ण एक अविभाज्य ध्वनि को कहते है पर प्रत्येक ऐसी ध्वनि वर्ण नही होती, केवल वही ध्वनि वर्ण होती है जो किसी (सार्थक) ध्वनि-समूह का अग बन सके। पशु भी अविभाज्य ध्वनियो का उच्चारण करते है पर मै उनमें से किसी को वर्ण नही कहता। मै जिस ध्वनि की

---

१ प्रोतगोरस—यूनानी दार्शनिक। अपने एक ग्रन्थ में इसने ईश्वर की सत्ता मानने से इन्कार किया था। फलत इस[illegible] कृति एक सार्वजनिक सभा में जला दी गयी और इसे गर्हणीय व्यक्ति समझ कर देश से निर्वासित कर दिया गया।

बात कर रहा हूँ वह या तो स्वर हो सकती है अथवा अन्त.स्थ या स्पर्श। स्वर वह है जिसका उच्चारण ओष्ठ या जिह्वा के ससर्ग के विना हो सके। अन्त स्थ वह है जो ओष्ठ या जिह्वा के ससर्ग से उच्चारित किया जाता है—जैसे स् और र्। स्पर्श-वर्ण वह है जिसकी इस प्रकार के ससर्ग के वाद भी अपनी कोई ध्वनि नही होती किन्तु स्वर के साथ सयुक्त हो जाने पर उसकी ध्वनि सुनायी पडने लगती है—जैसे ग्, द्। इनके भेद इस आधार पर किये जाते है कि इन्हे बोलते समय मुख की क्या अवस्था होती है और इनका उच्चारण कहाँ से होता है, ये महाप्राण है या मृदु, दीर्घ या ह्रस्व, इनका नाद तीव्र है या गम्भीर अथवा मध्यवर्ती। इसका विस्तृत विवेचन पिंगल-शास्त्र के आचार्यों का काम है।

मात्रा स्पर्श और स्वर से मिलकर बनी हुई अर्थहीन ध्वनि है—'ग्र्', विना 'अ' के भी मात्रा है, 'अ' मिला कर भी —'ग्र'। पर इन विभेदो का विश्लेषण भी पिंगल-शास्त्र के अन्तर्गत आता है।

सयोजक शब्द वह अर्थहीन ध्वनि है जो कई ध्वनियो के मिल कर एक सार्थक ध्वनि का रूप धारण करने मे न तो साधक होती है, न बाधक ,यह वाक्य के मध्य या अन्त में कही भी हो सकता है; अथवा सयोजक शब्द वह अर्थहीन ध्वनि है जो कई सार्थक ध्वनियो के समुदाय को एक सार्थक ध्वनि मे परिणत करने की क्षमता रखता हो जैसे—'अम्फि', 'पेरि', आदि में, अथवा सयोजक शब्द वह अर्थहीन ध्वनि है जो वाक्य के आदि, अन्त या विभाग की द्योतक हो, किन्तु वाक्य के आरम्भ मे जिसकी स्थिति शुद्ध न मानी जाये यथा—'मेन्' में 'ए', एतोइ में 'इ', 'दे' में 'ए' आदि।

सज्ञा वह सश्लिष्ट सार्थक ध्वनि है जो काल-वाचक न हो और जिसका कोई भी अवयव अपने आप मे सार्थक न हो क्योकि युग्म या समस्त पदो मे हम उसके अवयवो का प्रयोग इस प्रकार नही करते मानो वे अपने मे सार्थक हो। थेओदोरस (देव-दत्त) में 'दोरस' अर्थात् 'दान' (प्रसाद)] का अपने आप में कोई अर्थ नही है।

क्रिया काल-वाचक सश्लिष्ट सार्थक ध्वनि है, सज्ञा की भाँति इसका भी कोई अवयव अपने आप मे सार्थक नही होता। 'मनुष्य' अथवा 'श्वेत' मे 'कब' (काल) का भाव निहित नही है किन्तु 'वह चलता है' अथवा 'वह चला' में वर्तमान या भूत काल का द्योतन होता है।

विभक्ति सज्ञा और क्रिया दोनो मे ही होती है तथा 'का' 'को' आदि सम्बन्ध या वचन—एक या अनेक जैसे 'मनुष्य' या 'मनुष्यो'—को व्यक्त करती है, अथवा वास्तविक व्यवहार की रीति या लहजे को—यथा प्रश्न या आदेश को। 'क्या वह गया ?' और 'जाओ' इसी प्रकार के क्रियागत विकार है।

वाक्य या पदोच्चय ऐसी सश्लिष्ट सार्थक ध्वनि का नाम है—*जिसके कम-से-कम कुछ अवयव अपने आप में सार्थक होते है।* प्रत्येक वाक्य या पदोच्चय में, क्रिया या सज्ञा का होना आवश्यक नही—क्रिया के बिना भी काम चल सकता है, उदाहरण के लिए 'मानव की परिभाषा', फिर भी उसमे कोई न कोई सार्थक अवयव सदैव रहना चाहिए जैसे 'चलने में' या 'क्लेऑन का पुत्र क्लेऑन' मे। वाक्य या पदोच्चय मे दो प्रकार की अन्विति हो सकती है—या तो वह एक अर्थ को द्योतित करता है या परस्पर -सम्बद्ध विभिन्न अवयवो से सघटित होता है 'ईलिअद' विभिन्न भागो के परस्पर सयोजन के कारण एक है और 'मानव की परिभाषा' द्योतित अर्थ की एकता के कारण।

२१ शब्दो के प्रकार

शब्द दो प्रकार के होते है—सरल एव यौगिक। सरल से मेरा अभिप्राय उन शब्दो से है जो निरर्थक तत्त्वो से घटित होते है जैसे—'गि', यौगिक या समस्त से तात्पर्य उन शब्दो से है जो या तो सार्थक और निरर्थक तत्त्वो से मिलकर बने हो (यद्यपि पूरे शब्द मे यह भेद नही रहता*) या ऐसे तत्त्वो से जिनमे दोनो ही सार्थक

*देखिए—अग्रेजी अनुवाद 'बाईवाटर'-कृत।

हो। इसी प्रकार तीन, चार या अनेक तत्त्वो से बने हुए शब्द भी हो सकते है। बहुत से मस्सिली शब्द इस प्रकार के है—यथा हर्मों-काईको-क्सन्थस (पिता-द्यौस-उपासक)।

शब्द या तो प्रचलित होता है या अपरिचित अथवा लाक्षणिक, आलंकारिक, नवनिर्मित, व्याकुचित, संकुचित या परिवर्तित।

प्रचलित अथवा प्रामाणिक शब्द वह है जो किसी प्रदेश मे सामान्यत प्रयुक्त किया जाता हो, अपरिचित शब्द वह है जो किसी अन्य देश में प्रयुक्त होता हो। अत यह स्पष्ट है कि एक ही शब्द एक साथ प्रचलित और अपरिचित दोनो प्रकार का हो सकता है किन्तु एक ही प्रदेश के निवासियो के लिए नही। 'सिग्युनोन' (भाला) शब्द क्युप्रिआइयो (साइप्रस-वासियो) के लिए प्रचलित है पर हमारे लिए अपरिचित।

लक्षणा किसी वस्तु पर इतर सज्ञा का आरोप है जो जाति से प्रजाति, प्रजाति से जाति, प्रजाति से प्रजाति पर या साम्य अर्थात् समानुपात के आधार पर हो सकता है। जाति से प्रजाति पर 'मेरा जहाज़ वहाँ खडा है'—क्योकि लगर डालना भी खडे रहने का ही एक उपभेद (प्रजाति) है। प्रजाति से जाति पर : ओद्युस्सेउस ने वास्तव मे सहस्रो सत्कृत्य किये है—क्योकि सहस्रो विपुल संख्या का ही एक उपभेद (प्रजाति) है और यहाँ सामान्य रूप से बहुत बडी सख्या का द्योतन करने के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है। प्रजाति से प्रजाति पर : 'लोहे की तलवार के द्वारा प्राण खीच लिये' और 'कठोर लोहे के जहाज से पानी चीर डाला'। यहाँ 'खीच लेना' शब्द 'चीरने' और 'चीरना' 'खीच लेने' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है—ये दोनो क्रियाएँ 'अपहरण' के ही दो उपभेद है। साम्य या समानुपात तब होता है जब दूसरे शब्द का पहले से वही सम्बन्ध हो जो चौथे का तीसरे से। तब हम दूसरे के लिए चौथे या चौथे के लिए दूसरे शब्द का प्रयोग कर सकते है। कभी-कभी हम शब्द-विशेष से सम्बद्ध शब्द को ग्रहण कर

लक्षणा को विशेषित भी करते है। मान लीजिए प्याले का दियोन्युसस[१] के लिए वही महत्व है जो ढाल का आरेस[२] के लिए तो हम प्याले को 'दिओन्युसस की ढाल' और ढाल को 'आरेस का प्याला' कह सकते है। एक और दृष्टान्त लीजिए—वार्धक्य का जीवन में वही स्थान है जो दिन में सन्ध्या का अत हम सन्ध्या को दिन का वार्धक्य और वार्धक्य को जीवन का सन्ध्याकाल या 'ऐम्पेदोक्लेस के शब्दो में 'जीवन का सूर्यास्त' कह सकते है। कभी-कभी ऐसा होता है कि साम्य-स्थापना में प्रयुक्त किसी शब्द के अनुरूप दूसरा सापेक्ष शब्द विद्यमान नही होता, फिर भी लक्षणा का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—बीज फैलाने के लिए 'वपन' शब्द का प्रयोग होता है पर सूर्य द्वारा किरणें फैलाने की क्रिया का वाचक कोई शब्द नही है। तब भी इस प्रक्रिया का सूर्य से वही सम्बन्ध है जो 'वपन' का बीज से। तभी कवि की उक्ति है 'दैवी आलोक का वपन करता हुआ।' इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग का एक ढग और हो सकता है। हम किसी इतर शब्द का प्रयोग करें और फिर उसे उसके किसी सहज गुण से वचित कर दें जैसे हम ढाल को 'आरेस का प्याला' न कह कर 'मद्य-रहित प्याला' कहें।

(आलकारिक शब्द—)****

नवनिर्मित शब्द वह है जिसका कभी स्थानीय प्रयोग तक न रहा हो पर जो कवि का अपना प्रयोग हो। कुछ तो ऐसे शब्द है ही जैसे 'सीगो' के लिए 'अकुर' और 'पुरोहित' के लिए 'प्रार्थी'।

शब्द का व्याकोच तब होता है जब उसके अपने स्वर का किसी दीर्घ स्वर से परिवर्तन कर दिया जाये या कोई मात्रा बीच मे बढा दी

---

१ दिओन्युसस—ज़ेउस और सेमेले का पुत्र, मद्य का यूनानी देवता—कहते है यह सगीत और काव्य की प्रेरणा देता है। इसने प्राच्य प्रदेशो की यात्रा की और मानवता को सभ्यता के तत्वो और मद्य-प्रयोग की शिक्षा दी।

२ आरेस—प्राचीन यूनानियो का युद्ध का देवता।

****पाठ खण्डित है।

जाये । सकोच तव होता है जव उसका अपना कोई अश हटा दिया जाये । व्याकोच के उदाहरण है—पोलेओस के लिए पोलेओस, पेले-इदू के लिए पेलेइअदेओ सकोच के—क्री (क्रीथे), दो (दोम) और ओप्स (ओप्सिस)—पक्ति के अन्त मे (ऐम्पैदोक्लेस मे)* ।

परिवर्तित शब्द वह है जिसमे सामान्य रूप का कुछ अश तो ज्यो का त्यो रहे और कुछ अश का नव-निर्माण किया जाये जैसे 'देक्सि-तेरोन कत मादजोन, में 'देक्सिओन' के स्थान पर 'देक्सितेरोन ।

(सज्ञाओ के अपने तीन भेद होते है—पुल्लिग, स्त्रीलिंग, नपु-सक-लिंग । पुल्लिग वे है जिनका न, र, स में या स से सयुक्त किसी अक्षर में—जो केवल दो है 'प्स', 'क्स'—अन्त होता हो । स्त्रीलिंग वे है जिनका अन्त दीर्घ स्वरो अर्थात् 'ई' और 'ऊ' में तथा ऐसे स्वर में होता है जिसका व्याकोच हो सकता हो अर्थात् 'अ' मे । इस प्रकार 'पुल्लिग और स्त्रीलिंग सज्ञाओ का जिन वर्णो में अन्त होता है उनकी सख्या वरावर है क्योकि प्स और क्स उन वर्णो के समान ही है जिनका अन्त 'स' में होता है । किसी भी सज्ञा का स्पर्श वर्ण या सहज ह्रस्व स्वर में अन्त नही होता । केवल तीन का 'इ' में अन्त होता है—मेलि, कोम्मि और पेपेरि, पाँच का अन्त 'ई' में होता है । नपुसक लिंग की सज्ञाओ का अन्त इन अन्तिम दो स्वरो में होता है, कभी-कभी 'न' और 'स' में भी ।

२२ काव्य-पदावली

शैली का पूर्ण उत्कर्ष यह है कि वह प्रसन्न हो किन्तु क्षुद्र न हो । सवसे अधिक प्रसाद गुण उस शैली मे होता है जिसमें केवल प्रचलित या उपयुक्त शब्दो का प्रयोग रहता है—किन्तु साथ ही वह

---

*रौद्स-कृत अनुवाद

क्षुद्र होती है—उदाहरण के लिए क्लेओफौन और स्थेनेलस की कविता लीजिए। इसके विपरीत वह शैली उदात्त असाधारण (लोकातिक्रात) होती है, जिसमें असामान्य शब्दो का प्रयोग रहता है। 'असामान्य' से मेरा अभिप्राय है अपरिचित (या कम प्रचलित), औपचारिक, व्याकुचित आदि का—सक्षेप मे, उन शब्दो का जो साधारण मुहावरे से भिन्न हो। किन्तु जिस शैली मे केवल इन्ही शब्दो का प्रयोग किया गया हो वह या तो प्रहेलिका होगी या शब्दजाल—यदि केवल औपचारिक शब्दो का प्रयोग है तो वह प्रहेलिका होगी और यदि केवल अपरिचित (या अप्रचलित) शब्द है तो शब्दजाल। प्रहेलिका का मूल प्रयोजन असम्भव तत्त्वो के योग से तथ्यो को व्यक्त करना होता है। किसी भी साधारण शब्द-योजना द्वारा यह सम्भव नही है किन्तु औपचारिक प्रयोग द्वारा ऐसा हो सकता है।

प्रहेलिका के उदाहरण इस प्रकार है 'मैने एक पुरुष देखा जिसने आग के द्वारा दूसरे पर धातु चिपका दी' इत्यादि। जिस पदावली में केवल अपरिचित (या अप्रयुक्त) शब्द रहते है वह शब्दजाल मात्र है। अत इन तत्त्वो का थोडा-बहुत समावेश शैली के उत्कर्ष के लिए आवश्यक है क्योकि अपरिचित (या अप्रयुक्त) शब्द और औपचारिक, आलकारिक तथा उपर्युक्त अन्य प्रकार के शब्द उसे साधारण एव क्षुद्र धरातल से ऊपर उठा देंगे और उधर उपयुक्त शब्दो के प्रयोग से उसमे प्रसाद गुण का सन्निवेश हो जायेगा। परन्तु भाषा के प्रसादत्व में—जो साधारण स्तर से भिन्न भी हो—सब से अधिक सहायता मिलती है शब्दो के व्याकोच, सकोच और परिवर्तन से। कही-कही प्रचलित मुहावरे मे थोडा परिवर्तन कर देने से भाषा में चमत्कार आ जायेगा, साथ ही सामान्य प्रयोग के आशिक अनुसरण से प्रसाद गुण भी बना रहेगा। अत वे आलोचक भूल करते है जो इस प्रकार की भाषागत स्वच्छन्दता की अभिशसा करते है और लेखक का उपहास करते है। ज्येष्ठ एउक्लेइदेस का कथन है कि यदि आप मात्राओ का मनमाने ढग से व्याकोच कर सकते हो तो कवि बनना सरल है। उसने

अपनी पद-रचना के स्वरूप मे ही इस प्रकार के प्रयोगो के प्रति व्यग्य किया है :

एपिखारेन एइदोन मराथोनादे वदीजोन्त

अथवा

ऊक एन ग' एरामेनोस तोन एकेइनू एल्लेवोरोने

इस प्रकार का नग्न स्वेच्छाचार निश्चय ही वडा भोडा है परन्तु सन्तुलन तो काव्य-भाषा के सभी अगो के लिए आवश्यक है। उपचार, अपरिचित (या अप्रचलित) शब्द अथवा भाषा के किसी ऐसे ही अन्य तत्त्व का प्रयोग भी यदि औचित्य के विना और हास्यास्पद होने के ही प्रयोजन से किया जाये तो उसका परिणाम भी यही होगा। व्याकोच के उचित प्रयोग से कितना अन्तर पड जाता है यह महा-काव्य के अन्तर्गत साधारण पद्य-रूपो का समावेश करके देखा जा सकता है। इसी प्रकार यदि हम कोई अपरिचित (या अप्रचलित) शब्द अथवा लाक्षणिक प्रयोग या अभिव्यजना का कोई और ऐसा ही रूप ले और उसके स्थान पर प्रचलित अथवा उपयुक्त शब्द रख दें तो हमारे कथन की सत्यता स्पष्ट हो जायगी। उदाहरण के लिए ऐस्ख्युलस और एउरिपिदेस दोनो ने एक ही द्विमात्रिक चरण की रचना की है किन्तु एउरिपिदेस ने केवल एक शब्द वदल कर सामान्य के स्थान पर अप्रचलित शब्द का प्रयोग कर दिया है जिसके फलस्व-रूप एक चरण में चमत्कार आ गया है और दूसरा फीका लगता है। ऐस्ख्युलस ने अपने फिलोक्तेतेस मे कहा है

'फगेदाइन द' हे मू सरकस एस्थिएइ पोदोस।

(मेरे चरणो के मास को एक घातक फोडा खाये जा रहा है)

एउरिपिदेस ने 'एस्थिएइ' (खाये जा रहा है) के स्थान पर 'थोइनाताइ' (दावत उडा रहा है) कर दिया। एक और पक्ति लीजिए—

न्यून दे म' एओन ओलिगोस ते काइ ऊतिदनोस काइ एंइकेस ।
(मै जो बौना हूँ, अकिचन हूँ और जिस पर भाग्य की मार है)
इसमे अगर हम सामान्य शब्दो का प्रयोग करे तो कितना अन्तर हो जाता है

न्यून दे म' एओन मीक्रोस ते काइ अस्थेनिकोस काइ ऐइदेस ।
(मै जो छोटा हूँ, बेकार और कुरूप हूँ)

अथवा एक और चरण लीजिए—
'दीफ्रोन ऐइकेलिओन कतथेइस ओलिगेन ते त्रापेजन ।'
(एक क्षुद्र तिपाई और दरिद्र-सी मेज़ लगाना)
के स्थान पर
'दीफ्रोन मोख्थेरोन कतथेइस मीक्रान ते त्रापेज़न'
(रसोई की तिपाई और छोटी मेज़ लगाना)

अथवा

एइओनेस बोओओसिन (गर्जित सिन्धु-तट) के स्थान पर एइओनेस क्राज़ूसिन—(कोलाहलपूर्ण सिन्धु-तट) कर दे ।

अरिफ्रदेस ने त्रासदी-रचयिताओ का ऐसी उक्तियो का प्रयोग करने के कारण उपहास किया है जिनका बोलचाल मे कोई भी व्यवहार नही करता। उदाहरण के लिए 'अपो दोमातोन' (घर से दूर) के स्थान पर 'दोमातोन अपो'(दूर घर से), सेथेन (तेरा), एगो दे निन (उसका मैने परिणय किया) और 'पेरि अखिल्लेस' (अखिल्लेस के चारो ओर) के स्थान पर 'अखिल्लेस पेरि' (चारो ओर अखिल्लेस के) आदि। ऐसी उक्तियाँ ठीक इसीलिए शैली को विशिष्टता प्रदान करती है क्योकि वे प्रचलित मुहावरे के अन्तर्गत नही आती। किन्तु इस तथ्य को वह समझ नही पाया।

अभिव्यजना के इन विभिन्न प्रकारो में, समस्त पदावली में, अपरिचित (या अप्रचलित) शव्दो आदि में औचित्य का निर्वाह वहुत वडी वात है। परन्तु सवसे अधिक महत्वपूर्ण तो यह है कि कवि लक्षणा के प्रयोग में सिद्धहस्त हो। यही एक ऐसा गुण है जिसका उपार्जन नही

हो सकता, यह तो प्रतिभा का लक्षण है क्योकि औपचारिक प्रयोग की सिद्धि के लिए ऐसी दृष्टि अपेक्षित है जो सादृश्य को ग्रहण कर सके।

विभिन्न प्रकार के शब्दो में समस्त शब्द रौद्र-स्तोत्र के लिए, अप्रचलित वीर-काव्य के लिए और औपचारिक लघु-गुरु-द्विमात्रिक वृत्त के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होते है। वीर-काव्य में वैसे ये सभी प्रकार के शब्द काम दे सकते है। किन्तु लघु-गुरु-द्विमात्रिक छन्द में, जिसमे यथाशक्य बोलचाल की भाषा का अनुकरण किया जाता है, सबसे उचित शब्द वे होते है जिनका व्यवहार गद्य मे भी होता है। ऐसे शब्द है—प्रचलित या उपयुक्त, औपचारिक और आलंकारिक।

त्रासदी के और कार्य द्वारा अनुकरण के विषय में इतना ही पर्याप्त है।

२३. महाकाव्य

जहाँ तक ऐसी काव्यानुकृति का प्रश्न है जिसका रूप समाख्यानात्मक हो और जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो, यह स्पष्ट है कि उसके कथानक का निर्माण त्रासदी की तरह नाटच-सिद्धान्तो के अनुसार ही होना चाहिए। उसका आधार आदि-मध्य-अवसानयुक्त एक समग्र एवं पूर्ण कार्य होना चाहिए। इस तरह अपनी अन्विति में यह काव्य-रूप एक जीवन्त प्राणी-सा प्रतीत होगा और अपना विशिष्ट आनन्द प्रदान करेगा। सगठन में वह ऐतिहासिक रचनाओ से भिन्न होगा क्योकि वे एक कार्य को नही वरन् एक काल-खण्ड को और उस काल-खण्ड में एक या अनेक व्यक्तियो से सम्बन्धित सभी घटनाओ को, हमारे सम्मुख उपस्थित करती है—चाहे ये घटनाएँ परस्पर असम्बद्ध ही क्यो न हो। सलमिस[1] के जल-युद्ध और

---

[1] सलमिस—क्युप्रस (साइप्रस) के पूर्वी तट का एक नगर। यह एक भूचाल में नष्ट-भ्रष्ट हो गया परन्तु चौथी शताब्दी मे पुन वसाया गया। इसके उपरान्त इनका नाम कौंस्तेंतिआ पट गया।

सिसली में कार्थेगीनिया-वासियो के साथ युद्ध का समय एक ही है पर उनका कोई एक परिणाम नही हुआ। इसी प्रकार घटना-क्रम मे कभी-कभी एक के बाद दूसरी घटना होती है किन्तु उनका कोई एक परिणाम नही निकलता। हम कह सकते है कि अधिकतर कवि यही करते है। यहाँ भी, जैसा कि हम पहले भी कह चुके है, होमेरस (होमर) का अप्रतिम कौशल स्पष्ट है। वह त्रौइआ के सम्पूर्ण युद्ध को अपने काव्य का विषय बनाने का कोई प्रयत्न नही करता यद्यपि उस युद्ध का आदि भी था और अवसान भी। यह विषय बहुत व्यापक हो जाता—एक दृष्टि में उसे सहज ही ग्रहण नही किया जा सकता था। यदि कवि उसके विस्तार को सीमित कर लेता तब भी घटनाओ की विविधता के कारण वह अति जटिल तो हो ही जाता। प्रस्तुत रूप में उसने कथा का एक अश ले लिया है और फिर युद्ध की सामान्य कथा से कई घटनाओ का—जैसे जहाज़ो की सूची या अन्य घटनाओ का—उपाख्यानो के रूप में समावेश कर दिया है। इस प्रकार कविता मे वैविध्य उत्पन्न हो गया है। यो तो अन्य कवि भी केवल एक नायक या किसी एक काल-खण्ड को—या केवल एक ही कार्य को लेते है किन्तु उसके भाग अनेक होते है।' 'क्युप्रिआ' और 'लघु ईलिअद' के लेखको ने यही किया है। ईलिअद और ओद्‌युस्सेइआ की वस्तु मे एक ही त्रासदी का विषय है या अधिक से अधिक दो का, 'क्युप्रिआ' मे कई त्रासदियो की सामग्री है और 'लघु ईलिअद' मे तो आठ त्रासदियो की सामग्री विद्यमान है— 'शस्त्र-पुरस्कार' 'फिलोक्तेतेस', 'नेओप्तोलेमस', 'एउर्‌युप्युलस', 'भिक्षु ओद्‌युस्सेउस', 'लकोनी स्त्रियाँ', 'ईलिउम का पतन', और 'नौ-सार्थ का प्रस्थान'।

२४ त्रासदी से तुलना

इसके अतिरिक्त महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार होने चाहिए और है जितने त्रासदी के—अर्थात् सरल, जटिल, नैतिक और करुण। गीत एव दृश्य-विधान के अतिरिक्त दोनो के अग भी समान ही है क्योकि इसमें भी स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान, एव यातना

के दृश्य आवश्यक होते है । साथ ही विचार-तत्त्व एव पदावली भी कलात्मक होनी चाहिए। इन सभी तत्त्वो की दृष्टि से होमेरस (होमर) हमारा सर्वप्रथम और अपने में पर्याप्त आदर्श है।* वास्तव में उसके दोनो काव्यो का द्विविध रूप है—ईलिअद सरल भी है और करुण भी, ओद्‌युस्सेइआ जटिल है (क्योकि अभिज्ञान-दृश्य उसमें बरावर आते रहते है) और साथ ही नैतिक भी। इसके अतिरिक्त भाषा और विचार-गरिमा की दृष्टि से तो ये दोनो काव्य परम श्रेष्ठ है।

किन्तु महाकाव्य और त्रासदी में कथा के आकार और छन्द का भेद होता है। जहाँ तक आकार या विस्तार का प्रश्न है हम पहले ही एक उचित सीमा निर्धारित कर चुके है—वह इतना होना चाहिए कि आदि और अवसान दोनो एक ही दृष्टि की परिधि में आ सके। यह शर्त तव पूरी हो सकती है जव काव्यो का आकार प्राचीन महाकाव्यो से कम हो और उन त्रासदियो के वरावर हो जिनको एक ही वैठक में प्रस्तुत किया जा सकता है।

महाकाव्य मे एक वडी—एक विशिष्ट—क्षमता होती है अपनी सीमाओ का विस्तार करने की और इसका कारण भी समझ मे आता है। त्रासदी मे हम एक ही समय मे प्रवाहित कार्य की अनेक धाराओ का अनुकरण नही कर सकते, हमे मच पर निष्पादित कार्य और अभिनेताओ के क्रिया-कलाप तक ही अपने आपको सीमित रखना पडता है, किन्तु महाकाव्य मे, उसके समाख्यानात्मक रूप के कारण, एक ही समय घटित होने वाली अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती है और यदि ये विषय-सगत हो तो इनसे काव्य को घनत्व और गरिमा प्राप्त होती है। महाकाव्य को यह वडा लाभ है—जिससे उसकी प्रभाव-गरिमा की वृद्धि होती है, श्रोता का मनोरजन होता है और विविध उपाख्यानो के द्वारा कथा की एकरसता दूर होती है। घट-

*ये सभी तत्त्व होमेरस (होमर) मे सर्वप्रथम और यथोचित रूप मे मिलते है। (वाईवाटर)

नाएँ यदि एकरस हो तो सामाजिक बडी जल्दी ऊब जाता है और रगमच पर त्रासदी विफल हो जाती है।

जहाँ तक छन्द का प्रश्न है वीर-छन्द अनुभव की कसौटी पर अपनी उपयुक्तता सिद्ध कर चुका है। यदि अब कोई, किसी अन्य छन्द में या अनेक छन्दो मे समाख्यानात्मक काव्य लिखे तो वह असगत होगा। वृत्तो में वीर-वृत्त सबसे अधिक भव्य एव गरिमामय होता है, अप्रचलित एव लाक्षणिक शब्द उसमें बडी सरलता से रम जाते है। अनुकरण का समाख्यानात्मक रूप इस दृष्टि से अपनी अलग विशिष्टता रखता है। दूसरी ओर लघु-गुरु-द्विमात्रिक और गुरु-लघु क्रमयुक्त द्विमात्रिक चतुष्पदी में हृदय को आन्दोलित करने की क्षमता होती है—पहला कार्य-व्यापार का व्यजक है, दूसरा नृत्य के अनुरूप है। खैरेमौन की तरह कई वृत्तो का मिश्रण कर देना तो इससे भी अधिक बेतुका है। इसीलिए किसी ने भी वृहद् काव्य की रचना वीर-छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्द में नही की। जैसा मै पहले कह चुका हूं, (वस्तु की) प्रकृति ही स्वानुरूप छन्द का चयन करा लेती है।

यो तो होमेरस (होमर) के सभी गुण अभिनन्दनीय है, पर उसका एक गुण विशेष रूप से उल्लेख्य है वही एक ऐसा कवि है जो यह जानता है कि (अनुकरण में) कवि को स्वय कितना भाग लेना चाहिए। कवि को स्वय कम-से-कम बोलना चाहिए क्योकि इससे वह अनुकर्ता नही हो जाता। अन्य कवि बराबर सामने बने रहते है और अनुकरण तो कही-कही और कभी-कभी ही करते है। होमेरस(होमर) प्रस्तावना के रूप में कुछ शब्द कह कर तुरन्त ही किसी स्त्री, पुरुष या अन्य पात्र को मच पर ले आता है। उनमे से किसी में चारित्र्य का अभाव नही होता किन्तु प्रत्येक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है।

त्रासदी के लिए (भी) 'अद्‌भुत' तत्त्व अपेक्षित है। किन्तु असगत (असम्भाव्य) के लिए, जो 'अद्‌भुत' के प्रभाव का मूल आधार

होता है, महाकाव्य मे अधिक अवकाश रहता है क्योकि वहाँ अभिनेता* प्रत्यक्ष उपस्थित नही होता। हेक्तौर[1] (हैक्टर) का पीछा किये जाने का दृश्य मच पर प्रस्तुत किया जाये तो उपहास्य होगा—यूनानी चुपचाप खडे रहते है, पीछा नही करते, अखिल्लेस उनसे लौटने का सकेत करता रहता है। किन्तु महाकाव्य मे इस भयकर असगति की ओर ध्यान नही जाता। जो 'अद्भुत' है वह आह्लादित भी करता है और उसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी कथा को अपनी ओर से बढा-चढा कर दूसरे से कहता है क्योकि वह जानता है कि श्रोता इसे पसन्द करते है। कौशलपूर्वक असत्य-भाषण की कला दूसरे कवियो को सिखाने का श्रेय बहुत-कुछ होमेरस (होमर) को ही है। इस कला का रहस्य एक हेत्वाभास मे निहित है। मान लीजिए, किसी एक बात या घटना के साथ कोई दूसरी बात या घटना होती या रहती है तो लोग सोचते है कि दूसरी के साथ पहली भी सदैव होती या रहती है। पर यह निष्कर्ष अशुद्ध है। अत जहाँ पहली बात मिथ्या हो वहाँ, यदि दूसरी सत्य है तो, यह कहना बिल्कुल अनावश्यक हो जाता है कि वह है या हुई है। हमारी बुद्धि दूसरी बात की सत्यता का ज्ञान होने के कारण, भ्रमवश पहली की सत्यता का अनुमान कर लेती है। ओद्युस्सेइआ के स्नान-दृश्य मे इसका एक उदाहरण है।

अत. कवि को असम्भाव्य सम्भावनाओ की अपेक्षा सम्भाव्य असम्भावनाओ को प्राथमिकता देनी चाहिए। त्रासदी का कथानक असगत अगो मे निर्मित नही होना चाहिए। जो कुछ विवेक-सगत न हो उसे यथाशक्ति बचाना चाहिए · या कम मे कम उसे नाटक के 'कार्य' से तो बाहर रखना ही चाहिए (जैसे ओइदिपूस मे, लाइअस की मृत्यु के विषय मे नायक की अनभिज्ञता)। नाटक मे उसका समावेश नहीं

*अभिकर्ता (देखिए—बाईवाटर)

१ हेक्तौर 'ईलियद' में प्रिअम के पुत्रो में से एक और ट्रोजन-योद्धाओं में सर्वोत्कृष्ट योद्धा। अखिल्लेस द्वारा इनका वध किया गया।

करना चाहिए--जैसे 'एलेक्त्रा' में दूत द्वारा प्युथियाई खेलो का वर्णन अथवा जैसे 'म्युसियाई' में, एक व्यक्ति का तेगेआ से म्युसिया तक आना और फिर भी बराबर निर्वाक् रहना । यह युक्ति हास्यास्पद है कि यदि ऐसा न किया जाता तो कथानक का नाश हो जाता। पहले तो ऐसे कथानक का निर्माण ही नही करना चाहिए पर जब एक बार असगत (असम्भाव्य) का अन्तर्भाव कर लिया गया और उसे ऐसा रूप दे दिया गया कि वह सम्भाव्य प्रतीत हो, तो बेतुका होने पर भी, वह हमारे लिए स्वीकार्य बन जाना चाहिए । ओद्युस्सेइआ की असगत घटनाओ को लीजिए जहाँ ओद्युस्सेउस को इथाका-तट पर छोड दिया जाता है । यदि कोई हीनतर कवि इन घटनाओ को लेता, तब यह स्पष्ट हो जाता कि ये कितनी असह्य हो सकती है। यहाँ तो कवि ने ऐसा काव्य-सौन्दर्य भर दिया है कि उनका बेतुकापन छिप जाता है ।

जहाँ कार्य की गति रुक जाये और विचार या चरित्र का अभि-व्यजन न हो वहाँ भाषा अलकृत होनी चाहिए । इसके विपरीत अत्य-धिक कान्तिमती पदावली चरित्र और विचार को ही आच्छन्न कर लेती है ।

२५ व्यावहारिक आलोचना

जहाँ तक आलोचनात्मक समस्याओ और उनके समाधान क प्रश्न है, उनके उद्गम-सूत्रो के स्वरूप और सख्या का निदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है —

चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्ता है । अतएव उसका अनुकार्य अनिवार्यत इन तीन प्रकार की वस्तुओ मे से ही कोई एक हो सकती है—जैसी वे थी या है, जैसी वे कही या समझी जाती है अथवा जैसी वे होनी चाहिए । अभिव्यक्ति की माध्यम है भाषा--जिसमे प्रचलित शब्द हो सकते है या अप्रच-लित अथवा लाक्षणिक । भाषा मे और भी कई प्रकार के रूपान्तर किये जा सकते है जिनका अधिकार कवि को है । काव्य और राज-

नीति में शुद्धता की कसौटी एक नही है, कविता तथा किसी अन्य कला मे भी नही। स्वय काव्य-कला में दो प्रकार के दोष हो सकते है—तत्त्वगत और सायोगिक। यदि किसी वस्तु का चयन करके, क्षमता के अभाव मे, कवि उसका यथावत् अनुकरण नही कर सका तो यह काव्य का तत्त्वगत दोष है। किन्तु यदि विफलता का कारण अनुपयुक्त विषय का चयन है—उदाहरण के लिए मान लीजिए उसने घोड़े को एक साथ दोनो दाहिने पैर फेकते दिखाया है अथवा चिकित्सा या किसी अन्य शास्त्र या कला मे प्राविधिक त्रुटियाँ कर दी है—तो यह तत्त्वगत काव्य-दोष नही। इन्ही दृष्टियो से हमे विचार करना चाहिए और इन्ही के द्वारा आलोचको की आपत्तियो का उत्तर देना चाहिए।

पहले उन बातो को लें जिनका सम्बन्ध कवि की अपनी कला से है। यदि कवि असम्भव का वर्णन करता है, तो यह उसका दोष है, किन्तु यदि इससे कला के साध्य की (जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है) सिद्धि हो अर्थात् यदि काव्य के इस या किसी अन्य भाग का प्रभाव और भी तीव्र हो जाये तो यह न्याय्य है। हेक्तौर के पीछा किये जाने का दृष्टान्त यहाँ दिया जा सकता है। किन्तु यदि काव्य-कला के विशेष नियमो का उल्लघन किये बिना साध्य उसी प्रकार अथवा उससे भी सुन्दर ढग से सिद्ध हो सके तो वह दोष क्षम्य नही समझा जा सकता क्योकि जहाँ तक बन पडे हर तरह के दोष से बचना चाहिए।

इसके अतिरिक्त दोष का सम्बन्ध काव्य-कला के मूल तत्त्वो से है या किसी आनुषगिक विषय मात्र से ? उदाहरणार्थ, यह न जानना कि कुरगी के सीग नही होते उतना गम्भीर दोष नही है जितना उसका कलाहीन चित्रण।

यदि आपत्ति की जाये कि वर्णन यथातथ्य नही, तो कवि के पास कदाचित् इसका यह उत्तर हो सकता है : 'पर वस्तुएँ जैसी होनी चाहिए वैसी तो है'—जैसे सौफोक्लेस ने कहा था : 'मै मानव का

चित्रण ऐसा करता हूँ जैसा उन्हे होना चाहिए, एउरिपिदेस वैसा करता है जैसे वे होते हैं।' इस प्रकार इस आपत्ति का समाधान हो सकता है। यदि निरूपण उपर्युक्त दोनो में से किसी भी प्रकार का नही तो कवि कह सकता है 'लोगो का कथन है कि वह वस्तु ऐसी ही है।' देवताओ की कथाओ के विषय मे यही कहा जा सकता है। हो सकता है कि न तो वे तथ्य से उत्कृष्ट हैं न तथ्य के अनुरूप ही। बहुत सभव है उनके विषय मे क्सेनोफनैस[1] ने जो कहा है वही सत्य हो। किन्तु कुछ भी हो 'कहा ऐसा ही जाता है।'

इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि कोई वर्णन तथ्य से उत्कृष्ट न हो 'फिर भी वही सत्य था।' जैसे (ईलिअद) के शस्त्र-सम्बन्धी इस उद्धरण मे —'मूठो पर भाले सीधे खडे थे।' उस समय यही प्रथा थी, इल्युरिया-वासियो मे अब भी है।

इस बात की परीक्षा करने के लिए कि किसी का कृत्य या कथन काव्य की दृष्टि से शुद्ध है या अशुद्ध, हमे केवल उस कृत्य या कथन-विशेष को ही परखना और काव्य-दृष्टि से उसके अच्छे-बुरे होने का विचार नही करना चाहिए। हमे यह भी विचार करना चाहिए कि 'किसने ऐसा किया या कहा? किसके प्रति? कब? किस प्रकार और किस उद्देश्य से? उदाहरण के लिए, हो सकता है, ऐसा किसी महत्तर कल्याण की सिद्धि अथवा अनर्थ के निवारण के लिए किया या कहा गया हो।

अन्य कठिनाइयाँ भाषा-प्रयोग का उचित ध्यान रखने से हल हो सकती है। अप्रयुक्त शब्द के प्रयोग का दृष्टान्त लीजिए—'ऊरेअस मेन प्रोतोन' मे 'ऊरेअम'[2] शब्द का प्रयोग कवि ने कदाचित्

---

१ क्सेनोफनैस—एक यूनानी कवि—समय ५७६-४८० ई० पू०। प्रचलित धर्म पर इसने कठोर आक्षेप किये और सर्वव्यापक ईश्वर की सत्ता की प्रतिष्ठा की। इसने सीपी और भूमि के पर्तों को देखकर बताया कि पृथ्वी में अत्यधिक परिवर्तन हुए हैं और उसका उद्भव समुद्र से हुआ है।

२ ईलिअद (१।५०)।

"खच्चर' के अर्थ मे नही किया, 'प्रहरी' के अर्थ मे किया है। इसी प्रकार दोलीन[1] के इस वर्णन मे कि 'वह देखने मे बड़ा कुरूप था'[2] 'कुरूप' का यह अर्थ नही कि उसका शरीर विकृत था, वरन् यह है कि उसका मुख कुरूप था क्योकि क्रेते-निवासी 'एउऐदेस' शब्द का प्रयोग सुन्दर चेहरा व्यक्त करने के लिए करते है। अथवा, 'जोरोतेरोन दे केराइस'[3] (मदिरा तेज बनाओ) का मतलब—'गाढी तैयार करो' नही—जैसी कि घोर पियक्कडो के लिए की जाती है, बल्कि 'तेजी से तैयार करो' है।

कभी-कभी कोई अभिव्यक्ति औपचारिक होती है जैसे—'अब रात के समय देव और मानव सभी सो रहे थे'—किन्तु साथ ही कवि कहता है 'बहुधा जब वह अपनी दृष्टि त्रौइआ के मैदान की ओर डालता, तो वेणु और वशी की ध्वनि सुनकर चकित रह जाता।' यहाँ 'सभी' का औपचारिक प्रयोग है—'अनेक' के अर्थ मे 'सभी' भी 'अनेक' का ही एक उपभेद (प्रजाति) है। इसी प्रकार 'अकेले'[4] का प्रयोग लाक्षणिक है, क्योकि जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, उसे केवल एक (अकेला) कहा जा सकता है।

अथवा उच्चारण या स्वराघात के द्वारा भी समाधान किया जा सकता है। थसीम के हिप्पियस ने 'दीदोमेन दे ओइ'[5] और

---

१ दोलीन—त्रौइआ-युद्ध का एक पराक्रमी योद्धा। अपनी फुर्ती के लिए प्रसिद्ध। हेक्तौर ने इसे यूनानी शिविर में गुप्तचर के रूप मे भेजा किन्तु वहाँ पकड़े जाने पर आत्म-रक्षा के लिए इसने हेक्तौर की सम्पूर्ण आयोजना और सकल्प का उद्घाटन कर दिया। अन्त में दिओमिदेस द्वारा देशद्रोह के अपराध में मारा गया।

२ ईलिअद १०।३१६

३ ईलिअद ९।२०३

४ ईलिअद १८।४८९

५ ईलिअद २।१५

'तो मेन हू (ऊ) कतप्युथेताइ ओम्ब्रो'[१] पक्तियो मे 'दीदोमेन' में स्वराघात वदलकर (दिदोमेन के स्थान पर दीदोमेन) और 'ऊ' को महाप्राण (हू) करके कठिनाई हल की है।

या फिर, विराम (चिह्नादि) द्वारा भी समस्या सुलझायी जा सकती है जैसे ऐम्पैदोक्लेस मे 'जिन वस्तुओ ने पहले अमरत्व ही जाना था वे अचानक मर्त्य बन गयी' और 'अमिश्रित—पहले की—मिश्रित।'*

अथवा, द्वयर्थक प्रयोग द्वारा—जैसे 'परोखेकेन दे प्लेओ न्युक्स'[२] अर्थात् 'अधिकाश रात बीत गयी' मे 'प्लेओ' (अधिकाश) शब्द के दोनो अर्थ हो सकते है।

या, भाषा की प्रयोग-परम्परा से। कोई भी मिश्रित पेय 'ओइ-नोस' (मदिरा) कहलाता है। अत गेन्युमेदेस 'देवस्' के लिए मदिरा ढालते कहा गया है'[३] यद्यपि देवता मदिरापान नही करते। इसी तरह, लोहे का काम करने वालो को खल्केअस 'धातुकर्मी' कहते है—पर इसे लाक्षणिक प्रयोग भी कहा जा सकता है।

जब किसी शब्द में कोई अर्थगत असगति अन्तर्भूत हो, तो हमें यह विचार करना चाहिए कि उस प्रसग-विशेष में उसके कितने अर्थ हो सकते है। उदाहरण के लिए, 'लौह-कुन्त वही रोक दिया गया'[४] इस उद्धरण मे हमें देखना चाहिए कि 'वही रोकने' के कितने अथ हो सकते है। व्याख्या का सही ढग ग्लाउकस द्वारा निर्दिष्ट ढग से बिल्कुल उल्टा होता है। उनका कथन है 'आलोचक जल्दबाजी मे कुछ निराधार निष्कर्ष निकाल बैठते है, प्रतिकूल निर्णय दे देते हैं

१ ईलिअद २३।३२८

*द्व्यर्थकता यह है कि 'पहले की' 'मिश्रित' के साथ है कि 'अमिश्रित' के।

२ ईलिअद १०।२५२-३

३ ईलिअद २०-२३४

४ ईलिअद २०।२७२

और फिर उस पर तर्क करते है। वे पहले तो यह मान लेते है कि कवि ने वही कहा है जो वे समझे है, और यदि कवि का कथन उनकी धारणा से मेल नही खाता तो उसके दोषो का बखान करने लगते है।' इकारिअस के बारे मे यही हुआ है। आलोचको की कल्पना है कि वह लकेदाइमोनियाई था। अत उन्हे यह बात विचित्र लगती है कि जब वह लकेदाइमोन गया तो तेलेमखस मे उसकी भेंट क्यो नही हुई। किन्तु इस प्रसग मे कदाचित् केफल्लेनियाई कथा ही सत्य हो। उनका मत है कि ओद्युस्सेउस ने वहाँ की किसी स्त्री से विवाह किया था और उसके पिता का नाम इकादिअस था, इकारिअस नही। अत. इस आक्षेप मे यदि तथ्य का कुछ आभास मिलता भी है तो वह भ्रान्तिजन्य ही है।

सामान्यत असम्भव का ग्रहण कलात्मक आवश्यकताओ के, अथवा किसी भव्यतर सत्य, या परम्परागत धारणा के आधार पर न्याय्य ठहराया जा सकता है। जहाँ तक कला की आवश्यकताओ का प्रश्न है, सम्भाव्य असम्भावना को ऐसी घटना मे अधिक अभिमत समझना चाहिए जो सम्भव होने पर भी असम्भाव्य हो। हो सकता है कि ऐसे लोगो का अस्तित्व असम्भव हो जैसे जेउक्सिस ने चित्रित किये है। हम कहेंगे—'ठीक है, परन्तु असम्भव भव्यतर होता है, आदर्श (मन स्थित) प्ररूप यथार्थ से ऊँचा होगा ही।' असगत (असम्भाव्य) को न्याय्य कहने के लिए हम लोक-मत का सहारा लेते है। इसके अतिरिक्त हम यह भी साग्रह कहना चाहते है कि कभी-कभी असगत (असम्भाव्य) विवेक का अतिक्रम नही करता—जैसे 'यह सम्भाव्य है कि कोई ऐसी घटना घटे जो सम्भावना के प्रतिकूल हो।'

जो बाते परस्पर-विरोधी लगे उन्हे तर्कशास्त्रीय खण्डन के नियमो के आधार पर परखना चाहिए—क्या कवि यही कहना चाहता है ? इसी सन्दर्भ मे ? इसी विशिष्ट अर्थ में ? अत. प्रस्तुत प्रश्न का समाधान हम इस आधार पर कर सकते है कि कवि स्वय क्या कहता

है अथवा कोई बुद्धिमान पुरुष उसका वास्तव मे क्या अर्थ ग्रहण करता है ।

असगति, और इसी प्रकार, कदाचरण के समावेश का यदि कोई आन्तरिक प्रयोजन न हो तो उनकी अभिशसा करना युक्तियुक्त ही है । एउरिपिदेस में ऐगेउस की उपस्थिति की असगति (असम्भाव्यता) और ओरेस्तेस में मेनेलाउस की अभद्रता इसी प्रकार के अभिशसनीय तत्त्व है ।

निष्कर्ष यह है कि आलोचको की आपत्तियाँ पाँच सूत्रो से उद्भूत हो सकती है । किन्हो वस्तुओ की अभिशसा यही कह कर हो सकती है कि वे असम्भव है अथवा असगत या नैतिक दृष्टि से अशिव, परस्पर-विरोधी या कलात्मक शुद्धता के प्रतिकूल (काव्य-शिल्प की दृष्टि से सदोष)[१] । इनका समाधान उपर्युक्त बारह शीर्षों के अन्तर्गत ही ढूंढना चाहिए ।

२६. त्रासदी की श्रेष्ठता

एक प्रश्न यह हो सकता है कि महाकाव्य और त्रासदी—अनुकरण के इन दोनो रूपो में से कौन-सा उत्कृष्ट है ? यदि अधिक परिष्कृत कला ही उत्कृष्ट है—और अधिक परिष्कृत प्रत्येक दशा मे वही है जो सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक को आह्लादित करे—तो स्पष्ट है कि हर किसी वस्तु का अनुकरण करने वाली कला अत्यन्त अपरिष्कृत होगी । सामाजिको को इतना मूढ समझ लिया जाता है मानो वे तब तक कुछ समझ ही नही सकते जब तक अभिनेता कुछ अपने चमत्कार न दिखाये, अत वे निरन्तर भाँति-भाँति की चेष्टाएँ करते रहते है । चक्र-क्षेपण का प्रदर्शन करते समय निकृष्ट वशीवादक अपने समूचे शरीर को दोहरा कर लेते है और तरह-तरह से घुमाते है, 'स्क्युल्ला' का अभिनय करते हुए वे वृन्द-नायक के साथ धक्कम-धक्का करने लगते है । कहा जाता है कि त्रासदी मे यही दोष है । ज्येष्ठ

---

१ पोंट्स ।

अभिनेताओ की अपने परवर्ती अभिनेताओ के विषय मे यही धारणा थी। म्युन्निस्कस कल्लिप्पिदेस को अतिरजित (अस्वाभाविक) अभिनय के कारण 'लंगूर' कहा करता था; पिन्दरस के विषय मे भी यही धारणा थी। अतएव समग्र रूप मे त्रासदी का महाकाव्य के साथ वही सम्बन्ध हुआ जो नये अभिनेताओ का ज्येष्ठ अभिनेताओ के साथ है। इसीलिए यह कहा जाता है कि महाकाव्य का 'अधिकारी' सस्कृत सामाजिक-वर्ग होता है जिसके लिए भगिमाओ का प्रदर्शन आवश्यक नही। त्रासदी निम्न स्तर की जनता के लिए होती है। इस प्रकार अपरिष्कृत होने के कारण, स्पष्टत, दोनो मे उसी का स्थान नीचा है।

अब, पहले तो इस अभिशसा का लक्ष्य काव्य-कला नही, अभिनय-कला है। क्योकि इस प्रकार आगिक चेष्टाओ का अतिचार तो महाकाव्य के पाठ में भी हो सकता है—जैसा कि सीसिस्त्रतस करता था, या प्रगीत-गोष्ठी में भी हो सकता है, जैसा कि ओपस (ओपून्तिऑस्) के म्नासिथेउस के प्रदर्शनो मे होता था। दूसरे, हर प्रकार के आगिक अभिनय की निन्दा नही की जा सकती—जैसे कि सभी प्रकार के नृत्य की गर्हणा उचित नही, केवल निकृष्ट श्रेणी के नटो की चेष्टाएँ ही निन्दनीय हो सकती है। कल्लिप्पिदेस मे यही दोष था और यह आज के अन्य अभिनेताओ मे भी है, कुलटा स्त्रियो का अभिनय करने के कारण उनकी निन्दा होती है। इसके अतिरिक्त त्रासदी भी महाकाव्य के समान—बिना आगिक अभिनय के ही प्रभाव डालती है, पढने मात्र से उसका प्रभाव व्यक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि अन्य सभी दृष्टियो से त्रासदी श्रेष्ठतर है तो हम कहेगे कि यह दोष त्रासदी में अनिवार्य एव सहजात नही है।*

और वास्तव मे उत्कृष्ट तो वह है ही, उसमे महाकाव्य के सब

*यहाँ ग्रन्थकार ने कई प्राचीन अभिनेताओ—कलाकारो का उल्लेख किया है जिनके नाम किसी सन्दर्भ-ग्रन्थ मे उपलब्ध नही।

तत्त्व विद्यमान है—उसके छन्द तक का प्रयोग त्रासदी में हो सकता है : उधर सगीत और रग-प्रभाव उसके अपने अतिरिक्त महत्वपूर्ण सहायक तत्त्व हैं—जिनसे सर्वाधिक प्रत्यक्ष आनन्द की सृष्टि होती है। पाठ और अभिनय दोनो मे ही उसका प्रभाव बडा विशद होता है, इसके अतिरिक्त अपेक्षाकृत सीमित परिधि मे ही कला यहाँ अपनी सिद्धि कर लेती है। विस्तृत काल-पट पर बिखरे हुए तरल प्रभाव की अपेक्षा सुसहित सघन प्रभाव अधिक आह्लादकारी होता है। उदाहरण के लिए, सौफोक्लेस के ओइदेपूस को यदि ईलिअद के बराबर विस्तार दे दिया जाये तो उसका क्या प्रभाव रह जायेगा ? एक बात और—महाकाव्य मे उतनी अन्विति भी नही होती, इसका प्रमाण यह है कि किसी भी एक महाकाव्य से अनेक त्रासदियो की सामग्री उपलब्ध हो सकती है। कवि द्वारा गृहीत कथावस्तु मे यदि दृढ अन्विति है तो उसे सक्षेप मे कहना पड़ेगा और वह कुछ कटी-कटी अधूरी-सी लगेगी, यदि उसे महाकाव्य के शास्त्र-सम्मत विस्तार के अनुकूल रखना है तो वह निश्चय ही क्षीण-तरल-सी, बिखरी-बिखरी-सी प्रतीत होगी। इस प्रकार के विस्तार मे अन्विति की कुछ-न-कुछ हानि अवश्यम्भावी है, मेरा अभिप्राय है, यदि काव्य का निर्माण कई कार्यों के आधार पर हुआ है—जैसे ईलिअद और ओद्युस्सेइआ मे, जिनके ऐसे कई भाग है और प्रत्येक भाग का अपना एक निश्चित विस्तार। फिर भी इन काव्यो का सगठन यथासम्भव अधिक-से-अधिक निर्दोष है। इनमे से प्रत्येक कृति एक ही कार्य-व्यापार की यथासम्भव अधिक से अधिक सफल अनुकृति है।

अत यदि त्रासदी इन सभी दृष्टियो से महाकाव्य से उत्कृष्ट है और साथ ही कला के रूप में अपने विशेष कर्तव्य की अधिक सफलता के साथ पूर्ति करती है—क्योकि जैसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक कला को किसी सायोगिक नही, अपितु एक विशिष्ट आनन्द की सृष्टि करनी चाहिए—तो यह स्पष्ट है कि त्रासदी उत्कृष्टतर कला है क्योकि वह अपना लक्ष्य अधिक पूर्णता के साथ सिद्ध करती है।

त्रासदी एवं महाकाव्य के सामान्य रूप, उनके विभिन्न प्रकारो और अंगो, प्रत्येक की सख्या तथा पारस्परिक भेद, उत्कृष्ट या निकृष्ट कविता के आधारभूत कारणो, आलोचको के आक्षेपो और उनके निराकरण के विषय मे इतना पर्याप्त होगा।

पारिभाषिक शब्दावली

Action	कार्य, कार्य-व्यापार
Art of delivery	व्याहार-कला
Art of rhetoric	भाषण-कला
Catharsis (Purgation)	विरेचन
Character	चरित्र, चारित्र्य, पात्र
Chorus	वृन्दगायक, वृन्दगान
Choric Song	वृन्द-गीत
Comedy	कामदी, प्रहसन
Commoi (Kommos)	समविलाप
Complication	संवृति
Connecting Word	संयोजक शब्द
Consistency	एकरूपता
Contracted Word	संकुचित शब्द
Denouement	निर्गति
Deus Ex Machina	यान्त्रिक अवतारणा
Dialectical Refutation	तर्कात्मक खण्डन
Diction	पदावली, पद-रचना, भाषा
Dignity	गरिमा
Dithyrambic Poetry	रौद्र-स्तोत्र
Dramatic Unity	नाट्य-अन्विति
Dramatis Personae	नाटकीय पात्र
Elegy	शोक-गीति
Emotion	भाव
Epic Poetry	महाकाव्य
Episode	उपाख्यान
Exode	उपसंहार
Fallacy	हेत्वाभास

Fear . त्रास
Genus जाति
Gesticulation .. चेष्टा, भगिमा
Grotesque .. भोडा, विषम
Harmony सामजस्य
Hexameter . षट्पदी
Hitsorical Truth . ऐतिहासिक सत्य
Histrionic Art अभिनय-कला
Imitation अनुकरण, अनुकृति
Imitative Arts . अनुकरणात्मक कलाऍं
Improbable Possibilities .. असम्भाव्य सम्भावनाऍं
Inflexion .. विभक्ति, विकार
Instinct . सहज वृत्ति
Interlude .. विष्कम्भक
Interpolation .. क्षेपक, प्रक्षिप्त अश
Irrational .. असगत, असम्भाव्य
Jargon .. शब्दजाल
Lampooning Measure . अवगीति-वृत्त
Lengthened Word व्याकुचित शब्द
Letter . वर्ण
Ludicrous .. अभिहस्य
Lyrical Song प्रगीत
Mask छद्ममुख
Melody . स्वर-माधुर्य
Metaphor उपचार, लक्षणा
Metre . छन्द
Mime . विडम्बन
Mute . स्पर्श वर्ण
Narration .. समाख्यान
Nomic Poetry . राग-प्रधान काव्य
Non-Significant Sound .. निरर्थक ध्वनि

Objects of Imitation	अनुकरण के विषय
Parode	पूर्वगान
Parody	विद्रूप काव्य
Peripeteia	विपर्यास, स्थिति-विपर्यय
Perspicuity	प्रसाद गुण, प्रसादत्व
Poetic Excellence	काव्य-उत्कर्ष
Poetic Justice	काव्य-न्याय
Phrase	पदोच्चय
Pity	करुणा
Plot	कथानक
Presentation	उपस्थापन
Plot, Complex	जटिल कथानक
Plot, episodic	उपाख्यानात्मक कथानक
Plot, Simple	सरल कथानक
Probable	सम्भाव्य
Probable Impossibilities	सम्भाव्य असम्भावनाएँ
Prologue	प्रस्तावना
Propriety	औचित्य
Purgation (Catharsis)	विरेचन
Purificatory Rites	अघमर्षण संस्कार
Quantitative Parts	संगठन-भाग
Recitation	निपाठ
Recognition	अभिज्ञान
Representation	प्रतिनिधान, अभिव्यंजन
Reversal of situation	स्थिति-विपर्यय
Rhythm	लय
Riddle	पहेली
Rule of Probable or Necessary Sequence.	सम्भाव्य या आवश्यक पूर्वापरता का नियम
Satiric Form	व्यंग्य-रूप
Scenery	दृश्य, दृश्य-विधान
Sculpture	मूर्ति कला

Semi-Vowel	अन्त स्थ
Species	प्रजाति (उपभेद)
Spectacular Effects	रग-प्रभाव
Spectacular Presentation	दृश्यात्मक उपस्थापन
Stasimon	उत्तरगान
Structure	सगठन
Syllable	मात्रा
Thought	विचार, विचार-तत्त्व
Tragedy	त्रासदी
Tragic Action	कारुणिक (त्रासद) व्यापार
Type	प्ररूप, प्रकार
Unity	अन्विति, एकत्व
Universal ..	सामान्य, सार्वभौम
Unravelling	विवृति
Wonderful	अद्भुत

———

परिशिष्ट २

काव्य-शास्त्र में उल्लिखित नाम (यूनानी उच्चारण)

Achilles	अखिल्लेस (ऐचिलीस)
Aegeus	ऐगेउस
Aegisthus	ऐगिस्थस
Aeschylus	ऐस्ख्युलस (ऐस्किलस)
Agathon	अगथौन
Ajax	आइअक्स
Alcibiades	अल्किबिआदेस
Alcmaeon	अल्कमैऔन
Amphiaraus	अम्फिअरउस
Antigone	अन्तिगोने
Archon	अरखौन
Ares	आरेस
Argos	अरगोस
Ariphrades	अरिफ्रदेस
Aristophanes	अरिस्तोफनेस
Astydamas	अस्त्युदमस
Aulis	अउलिस
Callippides	कल्लिप्पिदेस
Carcinus	करकीनस
Chaeremon	खैरेमौन
Chionides	खिओनिदेस
Choephori	खोएफोराइ
Cleophon	क्लेओफौन
Clytemnestra	क्लुतैम्नेस्त्रा
	क्रतेस

Creon	क्रेओन
Cresphontes	क्रेस्फोन्तेस
Danaus	दनउस
Deliad	देलिअद
Dionysius	दियोन्युसिअस
Empedocles	ऐम्पैदोक्लेस
Eriphyle	एरिफ्युले
Epicharmus	एपीखारमस
Eucleides	एउक्लेइदेस
Euripides	एउरिपिदेस (यूरिपाइडिस)
Ganymedes	गन्युमेदेस
Glaucon	ग्लाउकौन
Haemon	हैमौन
Hector	हेक्तौर
Hegemon	हेगेमौन
Helle	हैले
Heracleid	हेराक्लेइद
Heracles	हेराक्लेस
Herodotus	हेरोदोतस
Hippias	हिप्पिआस
Homerus	होमेरस (होमर)
Iliad	ईलिअद
Iphigenia	ईफिगेनिया (इफिजीनिया)
Ithaca	इथाका
Ixion	इक्सीऔन
Laius	लाइअस
Lynceus	ल्युन्केउस
Magnes	मग्नेस
Margites	मरगीतेस
Medea	मेदेआ

Melanippe	मेलनिप्पे
Meleager	मेलेअगेर
Menelaus	मेनेलओस
Merope	मेरोपे
Mitys	मित्युस
Mnasitheus	म्नासियेउस
Mynniscus	म्युन्निस्कस
Neoptolemus	नेओप्तोलेमस
Nichochares	नीकोखारेस
Niobe	नीओबे
Odyssey	ओद्युस्सेइआ (ओडिसी)
Odysseus	ओद्युस्सेउस (ओडिसियस)
Oedipus	ओइदिपूस (ईडिपस)
Orestes	ओरेस्तेस
Parnassus	परनसस (पारनेसस)
Pauson	पाउसौन
Peleus	पेलेउस
Philoctetes	फिलोक्तेतेस
Philoxenus	फिलोक्सेनस
Phineidae	फिनेइदाइ
Phorcides	फोरकिदेस
Phthiotides	पिथओतिदेस
Polygnotus	पोल्युग्नोतस
Polyidus	पोल्युइदुस
Prometheus	प्रोमेथेउस
Protagoras	प्रोतगोरेस
Sisyphus	सिस्युफस
Sophocles	सोफोक्लेस
Sophron	सौफ्रोन
Sosistratus	सौसिस्त्रतस
Sthenelus	स्थनेलेस

Tegea	तेगेआ
Telegonus	तैलेगोनस
Telephus	तेलेफस
Theodectes	थेओदेक्तेस
Theseid	थेसेइद
Thyestes	थ्युएस्तेस
Timotheus	तिमोथेउस
Troy	त्रौइआ (ट्राय)
Tydeus	त्युदेउस
Tyro	त्युरो
Xenarchus	क्सेनारखस
Xenophanes	क्सेनोफनेस
Zeus	ज़ेउस
Zeuxis	ज़ेउक्सिस